आध्यात्मिक जीवन पद्यावली

(व्याख्या सहित)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग

स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज

द्वारा प्रणीत

(भाग-1)



अम्बाला व अन्य स्थानों के धर्मप्रेमी समुदाय द्वारा प्रकाशित



आध्यात्मिक जीवन पद्यावली

(व्याख्या सहित)

(भाग-1)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग
स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज
द्वारा प्रणीत

चतुर्थ संस्करण



अम्बाला एवं अन्य स्थानों के
'धर्मप्रेमी समुदाय' द्वारा प्रकाशित

मूल्य श्रद्धा-भावपूर्वक अध्ययन एवं मनन

(निःशुल्क वितरणार्थ)

प्रवर्धित तथा संशोधित चतुर्थ संस्करण : २००३ 2300 प्रतियां

प्राप्ति स्थान :

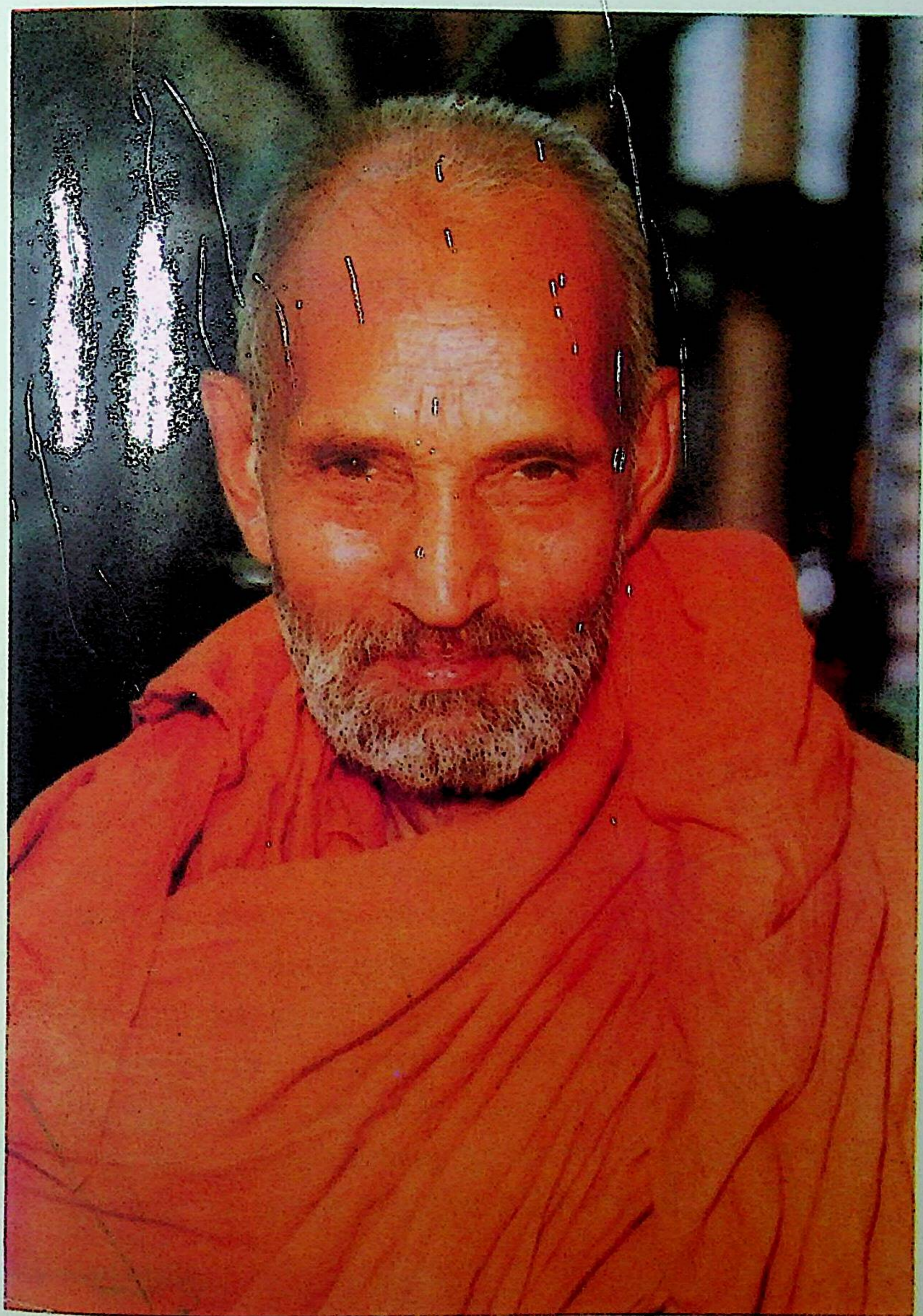
१. ज्ञान चन्द गर्ग,
६६, प्रीत नगर,
अम्बाला शहर–१३४ ००३ (हरियाणा)
दूरभाष : ०१७१–२५५२७६१

२. श्री अनन्त प्रेम मन्दिर,
नदी मुहल्ला
अम्बाला शहर–१३४ ००३ (हरियाणा)
दूरभाष : ०१७१–२५१०५४५

३. सन्त निवास,
उजड़ गाँव विरक्त कुटी,
रामा विहार के सामने,
कराला गाँव, दिल्ली–११००८१

मुद्रणालय :
लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली–६

विषय-सूची



परमहंस वीतराग स्वामी श्री दयानन्द गिरि जी महाराज



निवेदन

परम श्रद्धेय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमहंस वीतराग परम पूज्य स्वामी श्री दयानन्द 'गिरि' जी महाराज जो स्वयं ज्ञान की मूर्ति हैं, की अपार कृपा से ऐसा धार्मिक ग्रन्थ जिसका नाम **'आध्यात्मिक जीवन पद्यावली' भाग–१** (व्याख्या सहित) है, का चतुर्थ प्रवर्धित तथा संशोधित संस्करण धर्म प्रेमी समुदाय द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में जो भी छन्द चर्चा में आये हैं वह परम पूज्य श्री महाराज जी के स्वयं के लिखे हुए हैं। यह अपनी तरह का एक ऐसा धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें कि पूज्य स्वामी जी स्वयं कृपा करके अपने श्री कर कमलों द्वारा स्वयं लिख कर धर्म प्रेमी समुदाय का मार्ग दर्शन कर रहे हैं। यह ग्रन्थ अमृत का अथाह सागर है, इसका जिज्ञासु जन जितना अध्ययन एवं मनन करेगा वह उतना अधिक लाभ उठा कर अपने जीवन का उद्धार कर सकेगा।

वेदों और शास्त्रों का सार पूज्य स्वामी जी ने सरल रूप से खोलकर इस ग्रन्थ में प्रकट कर दिया है। धर्म पर चलने का जो भी मार्ग इस ग्रन्थ में बतलाया या दर्शाया गया है वह सब पूज्य स्वामी जी ने पहले पहल अकेले में स्वयं चल कर देखा है, उसके पश्चात् ही धर्म प्रेमियों को उस मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है। जब भी संसार में भगवान् समय–समय पर प्रकट हुए, उनके जीवन को पूज्य स्वामी जी ने ध्यान में समझ कर, स्वयं उस पर चल कर वही भगवान् में बसने वाली शान्ति और सुख को पाया और उसी के लिए बाह्य चर्या की शुद्धि और ध्यान में सब बन्धन पहचान कर त्यागते हुए परमात्मा के ज्ञान की प्राप्ति हम जैसे सांसारिक प्राणियों के कल्याण के लिए बतलाई। जो भी श्रद्धालु

जन इस पद्यावली को ध्यान व लग्न से पढ़ेगा तो इसको पढ़ने पर इसके छन्दों में ऐसे महापुरुष की झलक पड़ेगी कि जो कुछ इन पद्यों की पंक्तियों में लिखा है, वही उनका अपना जीवन भी है। इन पद्यों को पढ़ कर ऐसा अनुभव होगा मानों महापुरुष स्वयं हमारे अंग संग खड़े होकर आध्यात्मिक कठिनाईयों को हल करने के लिए हमारा मार्ग दर्शन कर रहे हैं। इससे सभी धर्म प्रेमियों को धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलेगी।

चतुर्थ संस्करण के छपने से पहले जिन–जिन सज्जनों ने धर्म ग्रन्थ के तृतीय संस्करण में जो भी त्रुटियां थी उनके बारे में सूचना दी, उन त्रुटियों को सामान्य रूप से संशोधन करने का प्रयास किया गया तथा पूज्य स्वामी जी के आशीर्वाद से लगभग संशोधन कर ही दिया गया है। इस विषय में हम स्वामी स्वरूपानन्द जी, स्वामी सत्यस्वरूपानन्द जी, श्री अश्वनी कुमार जी तथा श्री के० एल० पुरी जी पत्रकार, हिन्दुस्तान टाईम्स तथा अन्य उन सब धार्मिक जनों के बहुत आभारी हैं जिन्होंने ऐसा सेवा का कार्य किया है।

हम उन सभी सेवापरायण भक्तों के भी जिनके नाम इस ग्रन्थ के पीछे दिये गये हैं, बहुत आभारी हैं जिन्होंने चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन में आर्थिक योगदान बड़ी उदारता से देकर अपने धन का सदुपयोग किया है।

पुनः हम सब परम पूजनीय श्री सद्‌गुरु देव "परमहंस स्वामी दयानन्द गिरि जी" महाराज को नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं जिन्होंने धर्म प्रेमी समुदाय पर बड़ी कृपा व दया करके इस धर्म ग्रन्थ 'आध्यात्मिक जीवन पद्यावली' (व्याख्या सहित) को दो भागों में तथा मोटे अक्षरों में प्रकाशन करने की अनुमति प्रदान की और तृतीय संस्करण में जहाँ–कहीं भी अशुद्धियां व त्रुटियां थी उनको ठीक करवाने में अपना बहुमूल्य समय देने की कृपा की। हमारे पास सद्‌गुरु की कृपा व दया

का आभार प्रकट करने के लिए कोई शब्द नहीं है केवल हम श्री महाराज जी के श्री चरणों में पुनः दण्डवत प्रणाम ही कर सकते हैं। हम विनम्र प्रार्थना करते हैं कि पूज्य स्वामी जी हमारे ऊपर इसी प्रकार अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखें जिसके फलस्वरूप हम स्वामी जी द्वारा रचित निम्नलिखित धर्मग्रन्थों का प्रकाशन निरन्तर करते रहें :–

१. आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग–१
२. आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग–२
३. आध्यात्मिक जीवन पद्यावली (व्याख्या सहित) भाग–१
४. आध्यात्मिक जीवन पद्यावली (व्याख्या सहित) भाग–२
५. आध्यात्मिक जीवन पद्यावली की कतिपय आवश्यक संज्ञाओं का विशद विवरण
६. Verses of the Divine Spiritual Life.

प्रभु प्रेमियों ! हमारा आपसे अनुरोध है कि आप **आध्यात्मिक जीवन पद्यावली** भाग–१ व भाग–२ को प्रभु में विश्वास रख कर ध्यानपूर्वक पढ़ें और इसे समझने की कोशिश करें तो स्वतः ही आपके भीतर आत्म निरीक्षण की प्रवृत्ति जागृत होगी और शीघ्र ही आपके अन्तर में आत्मज्ञान का सूर्य उदय होगा जिसके दिव्य प्रकाश में आप ध्यान करते–करते अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध होकर आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकेंगे तथा परमात्मा की अनुकम्पा व उसके अस्तित्व के प्रति आभार प्रकट कर सकेंगे।

आशा है कि यथार्थ ज्ञान के अभिलाषी और आध्यात्मिक पथ के जिज्ञासु सज्जन इस धार्मिक ग्रन्थ से लाभ प्राप्त करेंगे। इस धर्म ग्रन्थ के धर्म प्रेमी पाठकों के सद्विचार जानने के लिए हम सदैव इच्छुक रहेंगे।

सेवक
ज्ञान चन्द गर्ग
अम्बाला शहर।

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली (व्याख्या सहित)
भाग-1 व भाग-2
के बारे में धर्म प्रेमियों के विचार

स्वामी सच्चिदानन्द हरि और आपके सौजन्य से मुझे परम पूज्य स्वामी दयानन्द गिरि जी द्वारा रचित अनमोल आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय का सुअवसर मिला।

ये पुस्तकें स्वयं प्रकाश साहित्य हैं अपने आप में अपना Comment हैं। सूरज को कोई मिट्टी का दिया जलाकर नहीं देखता, परखता। हाँ, दिये से सूरज की पूजा अवश्य की जाती है। इसी प्रकार मैं भी अपनी भावनायें अवश्य व्यक्त करूँगा।

इन ग्रन्थों में सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित होने के लिये, अनावश्यक वाद-विवादों के जंगल से बचाते हुए, साधक की क्षमतानुसारी थोड़ी-थोड़ी दूरियों वाले अनेक पड़ावों से युक्त, एक विलक्षण, सीधे ध्यानमार्ग का सूक्ष्म, विशद् और स्पष्ट वर्णन किया गया है। ऐसा सटीक मार्ग दर्शन भारतीय आध्यात्मिक साधना पद्धतियों में पारंगत और योगविद्या में निष्णात केवल ऐसे योगी की प्रज्ञा द्वारा ही सम्भव है जो इस मार्ग तथा आसपास के प्रान्तर में चिरकाल तक विहार कर चुका हो।

मुझे इन पुस्तकों से अपनी सामर्थ्य के अनुसार बहुत लाभ हुआ है और मैं जानता हूँ कि आगे भी साधना में एक हितैषी मार्गदर्शक के रूप में काम आती रहेंगी। यह पुस्तकें स्वामी जी का आशीर्वाद, वरदान् और उनका स्वयं का शब्दमय रूप ही हैं।

डा० वी.के. त्रिवेदी
वैज्ञानिक
ए-4/3, एम.एस. फ्लैटस,
पेशवा रोड, नई दिल्ली-110001

आपके द्वारा भेजी गई वीतराग स्वामी श्री दयानन्द गिरि जी महाराज के प्रवचनों की पुस्तकें प्राप्त हुईं। आजकल के ऐसे समय में ऐसे ब्रह्मनिष्ठ वीतराग संत का सांनिध्य प्राप्त होना परम सौभाग्य की बात है। उनके आध्यात्मिक विचारों से जनता–जनार्दन को अवगत कराना ही चाहिये, जिससे सर्वसाधारण लाभान्वित हो सकें।

राधेश्याम खेमका
सम्पादक – 'कल्याण'
गीता प्रेस
सी.के. 59/9, नीची बाग, वाराणसी–1

नोट : स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थों में से कुछ अंश "आध्यात्मिक जीवन" के अंतर्गत "मासिक कल्याण" दिसम्बर 2002 अंक के पृष्ठ 994, 995, 996 पर छपे हैं।

****

इस पुस्तक में काम, क्रोध, लोभ तथा मोह इत्यादि अनेक विषयों पर स्वामी जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से व सरल हिन्दी में व्याख्या की है। अतः यह पुस्तक धर्म मार्ग के जिज्ञासुओं के लिए बहुत ही उपयोगी है। धर्म प्रेमियों पर परम पिता परमात्मा की असीम कृपा सदैव बनी रहे। तुलसी दास महाराज रामायण में लिखें हैं कि :

सबसे सेवक धर्म कठोरा

सेवा का कार्य सबसे महान् है। सेवा करते हुए शबरी जैसी स्त्री साक्षात् राम को प्राप्त की। अतः मेरी यही कामना है कि आप सभी धर्म प्रेमी अपने साधन पथ पर सर्वदा उन्नति करें।

मुमुक्षु
निरंजन चैतन्य
अखण्ड अतिथि आश्रम, हरिद्वार

वाकई स्वामी महाराज जी ने ऐसे ग्रन्थ पुष्प निर्माण कर पाठकों के लिए महान् उपकार किया है। संसार में विद्वान् रत्न अनेकों बिखरे पड़े हैं, कोई कोई ही चकमता है। अपनी विद्वत्ता जनसामान्य की सेवा में समर्पित करना कोई विरला सन्त ही कर सकता है। स्वामी जी के श्री चरणों में साष्टांग प्रणाम करते हुए मैं भी इन ग्रन्थसार से पवित्र होना चाहता हूँ।

स्वामी जगदीश्वरानन्द पुरी,
25, ओम् राम धाम,
चन्द्रभागा, स्वीस् कॉटेज के पास, ऋषिकेश

****

प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज द्वारा लिखित "आध्यात्मिक जीवन पद्यावली" तथा उनके आध्यात्मिक प्रवचनों का संग्रह अध्यात्मपथ पथिकों के लिये रुचिकर पाथेय है। विशेषकर उन नवीन साधकों के लिये, जो आध्यात्मिक जीवन तो जीना चाहते हैं; पर उन्हें न तो मार्ग मिल पा रहा है और न कोई प्रकाश। उक्त ग्रन्थ दोनों प्रदान करता है।

अन्तर्जगत् बड़ा ही सूक्ष्म है, अबूझ है, उसके कार्य, विस्तार और स्वरूप को समझे बिना मोक्ष असम्भव है। बाह्य जगत् का बन्धन कोई बन्धन नहीं है, अन्तर्जगत् का बन्धन ही बन्धन है और उससे छूट जाना ही मुक्ति है। इस विषय में स्वामी जी के ग्रन्थों से साधकजन भरपूर और छककर लाभ उठा सकते हैं तथा आध्यात्मिक जीवन के पथ को प्रशस्त बना सकते हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येक साधक को अपने पास रखना चाहिये तथा प्रतिदिन मनोयोग

से समझ कर पढ़ना चाहिये। चूंकि यह एक महान् सन्त के आध्यात्मिक जीवन का अनुभव है, सार है।

यह परम प्रसन्नता की बात है कि उक्त ग्रन्थों का चतुर्थ संस्करण छपने जा रहा है। ये पुस्तकें जन–जन तक पहुँचे ऐसी हमारी कामना है। अन्त में आध्यात्म जगत् को उपकृत करने वाले परमवन्द्य स्वामी जी की वन्दना करते हैं।

सन्तचरण चञ्चरीक
स्वामी रघुनाथानन्द अवधूत
कैवल्य योग आश्रम,
ग्राम : डोमरी पो० कुष्ट सेवा आश्रम पड़ाव,
वाराणसी–221102 (उ० प्र०)

****

आज ऐसे युगपुरुष एवं उनके बोध का ग्रन्थ मिलना मुश्किल है, मिले तो समझना और जीवन में उतारना मुश्किल है, यदि हिम्मत रखकर जीवन में ढाला तो बेड़ा पार है।

आध्यत्मिक प्रवचन एवं आध्यात्मिक जीवन पद्यावली अभी भाग–1 को पढ़कर आध्यात्मिक साधना में एक प्रैक्टिकल प्रभाव, उसमें रुचि एवं कुछ उन्नति के साथ–साथ पूज्य स्वामी श्री के प्रति श्रद्धा–प्रेम की भी वृद्धि होती रही है। आचरण एवं अनुभूति में से प्रकट हुआ बोध ही मानव–जीवन में आमूल परिवर्तन लाता है।

सब के अन्तर की गहराई तक यह सच्चाई का ज्ञान इसीलिये विशेष असर कर जाता है कि पूज्य स्वामी जी महाराज ने अपनी प्राचीन ऋषि–मुनियों की संस्कृति को–धर्म को पूरी तरह

अपने जीवन में ढाला है और योग, भक्ति, ज्ञान सभी में पूर्णता तक पहुँचे हुये हैं। सुना है कि पूज्य स्वामी जी ने 80 वर्ष की आयु तक पूरे हिन्दुस्तान का बिना किसी वाहन के पैदल भ्रमण किया है। सदा से एक समय सात्त्विक भिक्षा करते हैं। कभी भी स्त्री, पैसा, धातु का स्पर्श नहीं किया, सदा एकान्त प्रिय, निद्राजीत, यति श्रेष्ठ, परमहंस, ब्रह्मनिष्ठ योगीराज विरक्ति में पूर्ण होने के साथ विद्वत्ता में भी उनकी तुलना नहीं हो सकती। संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं के पूर्ण ज्ञाता होते हुये उन्होंने सबके कल्याण हेतु ग्रन्थ को बहुत ही सरल और सुस्पष्ट बनाया है।

बाहर उत्तम बर्ताव–पवित्र जीवन, अन्दर ध्यान और भक्ति तथा ध्यान द्वारा सही ज्ञान को उत्पन्न करने की मुक्ति की युक्ति बहुत सुन्दरता से निरूपण की गई है। सदा स्मृति रखकर कार्य करने का उनका अद्‌भुत सूत्र "एक काम एक ध्यान" यह सारे जीवन को ध्यानमय बनाकर सफलता प्रदान करता है।

कोई मत–पंथ–सम्प्रदाय के खण्डन–मण्डन में न पड़कर साक्षी–भाव से अन्तर का अवलोकन तथा आत्मौन्नति में आने वाले प्रतिबन्ध एवं साधन को बड़े ही स्पष्टता से वर्णन करके सभी के लिये खुला मार्ग कर दिखाया है यही अहेतुक कृपासिंधु की अपार करूणा है।

इन में वेद एवं दर्शन शास्त्रों का सार है। इन पद्यों को मात्र मुखपाठ ही नहीं किन्तु प्रैक्टिकल जीवन में उतारने के लिये जो भी इस ग्रन्थ का रुचि से ध्यानपूर्वक समझते हुए अध्ययन–मनन करेगा उसके जीवन में अवश्य ही आध्यात्मिक क्रान्ति आएगी और वह परम शान्ति एवं परम आनन्द की पाप्ति कर कृत्–कृत्य हो जायेगा।

–'साधु'

आपने स्वामी दयानन्द गिरिजी महाराज का अध्यात्मपरक साहित्य हमारे पुस्तकालय हेतु प्रेषित किया है। अध्यात्मजगत् की गहराईयों में सरलता से प्रवेश पाने हेतु उक्त साहित्य जिज्ञासु साधकों को निश्चित रूप से दिशा प्रदान करने वाला है ऐसी हमारी धारणा बनी है क्योंकि स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज जी ने अपनी आध्यात्मपरक अनुभूतियों को अपने प्रवचनों के माध्यम द्वारा ऐसे सरल एवं सुबोध बनाया है कि कोई भी सामान्य व्यक्ति इन्हें हृदयंगम कर सकता है।

धर्मप्रेमियों का उक्त प्रयास आधुनिक जीवन की अन्धी दौड़ में शामिल लोगों को निश्चत रूप से विराम लेने पर बाध्य करेगा तथा उन्हें अध्यात्मपथ पर आगे बढ़ने में दिशा प्रदान करेगा।

Dr. B.R. Sharma
Asstt. Director of Research
Philosophy-Literary Research Department
Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti
Lonavla - 410403 (Pune)

****

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग अनन्त श्री स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज के आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग–1 व भाग–2 तथा आध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग–1 व भाग–2 ये चार अनमोल ग्रंथ आपके द्वारा दिनांक 17.7.2001 को मुझे प्राप्त हुए। इन ग्रन्थों को पढ़ने से दस बन्धनों का तथा दस बलों का अत्यंत सरलता से मुझे ज्ञान हुआ। इन दस बन्धनों से मुक्ति मिलने पर ही जीवन का कल्याण तथा आत्म कल्याण संभव है, अन्यथा नहीं, यह बार बार जोर देकर उदाहरणों के द्वारा दर्शाया गया है। ये बन्धन तथा दुर्विकार और दुर्भावनाएँ दुर्गति के कारण होते हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिये दस बलों की उपासना करना आवश्यक करार दिया है। आत्मा, परमात्मा, मुक्ति, संसार की अनित्यता

निर्वाण आदि के बारे में इन ग्रन्थों में विस्तार से विवेचन किया गया है। कर्मयोग, ज्ञान योग तथा भक्ति योग की सहायता से प्रकृति के बल को क्षीण व नष्ट करके चिर आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। यह उपदेश इन ग्रन्थों से मिलता है। बहिर्मुखता को त्याग कर अंतर्मुखता की ओर मुड़ना, ध्यानावस्था में आनन्द विभोर होना इस जीवन–लक्ष्य पर सर्वाधिक बल दिया गया है। व्यवहारिक उदाहरणों से सरल ढंग से मौलिक आध्यात्मिक बातें तथा तत्त्व समझाए गए हैं। ये ग्रन्थ मेरे जैसे सामान्य श्रद्धालु के लिए अमृतमय हैं यह मेरी विनीत भावना है। प्रभु कृपा तथा स्वामी जी के शुभाशिष के लिये मैं हार्दिक प्रार्थना करता हूँ।

एस.एम. पाटिल
यशवन्त शिवसदन, प्रसाद कालोनी
उस्मानाबाद–413501 (महाराष्ट्र)

****

Parvachans and Verses from Adhiatmik Jeevan Padyawali with VyakhyaVol. I & II from His Holiness Swami Dayanand Giri Ji Maharaj are a great source of Spiritual Upliftment. The simple language of everyday use percolates deep down the memory lane. They have a direct bearing on our minds. May the Blessings of Swamiji Maharaj always shower on all the followers of His Holiness.

Sir, all of us have unanimously resolved to praise the yeoman service that you have undertaken in association with your colleagues. May the Lord Bless you all for this Nishkam Seva."

Thanking you once again, we are, in the name of the Lord.

R.C. Malhotra
A-1/12, Krishan Nagar, Delhi

****

I have gone through the book and find it very illuminating. Undoubtedly the book is a valuable addition to the spiritual literature, which contains many small-small gems for inspiring to live spiritual way of life. Indeed it is highly recommended to all readers for its insightful universal presentation and its sublime subject matter. The author presents a philosophy in a very lucid manner to successful living. This will certainly inspire the readers to strive for the best and find fullfilment through selfless service of fellowmen. Very facinating book. I congratulate you for propagating this noble cause. May God Bless you

Shri M. Prangwani
73/9, Ulhasnagar-421001 (M.S.)

****

After all such books are just like divine light house in the dark and difficult pathway of spiritual voyage. The treasurous books are always in demand by true devotee at certain stage of his/her spiritual practice. Such books are never to be seen as mere bundle of pages, but they are actually the extract of spiritual experiences expressed into words with caution and devotion.

R.B. Prajapati
(for Swamiji Sh. Madhavtirthji)
Madhavtirth Cheritable Trust
Lambhavel Road, Anand - 388001 (Gujarat)

****



भूमिका

इस ग्रन्थ के आदि में इन भूमिका के शब्दों के लिखने का तात्पर्य केवल यही है कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किये (बतलाये) गये विषय का संक्षेप में परिचय दिया जाये कि यह ग्रन्थ किस वस्तु को बतला रहा है ? तथा उस बतलाये गये विषय का प्रयोजन भी जीव या मनुष्य के लिये क्या है ? वैसे ही इस ग्रन्थ में बतलाये गये उत्तम फल का अधिकारी भी कौन हो सकेगा ?

यह आध्यात्मिक जीवन पद्यावली ग्रन्थ, जैसे कि इस नाम से ही सूचित होता है, केवल आध्यात्मिक जीवन रूप अपने विषय को ही बतलाता है, अर्थात् अपने व्याख्यान सहित यह ग्रन्थ केवल अपनी आत्मा में ही पायी जाने वाली स्थायी (सदा बनी रहने बाली) शान्ति तथा सुख को बतलाने वाला है । जैसे कि अन्य संसार के सुख किसी न किसी बाहर के धन, जन, शक्ति या बल तथा परिवार आदि के कारणों से प्राप्त होते हैं, वैसे यह सुख या शान्ति जो कि अपनी आत्मा में ही सदैव काल के लिये प्राप्त होगी, वह पुत्र आदि परिवार से नहीं मिलती। जो बाहर के साधनों से सुख तथा शान्ति मिलती है वह सदा एक जैसी बनी भी नहीं रहती; अन्त में उन बाहर के सुखों को जुटाने या इकट्ठा करने वाला जन उल्टा उन्हीं से ही कई एक प्रकार से अधिक दुःखी ही होता

卐卐

है : उन्हीं की चिन्ता, सम्भाल आदि में लगा हुआ तथा उन्हीं के सदा चिन्तन में पड़ा रहने वाला जन एक दिन इतना बहिर्मुख हो जाता है कि उसके मन में सदा वही बाह्य पदार्थ ही घूमते या चक्कर लगाते रहते हैं । उन्हीं के कारण कई एक शंकायें मनुष्य को परेशान करती रहती हैं। उन्हीं के बारे में सोचें या कर्तव्य सम्बन्धी विचारों की धारा केवल निद्रा में ही भले रुकी सी प्रतीत हो परन्तु जागते-जागते उन्हीं की सम्भाल या वृद्धि के बारे में मन सदा सोचने में लगा रहता है। इसका परिणाम (नतीजा) भले कोई समझे या न समझे, अन्त में इन्हीं के विचारों तथा मिथ्या शंकाओं और इच्छाओं, वैसे ही इन्हीं के लिये दूसरों के प्रति वैर, विरोध, क्रोध आदि के विकारों के कारण श्वास (सांस) को चलाता हुआ प्राणी समय आने पर अनजाने में ही अपनी प्राण शक्ति को भी इतना बाहर भटका बैठता है कि वह इसी प्राणी के खाये हुए अन्न को भी सही प्रकार से पाचित (हज़म) नहीं कर सकता। वैसे ही हृदय या फुसफुस (फेफड़ों) की स्वास्थ्य के अनुकूल क्रिया में भी वही भटकती हुई प्राण शक्ति अड़चन ही बनती है। मस्तक की स्वस्थता भी शनैः-शनैः बिगड़ने लगती है इत्यादि-इत्यादि, सब कष्ट बाहर संसार में अनुचित प्रकार से कई एक अपने भावों तथा दोषों से बन्धा मन ही उत्पन्न करता है। आशा केवल बालपन से सुख की है, परन्तु सुख तो किसी समय में अपनी अल्प सीमा तक ही था; परन्तु अन्त केवल शारीरिक और उसके साथ मानस रोगों में है। यही सब बाह्य जीवन है जो बालक ने जन्म से दूसरों के संग से सीखा था। इसी के ही मार्ग पर चलने से जीवन

इसी के ही पदार्थों तथा सम्बन्धों में सदा खोये रहने में व्यतीत होता जाता है तथा अन्त में रोग, शोक तथा मन की अशान्ति आदि में समाप्त होता है। यह आध्यात्मिक जीवन से विपरीत बाह्य या भौतिक जीवन है जो कि जन्म से ही प्रत्येक प्राणी को मिलता है। ठीक है ! कि आयु के कुछ भाग तक, जब तक बालक ने संसार के स्वरूप को सही रूप में समझना आरम्भ नहीं किया तब तक तो यह उचित भी है; परन्तु इसमें ही सकल जीवन भर खोये रहना, अपना सही भला न पहचानना तथा उसके अनुकूल यत्न भी नहीं कर सकना, इत्यादि-इत्यादि, मनुष्य की अपनी कमी या मानसिक दुर्बलता या कमज़ोरी ही होगी जिसका कि दण्ड, भले जीव समझे या न समझे, उसे समय आने पर पाना ही पड़ेगा। वह सब दुःख रूप में, अनजाने में ही इस प्राणी पर पड़ेगा। तब सब बाहर के सुखों की सामग्री (धन आदि) भी इसे किसी काम में आने वाली नहीं दीखेगी। दूसरों के लिये भले वह आकर्षक या कुछ समय के लिये सुख देने वाली भी दीखे परन्तु उन सब साधनों को सकल आयु भर इकट्ठा करने वाले या उन्हीं के ही विचारों में या भावों में खोये रहने वाले मनुष्य के लिये तो वे सब साधन अब घृणा के योग्य या बेकार से ही हो जायेंगे। रोगों के कारण खाना तक भी रुचि का न हो सका तो पुनः जिह्वा के रस तो गये। इसी प्रकार अन्य सुख भी समय पाकर इस प्राणी को केवल जीवन बनाये रखने के लोभ से छोड़ने ही पड़ते हैं। यही सब बाह्य या भौतिक जीवन का अन्त है। अब इसी के विपरीत थोड़ा विचार को स्थिर करके अपनी आत्मा या अपने आप में चला जाने वाला

卐卐

जीवन खोजना पड़ेगा। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ ही यही है कि 'जो आत्मा में हो', 'जो अपने आप में चला जाये' नहि कि दूसरों के संग वाला तथा दूसरों के सम्बन्ध से सुख वाला तथा बाहर के धन आदि साधनों वाला। यहाँ यह समझना भी अनुचित नहीं होगा कि बाहर के जितने भी सुख हैं, वे सब बाहर के प्राणियों या पदार्थों के ही संग से होते हैं। जैसे बाहर के पदार्थ सदा एक जैसे सुख देने वाले नहीं रहते, वैसे ही बाहर के सम्बन्ध भी जो सुख के लिये बना रखे हैं, वे सदा एक जैसे नहीं रहते। जब काया की शक्ति क्षीण हो जाती है, वैसे ही दूसरों के स्वार्थ की सही सेवा भी नहीं बन पाती तो दूसरों के वैसे प्रीति आदि के भाव तथा आदर के व्यवहार भी उसे नहीं मिलते। दूसरे के प्रीति के स्थान पर रूखे भाव के व्यवहारों से पहले वाला मन केवल दुःखी ही नहीं, क्रोधी भी होगा। क्रोध में, उनके अनुकूल बर्ताव न हो सकने से, वह भी वैसे ही मन के भड़काव से, विरोधी जैसे दीखेंगे। इस सब से वही बाह्य जीवन शनैः-शनैः, नरक जैसा उस पहले की प्रीति वाले व्यक्ति को दीखने लगता है । परन्तु दूसरा कोई सहारा न दीखने से इसे छोड़ा भी नहीं जा सकता। इन्हीं सब कारणों से मनुष्य की आत्मा अन्दर ही अन्दर दुःख की अग्नि से जलती रहती है। भय, शंका आदि परेशान करते हैं। इच्छायें पूरी नहीं होतीं। प्रीति के स्थान पर विरोध मिलता है। मान अलग से परेशान करता है। यह सब दूसरों की दासता के कारण से ही है। यदि अपनी इच्छाओं को सीमित रख कर अर्थात् देह धारण रूप प्रयोजन की सीमा तक ही रख कर, शेष सब इच्छाओं के

दमन के धर्म को धारण किया जाये तथा इन्हीं इच्छाओं को दमन करने के पक्ष की युक्ति भी बुद्धि समझ ले, कि इन व्यर्थ की इच्छाओं को त्यागे या दमन किये बिना न तो दुःख से छुटकारा या बचाव ही प्राप्त होगा और न ही अन्दर मन या आत्मा में सुख या शान्ति ही प्राप्त होगी; तो मनुष्य स्वयं ही उत्साही होकर अपने जीवन के पिछले भाग में पर्याप्त (काफी) अवकाश प्राप्त करके, अपने समय को एकान्त में सही वस्तु समझने या सत्य ज्ञान पाने के लिये ध्यान आदि में लगा सकेगा। यहीं से आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ है कि प्रथम व्यर्थ के बाह्य संग को त्यागना, भले वह प्राणियों का हो या बाह्य सुख के पदार्थों का; इन्हें त्यागने की युक्ति या दलील अपने मनोमन ध्यान करने से मिलेगी। इसी से सही मार्ग अपनाने का उत्साह बढ़ेगा जिससे कि बाहर के भौतिक जीवन से मुक्ति मिलनी आरम्भ हो जायेगी ।

इसी आध्यात्मिक जीवन की ही उन्नति के मार्ग में वे सब सही धर्म जानने में आयेंगे जो कि महापुरुषों ने अपने धार्मिक ग्रन्थों में बतलाये हैं। मन स्वयं उनकी आवश्यकता का अनुभव करने लगेगा। पुनः जो बाहर दूसरों के साथ बर्ताव करने में मिथ्या प्रेरणायें मन में आकर मिथ्या कर्मों में डालती हैं, वे तथा मन के सब अन्दर के अन्धकार में बहने वाले दोष, विकार या बन्धन भी मनुष्य को ध्यान में दीखने लगेंगे। उनको रोकने या टालने का उत्साह भी स्वयं प्राप्त होगा। क्योंकि जब मनुष्य समझ ले कि कोई भी भोजन या कर्म, भले वह किसी समय पर कैसा भी सुख देने वाला प्रतीत हुआ है; परन्तु अब वह मारने या मारने जैसे कष्ट को देने

卐卐卐

वाला है तो मनुष्य ऐसे मृत्यु के कष्ट से बचने के लिये वह रुचिकर भोजन या कर्म भी त्याग ही देगा। कितने भी स्वादिष्ट या रुचि के भोजन में यदि कोई विष डालता हुआ दीख जाये तो वह भोजन मनुष्य, पशु तक को भी नहीं देना चाहेगा। यही सब त्याग तथा त्याग के दुःख रूप को धारण करने की युक्ति, ध्यान द्वारा बुद्धि बतलाती है। इस प्रकार बुद्धि रख कर, ध्यान द्वारा सत्य को पहचान कर अपने को संयम, त्याग, तप आदि धर्मों द्वारा सही मार्ग पर चलाना ही आध्यात्मिक जीवन का सार है। इसमें किन्हीं दूसरे जीवों को या उनके कर्मों को अधिक दृष्टि में नहीं रखना। उन्हें संसार में जीवन देने वाली प्रकृति की शक्ति से ही चलाये जाते देखे तथा वैसा समझकर उनके प्रति दया आदि का भाव रखना तथा उनके मिथ्या बर्तावों या व्यवहारों से बचते हुए उनका वह सब जीवन का मार्ग सहन करने का भी बल प्राप्त करना आध्यात्मिक जीवन के पथ पर चलने वाले व्यक्ति का एक महान् कर्तव्य है । उनके अपराधों में क्षमा इत्यादि-इत्यादि बहुत से जो धर्म अपेक्षित हैं या अपनी आत्मा में शान्ति तथा सुख खोजने वाले व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं, उन्हीं सब धर्मों को स्पष्ट करके बतलाना इस 'आध्यात्मिक जीवन पद्यावली' ग्रंथ का विषय है। मैत्री आदि दश बल अपने में धारण करना; दृष्टि, संशय, राग-द्वेषादि बन्धन पहचानना; पुनः जब-जब मन इस सब साधन के मार्ग पर कष्ट देख कर उत्साहहीन होने लगे तो अपने में सही ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये बोध या सत्य ज्ञान के सब स्मृति, वीर्य, ध्यान तथा सत्य का शोध (खोज) आदि अंगों को धारण करना।

इस मार्ग से अन्य जहाँ कहीं भी, मन इस मार्ग को छोड़कर जाना चाहेगा, या सुख पाने की विचारेगा, ध्यान में लगा बुद्धिमान् जन खोजता हुआ उसमें अधिक दुःख ही देखेगा और सत्य ज्ञान पाकर स्वयं उत्साही होकर इस मार्ग के दुःख को भी थोड़ा ही मानेगा। इन्हीं सब बोध के अंगों के साथ-साथ वैसे ही जब-जब प्राकृत मन या पहले की आदतों के जीवन के संस्कार अपनी मिथ्या श्रद्धा या विश्वास के साथ मिथ्या संकल्प करवाकर मिथ्या मार्ग पर ले जाना चाहें तो उससे बचने के लिये, सही दृष्टि तथा सही संकल्प आदि सब अंग इसी 'आध्यात्मिक जीवन पद्यावली' ग्रन्थ में बतलाये गये हैं।

जो इन धर्मों को अपना सके तथा अन्तरात्मा के स्थायी सुख तथा शान्ति को पाने का इच्छुक हो, और बाहर उत्तम बर्ताव, अन्दर का ध्यान तथा ध्यान द्वारा सही ज्ञान को उत्पन्न करके अपने को इस संसार के बन्धनों से बचाने की सही आकांक्षा रखे, वही इसका अधिकारी है। दूसरों को देख कर और उन्हीं के व्यवहारों से प्रेरित होकर उन्हीं के समान संसार चक्र में घूमने वाला जन इस आध्यात्मिक जीवन के पथ पर क्लेश को अनुभव करके इससे टलेगा ही। यही सब धर्म जो ऊपर बतलाये गये हैं तथा इन्हीं से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक अन्य भी सब धर्म के अंग इस ग्रन्थ में स्पष्ट प्रतिपादन करने में आये हैं ।

इन सब धर्मों के अनुसार जीवन की साधना होने पर मनुष्य वह शान्ति और सुख पायेगा जो कि उसे अकेले में तथा एकान्त में कभी भी न छोड़े। और तो और ! इस धार्मिक जीवन वाले व्यक्ति को इसी धर्म पथ पर चलते हुए

अन्तरात्मा के बारे में बहुत से ऐसे सत्यों का भी ज्ञान होगा जो कि अभी धार्मिक ग्रन्थों से पढ़ने से या दूसरों से सुने जाने पर बहुत विचार करने योग्य भी नहीं दीखते; साधारण मनुष्य उनको सुनकर या पढ़कर झटपट उनकी उपेक्षा ही कर देता है; या पुनः विपरीत युक्ति या दलील देकर उनका खण्डन करने या उपहास या मज़ाक उड़ाने लग जाता है। जब यही सब सत्य अपने ध्यान में दीखेंगे जैसे कि पूर्व ऋषियों ने देखे, तो सहसा मन आश्चर्य में पड़ जायेगा और उन सब पर विश्वास किये बिना न रह सकेगा; और उनको दृष्टि में रख कर ही अपनी जीवन नौका संसार सागर में चलाने के लिए कमर कसेगा। मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व, तथा किए गये कर्मों के अनुसार उनका फल तथा इन सब के पीछे कार्य करने वाली नियति की शक्ति या छिपा हुआ विधान इत्यादि-इत्यादि बहुत से ऋषियों द्वारा देखे तथा कहे गये सत्यों का ज्ञान होगा।

ऐसा जीवन चलने वाले को क्षण भर भी व्यर्थ आदतों के मार्ग पर खोने का दुःख तथा शोक होगा। यही सब धर्म और अन्य बहुत से सत्य ज्ञान तथा मुक्ति के लिए अपेक्षित विषय ही इस ग्रन्थ का विषय हैं ।

इस ग्रन्थ में जो कुछ भी विषय चर्चा में आया है वह सब कोई नवीन या आधुनिक किसी एक व्यक्ति का मत नहीं है; किन्तु युग के आदि से बुद्धिमान्, विचारशील तथा ध्यान में सत्य को पहचानने वाले ऋषियों का, वेद तथा अन्य मोक्ष या कल्याण के मार्ग को दर्शाने वाले शास्त्रों में प्रकट रूप से प्रतिपादन किया गया, केवल अपनी आत्मा या अपने आप में

ही निर्विरोध रूप से पाए जाने वाले नित्य शान्त सुख का उपाय रूप धर्म ही है। केवल शब्द या बोलचाल की भाषा ही आधुनिक हो सकती है; सत्य धर्म तो प्राचीन ऋषियों का ही है। उनके शब्द पुनरुक्ति (दोबारा बोलना) या ग्रन्थ के अधिक विस्तार के भय से नहीं लिखे गए जो कि अधिक करके संस्कृत भाषा में ही हैं, परन्तु सार या उनका कल्याण के उपयोगी जितना कुछ अंश है; वही सब इस ग्रन्थ का विषय है।

प्राचीन ऋषियों ने जिस प्रकार ध्यान में इस प्राकृत (प्रकृति द्वारा चलाये गए) जीवन की तुच्छता का अनुभव किया, पुनः इसके साथ चलने से केवल अन्त में दुःख तथा शोक और पश्चात्ताप के सिवाय अन्य कुछ भी हाथ लगने का नहीं देखा, इसीलिए उन्होंने इस प्रकृति या विश्व को अपने ही बलों से, केवल अपने ही मार्ग पर चलाने वाली शक्ति को ध्यान में इसकी सूक्ष्मता (बारीकी) तक समझकर जन सामान्य के हित या नित्य सुख के लिए, इससे मुक्ति के मार्ग को खोज निकाला। जब तक प्रकृति का बल प्रबल है, मुक्ति की कोई कथा ही नहीं; इसके साथ जीवन केवल बाह्य या संसार का ही है। इसके बल राग, द्वेष, मान, मोह और काम, क्रोध, लोभ आदि अनगिनत विकार रूप से जीवों को बांधने वाले हैं तथा बाध्य (लाचार) करके जीव को संघर्ष तथा वैर आदि के जीवन में ही मारने वाले हैं । इन सब के साथ शंका, भय और प्राण शक्ति के ह्रास के साथ कई एक रोग और पराधीनता ही है। इन सब के साथ अन्त में मृत्यु जिस दुर्गति में ले जायेगी यह भी धर्म मार्ग पर चलने वाला ही पहचानेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

नहीं तो साधरण मनुष्य को तो अपने धन्धों में प्रकृति इतना बांधे रखती है कि वह तेरी मेरी के चक्रों में उलझा हुआ मरने के पश्चात् की तो बात भी सुनने को तैयार नहीं हो सकता। हां ! परन्तु जो उचित धर्म का मार्ग अपना कर अपने आपको संसार में संभाल-संभाल कर चलायेगा, उसे ही अपना अनुचित मार्ग पर चलाने वाला मन भी समझ में आने लगेगा। उसके साथ-साथ वह दूसरों के मन भी समझ सकेगा। यदि पुनः अधिक सूक्ष्मता में पहुँच कर तथा युक्तियुक्त निद्रा के आवेशों को भी रोक कर सब मिथ्या मार्ग पर चलाने वाले प्रकृति के बलों को अपने ध्यान या एकाग्रता में पहचान कर इनसे मुक्ति (छुट्टी) पा ली गई तो अन्दर का परम सत्य अपना ही आत्मा, ज्ञान तथा आनन्द रूप से अनन्त शान्त अवस्था में भी अनुभव में आयेगा और सकल संसार के सत्य भी अपने मन में दीखेंगे। यही सब ऋषियों का मार्ग है।

प्रथम, जीवन की बाह्य शुद्धि के लिए बाहर संसार में अपने को पापों से बचा-बचा कर चलाना; अपना सही व्यवहार या बर्ताव सदा बनाये रखने का यत्न रखना; यही सब प्रथम चर्या काण्ड या कर्म काण्ड के रूप में ऋषियों ने बतलाया है।

पुनः इसी से शनैः - शनैः मन की समझ पड़ने पर इसके सब राग, द्वेष आदि बन्धन तथा काम, क्रोध आदि विकारों को ध्यान में पहचानना : वैसे ही ध्यान में इनके साथ बन्धे अनर्थों को भी पहचान करके इनसे छुटकारे के लिए मन को प्रेरित करना। यही छुटकारा प्रथम, मुक्ति मार्ग में सफलता को आरम्भ करेगा। प्रकृति के बल तो दूसरे तीसरे

व्यक्तियों को दिखाकर, उन्हीं के ही कर्मों से प्रेरित करते हुए उन्हीं के ही समान सब मिथ्या कर्मों में ही खींचने की प्रेरणा करेंगे। ध्यान और भक्ति-युक्त मनुष्य उनसे होने वाले अनर्थ को समझता हुआ उन सबसे छुट्टी (मुक्ति) पाने के लिए ध्यान में सत्य को पहचानकर भक्ति द्वारा अपने को सम्भाले रखेगा। ऐसे सम्भलते-सम्भलते एक समय वह अन्तरात्मा के शान्त सुख को भी पहचानेगा। उसे आत्मा तथा सर्वव्यापक परमात्मा आदि के सत्य भी समझ में पड़ेंगे । वह अपने आप में सर्वत्र एक ही सत्य, ब्रह्म-रूप खुली आँखों से देखेगा और सदैव काल के लिए अनन्त शान्त में शान्ति और सुख पायेगा।

इन्हीं ऋषियों के धर्म के स्तम्भ या चरणों के अनुरूप यहाँ प्रथम चर्या काण्ड बाह्य शुद्धि के धर्मों को बतलाता है। पुनः दूसरा ध्यान तथा उपासना काण्ड है। यह ध्यान तथा भक्ति द्वारा मनुष्य को मुक्ति के स्वरूप में ले जाने के लिए उन्हीं के मुख्य धर्म को दर्शाता है। अन्त में ज्ञान काण्ड तीसरा है जो कि सत्य दर्शन द्वारा परम मुक्ति में सम्पन्न या समाप्त होता है।

कई एक पंद्य जो एक ही धर्म को स्पष्ट करने के बारे में हैं, उन सब पद्यों का वर्गीकरण भी किया गया है। अर्थात् कोई भी एक वर्ग प्रायः करके एक ही विषय की मिलती जुलती सूचना देने वाले के रूप में यहां पृथक् नाम से सूचित किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ तीन काण्ड, तथा प्रत्येक काण्ड भी कई एक वर्गों का समुदाय रूप से अपने कल्याण के धर्म या मार्ग रूप विषय को ही बतलाने वाला है। जैसा कि धर्म के

卐卐

प्रेमियों ने सुना, उसी प्रकार ही इसके धर्म रूप विषय को संक्षेप से पद्यों में कहा गया तथा उन्हीं पद्यों की व्याख्या भी वही सत्संग के व्याख्यान रूप ही है ।

अन्त में इस भूमिका को उपसंहार या समाप्ति तक पहुँचाते हुए एक अन्य सत्य को भी दृष्टि में लाए बिना नहीं रहा जा सकता जो कि इन सब मोक्ष या कल्याण के साथ सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों का मुख्य विषय है: वह है परलोक सम्बन्धी चर्चा या मृत्यु के पश्चात् जीव से सम्बन्ध रखने वाली वार्ता या वृत्तान्त।

मनुष्य जन्म से ही अपना जीवन परिवार में या किसी एक समाज में ही पाता है। उन्हीं के नियम या मर्यादायें उसे जन्म भर बांधे रखती हैं । वह उनके अतिरिक्त अपनी बुद्धि से तो बहुत ही कम परलोक के बारे में समझ रखता है। यह बात न्यारी है कि वह धार्मिक सत्संग द्वारा या धर्म ग्रन्थों को पढ़कर तथा उनमें श्रद्धा रखकर कुछ परलोक के सम्बन्ध में भी जाने तथा मृत्यु के पश्चात् भी अपने लिए कोई उत्तम गति पाने के लिए विचारे और तदनुसार, कठिनता पड़ने पर भी, चलने का तप भी करे । और अपने सांसारिक मिथ्या सुखों को भी परलोक के भय से विचार द्वारा ही ग्रहण करने का धर्म रखे । अस्तु ! परन्तु यहाँ केवल इतना ही सूचित करना है कि यद्यपि मनुष्य बाह्य या अपनी सांसारिक बुद्धि द्वारा परलोक या मृत्यु के पश्चात् की बातों या सत्यों को भले ही न समझ सके परन्तु ध्यान की सूक्ष्मता (बारीकी) तक पहुँचे हुए ऋषियों के ज्ञान के अनुसार किसी भी जीव का अत्यन्त नाश कभी भी नहीं है । वैसे तो संसार की किसी

भी वस्तु का अत्यन्त नाश 'कभी भी न रहना' रूप अत्यन्त अभाव आजकल का कोई वैज्ञानिक भी मानने को तैयार नहीं। जिसको हम किसी का नाश होना कहते हैं वह केवल उस नाश वाली वस्तु की अवस्था का परिवर्तन (बदलना) ही है, अत्यन्त (बिल्कुल) नाश नहीं है। घट (घड़ा) फूटा; ठीकरियां बनी बैठी हैं । ठीकरियां चूरा-चूरा हुईं, परमाणु या अत्यन्त छोटे कण बसे बने बैठे हैं । यदि यह कण या परमाणु भी फूटे तो एक व्यापक शक्ति जिससे कि ये सब बने हुए थे, वह ही कारण रूप में स्थिर या टिकी बैठी है। उसे चाहे शास्त्रों के ऋषि माया का नाम दें या प्रकृति की सूक्ष्म अवस्था का; परन्तु वस्तु उस अपने मोटे या स्थूल घट (घड़े) के रूप से बदलते-बदलते यहाँ तक बनी ही बैठी है। पुनः घट या घड़ा रूप में पहुँचने की योग्यता भी उसमें बसी बैठी है । आधुनिक वैज्ञानिक इसी सत्य को कोई दूसरा नाम भले दे दें; परन्तु यह सत्य या अन्तिम तत्त्व अपने में सब कुछ और सब को सम्भाले बैठा है । शास्त्रों में ऋषियों ने इसी सत्य को ज्ञान के साथ बना बैठा देख कर इसे परमेश्वर की माया या रचने वाली शक्ति को प्रकृति रूप से कहा ।

अब यहाँ केवल धर्म के प्रेमी को तो इतना ही समझना है कि जब किसी वस्तु का अत्यन्त नाश या विनाश नहीं तो ज्ञान रखने वाला अपना आपा, या आत्मा का भी विनाश मृत्यु हो जाने पर कैसे बन पायेगा ? कैसे मन में सिद्ध हुआ-हुआ समझा जायेगा? और भी ! इस आत्मा के बारे में सत्य को खोजने वालों ने युक्ति दर्शायी है कि जैसे सोया हुआ प्राणी अपने शरीर या इस संसार के बारे में कुछ भी

न समझने पर भी निद्रा में पहुँचा हुआ वहाँ एक दूसरा शरीर भी धारण कर लेता है। वह शरीर इस सोये शरीर से अत्यन्त (बिल्कुल) भिन्न है। इस संसार, परिवार या समाज का जीव तो यहाँ संसार के सब जीवों की दृष्टि में सोया हुआ मुर्दे के समान दीख रहा है। यहाँ के प्राणियों के वृत्तान्त या भावों को बिल्कुल ही नहीं समझता। परन्तु निद्रा के दोष में पड़ा हुआ इसी शरीर में बसने वाला आत्मा या जीव किसी दूसरी स्वप्न की धरती या आकाश में विचरता हुआ वहीं के दूसरे शरीर में सब प्रकार की बातों को समझता हुआ वहाँ कई एक कर्मों में लगा-लगा या भूला-भूला दूसरों में भी उलझ रहा है।

यह है सब आत्मा राम की कथा । इस संसार में होते हुए भी, जागती हुई अवस्था में केवल निद्रा मात्र को अपनाकर यहाँ तो मरा हुआ जैसा, और दूसरे स्वप्न के संसार में बना हुआ और कई एक प्रकार के दुःख-सुख की उलझन में पड़ा हुआ यह अपने आप को देखता है। यहाँ इतना ही समझना है कि निद्रा यदि इस आत्मा को अपने वश में करके ज्ञान शून्य नहीं कर सकी तो पुनः मृत्यु भी, जो कि एक निद्रा के ही समान है, कैसे इसे अपने वश में करके इस आत्मा के ज्ञान के दीपक को बुझा कर इसका नाश कर सकेगी? इसी आत्मा के बारे में इस बात को या सत्य को भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि इसी के साथ एक ऐसी रचने वाली शक्ति भी रहती है जो कि जीव के अन्दर पड़े कर्मों या संस्कारों के अनुसार धरती, आकाश तथा प्राणियों को रच कर इसी जीव को कई एक अवस्थाओं का अनुभव

करवाती है। यह हमने स्वप्न के संसार में देखा है। स्वप्न इसी सत्य का प्रमाण है। इसका नाम भले कुछ भी रखा जाये, परमात्मा, ईश्वर, नियति या अन्य भी कोई; परन्तु जो यह सत्य है, उसका निषेध नहीं बन पाता। परन्तु इतना भी ध्यान में रखना होगा कि ये सब सत्य उसी उद्योगी धार्मिक जन को सूझेंगे जो बाहर की जीवनचर्या को सही रख कर ध्यान को उन्नत करे; और बाहर से सांसारिक उलझन से अवकाश (फुरसत) प्राप्त करके इन सत्यों की खोज, दीखती हुई वस्तुओं के वृत्तान्तों का अध्ययन करता हुआ, करने में अपना जीवन लगाये । इस सब से आध्यात्मिक जीवन उन्नत होता जायेगा। वही जानेगा कि इस आत्मा का या ज्ञान रूप अपने आपके प्रकट सत्य का जो जन्म से नाना प्रकार से ज्ञान पाता हुआ कई एक अवस्थाओं से गुजरता है; उन्हें लाँघता है; सब में अपना आपा देखता है, वह मृत्यु से अत्यन्त नष्ट या विनष्ट न हो कर जैसी कुछ सामग्री अपने साथ ले जाता है, वैसे ही वह आगे संसार को पुनः भी रच लेता है और वहाँ सुख दुःख का अनुभव करता है । हाँ ! यदि यहीं इस आत्मा में सत्य ज्ञान बढ़ते-बढ़ते या उन्नत या विकास भाव को प्राप्त होते-होते निर्विरोध बाहर जीवन धारण करने तक का सामर्थ्य प्राप्त कर ले तथा सब संसार के प्रभावों से मुक्त रहे तो यही आत्मा अपने शुद्ध, पवित्र, परम सूक्ष्म, नित्य आनन्द रूप में सदा के लिये ठिकाना भी पाता है। यही बस! अन्त में आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता तथा सफलता है। इस फल की प्राप्ति से परे कुछ शेष पाने की इच्छा भी नहीं रहती।

इसी आध्यात्मिक जीवन वाला, जो कि बाहर पवित्र-जीवन, अन्दर ध्यान और भक्ति तथा ध्यान द्वारा सत्यों के ज्ञान में रमा रहता है; वह इसी संसार में भी अन्त समय तक अपने सुख और शान्ति को बनाये रखता है। नहीं तो जो केवल पारिवारिक या सामाजिक जीवन है, वह तो तब तक के लिये ही सुखदायक या भला है जब तक देह में शक्ति और स्वास्थ्य है वैसे ही मन में भी दूसरों से मिलने वाले भावों की भी तब तक तृप्ति है। जब तक हम दूसरों के लिये सुख पहुँचाते हैं तभी तक दूसरों के प्रीति तथा आदर आदि के भाव भी हमें मिलते हैं। नहीं तो साधारण अन्य जीवों जैसे जब अपना स्वार्थ ही कोई पूर्ण नहीं कर सकता तो उसमें प्राकृत (कुदरती) मन प्रीति भी कैसे होने देगा ? जहाँ पहले प्रीति तथा आदर था वहीं से यदि उपेक्षा (लापरवाही) या अनादर ही मिले तो उनमें बसना भी पुनः कितना या कहाँ तक अच्छा लगेगा ? परन्तु यदि अन्य कोई सहारा नहीं तो मनुष्य इसी परिवार या समाज को छोड़कर जाये भी कहाँ? हाँ ! यदि केवल आध्यात्मिक जीवन ही मनुष्य को ऐसी अवस्था में सहारा दे दे तो यही मनुष्य, कोई आवश्यक नहीं कि इन्हीं परिवार वालों में या समाज के प्राणियों में ही बिना भाव के भी रहने पर उनके धक्कों को सहन करे । नहीं तो होता क्या है? कि मनुष्य खाली तो बैठ नहीं सकता; अकेले का तो ज्ञान नहीं जागता: दूसरों की शरण में रहने की बचपन से ही आदत बनी हुई है। जब अकेले में मन न लगे तो बच्चा या तो रोता है या सो जाता है। परन्तु वृद्ध (बूढ़ा) कैसे रोयेगा? रोने पर बच्चे को तो सहारा मिल जाता है। वृद्ध

को कौन सहारा देगा ? सोये-सोये भी सब समय व्यतीत नहीं किया जा सकता। नशों के अभिशाप में कई एक पड़े-पड़े समय व्यतीत करने पर भयंकर रोगों का शिकार होकर शीघ्र असमय पर भी मृत्यु क़ी आकांक्षा करते हैं। इसलिये इन सब अनर्थों से बचने के लिये, अर्थात् परलोक में सद्गति पाने के निमित्त, जीवन काल में भी अपने आप में सब बन्धनों से मुक्त होकर केवल आत्मा में ही सुख, शान्ति और तृप्ति पाने के हेतु, केवल एक सधा हुआ आध्यात्मिक जीवन (जो अपने आप में ही चला जाये) ही सहारा है। नहीं तो जैसे-जैसे आयु के भागों में प्रकृति की प्रेरणायें होंगी वैसे-वैसे चलने पर तो मृत्यु के पश्चात् दुर्गति या भयंकर दुःखों का प्राप्त होना भी सम्भव है। न जाने जीव इस संसार के अपने प्रियों या वैरियों को दृष्टि में रखकर समय की प्रेरणा के अनुसार क्या कुछ करने को उतारू हो जाता है और वैसा कर ही बैठता है। पीछे होने वाले परिणाम (नतीजे) को ध्यान में भी नहीं लाता। परन्तु नियति या कर्म के विधान के अनुसार जैसे निद्रा में खोटा स्वप्न देखता हुआ जन साँप से भी डसा जाता है; भयंकर वन के जीवों में पड़कर भी दुःख पाता है; वहाँ रोता भी है : परन्तु सहायक कोई नहीं पाता। यह सब मनुष्य अपनी चाह या इच्छा से नहीं रचता, उसी क़े अ़न्दर या अन्तरात्मा में बसे हुए उसी के कर्मों के संस्कार सब उसके लिये संसार रचने की शक्ति रखते हैं; वहाँ वे अपने ही ढंग का संसार रचकर इस जीव को भी इसी के कर्मों के अनुसार शरीर देकर उन्हीं कर्मों का भुगतान या फल दण्ड आदि रूप में दिखलाते हैं । यह जीव विवश

卐卐卐

हुआ सा वहाँ सब कुछ देखता है। स्वप्न भी वैसे ही हमारे अनुभव में आते हैं जैसे कि संस्कार हमारे अन्दर के मन में बसे बैठे हैं। चोर का अपने को स्वप्न में पिटते हुए दीखना कोई उसके पुण्य कर्म का फल नहीं है। परन्तु अच्छे कर्मों वाले मनुष्य को स्वप्न में भी सभाओं में आदर मिलना आदि उसी व्यक्ति के एक जागते हुए संसार के भले कर्मों का फल रूप से दूसरे स्वप्न के शरीर तथा संसार में मिलता है। इसी प्रकार मृत्यु हो जाने पर पहले देह का मृत्यु की निद्रा में पहुँचने पर सब संस्कारों को लिये बैठा आत्मा राम अपना नया संसार खड़ा करके उसी में विचरता है।

हाँ ! यदि आध्यात्मिक जीवन को चोटी तक पहुँचा दिया जाये और इन कर्म चक्रों से निकल कर केवल अपनी ज्ञान रूप आत्मा में ही सदा आनन्द मिल जाये तो यहीं यह सांसारिक जीवन के सब अनर्थ शान्त हो जायेंगे, नहीं तो कर्म गति बलवान है। उससे छुट्टी या मुक्ति मिलनी असम्भव है।

यह सब ऋषियों की सत्य की खोज और उसी के अनुसार जीवन की साधना आध्यात्मिक जीवन का सार या निचोड़,है। आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करने वाले को अपनी आत्मा में ही अधिक अपनी शान्ति खोजनी होगी। यह बात नहीं कि थोड़ा परिवार और समाज के कार्यों से समय के अनुसार निवृत्त होने से तो मनुष्य एकदम अकेला सा पड़ जायेगा और ऐसी अवस्था में उसकी जीवन नौका भी चलनी कठिन या असम्भव सी ही हो जायेगी। क्योंकि जैसे-जैसे वह कुछ मिथ्या कर्मों से निवृत्त होता जायेगा, जैसे कि हिंसा,

चोरी, झूठ, दुराचार या नशे आदि के पापों से टलेगा, मिथ्या वाणी के कर्मों से भी बचेगा जैसे कि उद्वेग या जोश में कठोर शब्द वाणी से निकलते हैं; उनको भी बचा-बचा कर ही चला तो ऐसे व्यक्ति को अपने खाने, पीने, सोने आदि में भी अपने मिथ्या कर्म समझ में या पहचान में आने लगेंगे । उनसे बच कर चलने का यदि कोई यत्न करे तो उसे बड़े विचार से रहने का स्वभाव भी पड़ेगा। पुनः जो मन या मन के बन्धन या काम, क्रोध, लोभ आदि विकार इन सब मिथ्या कर्मों को करवाते हैं वे सब भी स्वयं मन में बहते दीखने लगेंगे; उनका तनाव या बल भी अनुभव में आयेगा। यदि सही आत्मा के मार्ग पर चलने का भाव या इरादा रहा तो उनसे बचने तथा उनको मन से निकालने की इच्छा तथा यत्न भी होगा। इस यत्न के लिये मन विचारेगा भी। यही सब जीवन अन्तर्मुख होता जायेगा। अर्थात् जानने, करने की शक्ति संसार से पर्याप्त (काफी) टल कर अपने आप में ही लगी रहेगी। यही सब अपने आप में लगे रहना; अपने आप में समय व्यतीत करने की युक्ति हो जायेगी। यही जीवन नौका भली प्रकार से चलेगी। अपने मिथ्या खाने, पीने, दूसरों से मिथ्या, प्रयोजनहीन बातों में लगे रहने में समय व्यतीत करने के दोष भी दृष्टि में आने लगेंगे । जो मन इन सब मिथ्या कर्मों को करवाता है वह मन भी अपने विकारों के साथ जब-जब उछलेगा, दीखने लगेगा; उन सब मन के विकारों के पहचान में आ जाने पर उनसे बचने या उनको बचाकर कर्म करने का इरादा तथा यत्न भी बन पायेगा। मिथ्या अपने मन से लड़ना भी समझ में आने लगेगा। इस सब में समय व्यतीत

होने पर दूसरों के दोष देखने और अपने मिथ्या सुख के लिये उनसे वैर, संघर्ष तथा उस मिथ्या सुख की आशा में भी समय व्यतीत नहीं करना पड़ेगा। इससे बाह्य जीवन या दूसरों के साथ बर्ताव भी अच्छे बनने लगेंगे। दूसरों के भी सही तथा उत्तम भाव अपने को मिलने से मन और भी अधिक आध्यात्मिक जीवन के लिये प्रेरणा पायेगा। जैसे-जैसे मन की समझ बढ़ने लगेगी, अन्दर बुद्धि जागती जायेगी। अन्दर के सत्य आगे से आगे समझ में पड़ते जायेंगे। जो बाहर मिथ्या कर्म करवाने वाला मन है वह अन्त में कहाँ ले जाकर पटकता है, यह सब अन्दर जागी हुई बुद्धि समझने लगेगी। अब इन सब मिथ्या अपने मन के भावों, इरादों तथा सुखों से तथा मिथ्या मान आदि से भी मुक्ति पाने के लिये भी निश्चय बनने लग जायेगा। जबकि अन्दर यही बुद्धि सकल संसार के जीवन को, सब को विवश करके चलाने वाली प्रकृति शक्ति-पर्यन्त सब इसके बन्धनों सहित अन्दर समझने लग गयी तो पूर्ण जगी बुद्धि निद्रा तक के भी सुख को उचित मात्रा में जीत कर इस जगत् को रचने वाली शक्ति रूप प्रकृति के समूचे बन्धन से पार होने की सोचेगी। केवल सोचेगी ही नहीं, जैसे कि इससे पार उतरे वैसे यत्न पर भी कमर बाँधेगी; अन्त में निखिल संसार के प्रलोभनों से भी पार पहुँचाने के लिये दृढ़ संकल्प करके अपने आत्मा में ही टिकाव प्राप्त करने में सुख समझेगी। यह सब जीवन की नौका का ही चलना है ।

इतना सब होने पर किसको दूसरा कोई सूझेगा ? सूझता था कोई तेरा-मेरा केवल प्रकृति के जगत् में ही जीवन चलाने

के कारणों द्वारा। वह भी थोड़े से मन के सुख के लिये। वही मन का सुख यदि बुद्धि ने पहचान लिया कि यह अपने आप में सदा कभी रहने का भी नहीं; और अन्त में सुख से अधिक दुःख देने वाला है तो इसी बुद्धि वाला जन किसी दूसरे का संग अपने स्वार्थ से तो अधिक कभी भी करना नहीं चाहेगा। केवल जितना देह धारण करने के लिये आवश्यक है उतने में तो अधिक संघर्ष या विरोध आदि कुछ भी नहीं; परन्तु जितना मन की मिथ्या तृष्णा का है और जिसका समय भी निकल चुका है, परन्तु प्रकृति या आदतों के बल के कारण पराधीन इस जीव को तथा जीव के मिथ्या मन बुद्धि को बनाये बैठा है, उसी सब के लिये एक जीव का दूसरे जीव के साथ अधिक संघर्ष आदि में मन भी उलझा रहता है। यह प्रकृति का बल शीघ्र किसी को अपने चुंगल से मुक्ति पाने नहीं देता। आध्यात्मिक जीवन को रखने वाला मनुष्य इसी प्राकृत या बाह्य भौतिक जीवन के अनर्थ पहचानने तक अपने मन को उन्नत करके एक दिन इस प्रकृति के समूचे चुंगल से छूट कर अपनी आत्मा में ही शान्त हो जाता है। यही सब जीवन की नौका को सही ढंग से चलाना है। ऐसा जीवन कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं।

यह बात नहीं कि परिवार तथा समाज से आप थोड़ा टलकर अपने आप को सम्भालने तथा अपने मन और बुद्धि के मिथ्या मार्ग को पहचानकर उससे मुक्ति पाने में लगे रहने से कहीं अकेले पड़े जीवन रखना (जीना) भी रुचिकर (पसन्द का) न मानें। इस मार्ग पर चलने वाला मनुष्य कभी भी ऐसी अवस्था में अकेला नहीं पड़ सकता। उस

आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले का मन जब परिवार तथा समाज में कोई अधिक स्वार्थ नहीं देखेगा तो यही मन अपने ध्यान में रहेगा; कभी-कभी अपने ध्यान से उचट-उचट कर अपने कान बाहर जगत् भर की बातें तथा गीत गाने सुनने में भी खोलने लगता है। यही मन विश्व भर के प्राणियों को वैसे ही पहचानने लग जाता है जैसे कि किसी परिवार में जन्मा कोई बच्चा उस परिवार वालों को पहचानना आरम्भ कर देता है। अपने अन्दर के सत्यों को जैसे-जैसे अपने अन्दर ही अन्दर पहचानकर, बहुत से मिथ्या मन के हानि के मार्ग देख कर उनसे टलेगा तो उसे सारे जगत् में वैसा ही दूसरों का मिथ्या मन दूसरों के शब्दों तथा बातचीत में प्रकट होता हुआ और दूसरों को विवश करके सब मिथ्या मार्ग पर चलाता हुआ भी इस आध्यात्मिक जीवन वाले प्राणी को सूझने लगेगा। ऐसी अवस्था में उन प्राणियों के प्रति इस अपने आपको सही मार्ग पर चलाने वाले के वैसे ही भाव बनेंगे जैसे कि अपने परिवार का हित सोचते हुए किसी सांसारिक प्राणी को अपने परिवार वालों के लिये बनते हैं। इसका तात्पर्य यही हुआ कि जब छोटे परिवार से तथा उसके स्वार्थों से कोई थोड़ा टला तो यह सकल वसुधा (पृथ्वी) अपने जनों सहित्त उसका परिवार जैसे दीखने लगेगी और वह अपने छोटे परिवार सम्बन्धी सब झंझटों की स्मृति (याद) तक भी नहीं कर सकेगा। यदि वह अभी केवल ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा में सदा बनी रहने वाली शान्ति नहीं भी पा सका तब भी वह परिवार तथा कोई छोटे-मोटे सामाजिक बन्धनों से निकल कर समूचे संसार के सत्य को पहचानता

हुआ उससे मुक्ति के मार्ग पर भी बहुत सुख पायेगा। क्योंकि वहाँ भी जगत् के दुःखों के कारण या जड़ राग, द्वेष, मान, मोह आदि बन्धन तो रहते नहीं; केवल अपार जीवन का सागर, अनन्त जीवों के साथ एक ही परमेश्वर दिखायी देता है। यह भी एक उत्तम गति ही है। इसे ही परमात्मपद की प्राप्ति कहते हैं कि सर्वत्र किन्हीं एक, दो या दश जीवों में न बंधते हुए सकल संसार में केवल एक ही चेतन तथा उसकी माया रूप शक्ति को सकल संसार में क्रीड़ा करते हुए पहचानना। अब ऐसा व्यक्ति क्यों अपने परिवार वालों के भावों में बंधेगा ? किस लिये किसी के दोष देखेगा ? क्यों किसी की निन्दा करेगा ? तब दूसरों के भी उसके लिये क्यों विपरीत भाव उत्पन्न होंगे ? ऐसे ही व्यक्ति दूसरों के धक्कों से भी बचे रहते हैं; उनसे उलझते ही नहीं। अपने में ही अपने आपको देखते, समझते हुए आँखों, कानों द्वारा दूसरे सर्व को या सकल संसार को भी देखते सुनते हुए आप स्वयं अपनी स्मृति (याद) या अपने ध्यान में अपने में ही टिके रह कर, हल्के मन वाले होकर शान्ति का अनुभव करते हैं। किसी भी बाहर के प्राणी से अपने सुख की कोई आशा तक भी नहीं करते। ऐसे व्यक्ति के गुणों को उसके निकट या उससे सम्बन्ध रखने वाले प्राणी भी मनोमन सराहते हैं। संसार में पिछली अवस्था में बन्धा कोई विरला ही प्राणी अपने परिवार वालों से सन्तुष्ट रहता है। वह अपने जीवन के सुख के लिये वैसा ही अपने मनोनुकूल भाव चाहता है; उस भाव के न मिलने से उसे अपने मन को ही मारना पड़ता है। परन्तु दूसरी किसी भली दिशा में मन को ले जाकर शान्त करना

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

भी तो नहीं आता ? यही सब परिवार वालों के धक्के हैं। उनको सन्तुष्ट रखने के लिये अब उनकी सेवा के इतने कर्म भी तो नहीं बनते। ऐसी अवस्था में अपने आप में ही जागने वाला या ज्ञान जगाकर अपने आप को ही सम्भालने वाला व्यक्ति अपने में ही अपने आपको सम्भालने का यत्न करता हुआ अन्दर का जीवन पा जाता है। यही सब आध्यात्मिक जीवन की सीढ़ी है। थोड़ा अपने आप में चलने चलाने वाले शास्त्र का ज्ञान, यह भले किसी के सत्संग से ही हो, पुनः थोड़ा अपने मन को संसार के सुखों के पीछे भागते को सम्भालने का यत्न; वैसे ही दूसरों के प्रति उत्पन्न होते हुए मिथ्या प्रीति, द्वेष आदि के भावों में मन की पहचान के साथ-साथ उनको शान्त करने का यत्न; और दूसरों के प्रति उन खोटे मन के भावों के स्थान पर उत्तम मैत्री आदि के भाव बनाने का यत्न आदि सब भी समय व्यतीत करने के लिए उत्तम या अति उत्तम मार्ग है। यही सब इस आध्यात्मिक ग्रंथ का विषय है।

इसी आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले जो-जो अपनाने योग्य तथा मन में उपजाने योग्य धर्म हैं उनको ही यह ग्रंथ प्राचीन शास्त्रों की ही रीति के अनुसार बतलाता है। इसमें नवीन कोई भी बात नहीं है। जैसे सब का जीवन सब में या समाज में है वैसे ही अपने आपको, थोड़ी ज़रूरतों के साथ, अपने आप में ही सम्भलने या सम्भालने का यत्न करने वाले का जीवन भी सब में ही है। संसार में मनुष्य रूप से जन्मा कोई भी प्राणी अकेला नहीं जीता : दूसरों का सम्बन्ध होता ही है। दूसरों के सम्बन्ध से बहुत प्रकार का

मन भी जन्मता ही है; ऐसी अवस्था में मन के सही भाव रखकर, सब प्रकार से दूसरों से सही बर्ताव करना या करने का यत्न बनाये रखना भी सही जीवन धारण के ही अंग या भाग हैं। केवल व्यर्थ की मिथ्या इच्छाओं को रोक कर थोड़ी इच्छा से अपना जीवन धारण करने की इच्छा करना ही इस सही जीवन का आरम्भ है। थोड़ी इच्छा भी उचित ही हो जितनी कि देह धारण के उपयुक्त हो ।

जब मनुष्य आध्यात्मिक जीवन को भली प्रकार से उन्नत या अपने आप में विकसित कर लेगा तो उसे जो मन बाहर संसार की संगत में सदा धकेले रखता था, वही मन अब संसार की व्यर्थ काम, क्रोध या राग, द्वेष आदि वाली संगत से न्यारा या पृथक् रहकर अपने आप में ध्यान के क्षेत्र में भी उन्नति करना आरम्भ करेगाः वैसा आरम्भ करके इसी ध्यान क्षेत्र में विचरता या विहार करता-करता एक दिन इसी देह के भीतर की सब बारीकियों में ध्यान जमाकर इन्हें समझता या साक्षात् अपने ज्ञान में पहचानता हुआ इतना हर्ष या प्रसन्नता से युक्त होगा कि उसे आध्यात्मिक जीवन के मार्ग पर चलने का प्रयोजन सबसे ऊँचा दीखने लगेगा। इन्हीं ध्यानों में लगे प्राणी को बाहर की व्यर्थ की संगत से मुक्ति भी मिली रहेगी। दूसरों से इसी कारण से बहुत सा संघर्ष भी टला रहेगा। यदि ऐसा समय व्यतीत करने का भव्य (श्रेष्ठ) मार्ग किसी को नहीं मिलता तो मन के दबाव के कारण अपने मन को रमाने या प्रसन्न करने के लिये दूसरों की संगत में अवश्य जाना ही पड़ता है; दूसरे भले चाहें या न चाहें। तब मन के अनुकूल सब भाव दोनों ओर से न मिलने

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

पर ही मनुष्य दुःखी होता है। इसलिये अपने आप में जीवन का अधिक से अधिक समय व्यतीत करने वाला दूसरों की भी भली सेवा ही करता है। सदा या सब समय मनुष्य दूसरों के मन पसन्द का नहीं रहता।

ऐसे ही जीवन वाले व्यक्ति को कई एक अन्दर अपने आप के, तथा वैसे ही सर्वव्यापक, सब के अन्दर बसे आत्मा के विचित्र-विचित्र सत्यों का ज्ञान भी होता है जो केवल पढ़ने या शास्त्र सुनने मात्र से नहीं हो सकता। अभ्यास और ध्यान के मार्ग में लगे मनुष्य को समय पाकर, जब वह संसार को भूलकर भी अपने आप में जागते रह कर समय व्यतीत कर सकने की शक्ति प्राप्त कर लेता है तो उसे बड़ी प्रसन्नता तथा लगन के साथ इन सब अन्दर की बारीकियों को समझने के लिये खोज करने की इच्छा होती है। वह देखता है कि अस्थि (हड्डी) जैसी पत्थर के समान कठोर वस्तु में भी मेरा ज्ञान बैठा-बैठा वहाँ की वेदना (दुःख) को प्रतीत करता है। इतना ही नहीं क्षण-क्षण शरीर को बढ़ाता हुआ उस पत्थर जैसी कठोर वस्तु को भी बढ़ाता है; सब देह के मल त्याग तक के कार्य बड़े सुचारु(भली) रीति से करता है। जहाँ मनुष्य को अपने आप की भी खबर नहीं वैसी निद्रा या मूर्छा की स्थिति में भी देह में सब कार्य, श्वास का चलते रहना; अन्न पाचन तथा रक्त संचार आदि-आदि होते रहते हैं । वह पुनः इन्हीं सब सत्यों में अपने मन को जगाये रख कर अन्त में खोजते-खोजते एक दिन उसी केवल ज्ञान या चेतन रूप अपनी आत्मा को ही सब में बसा देखता है और इसी में ही सुखपूर्वक टिकाव पा जाता है। ऐसा होने पर उसे समय

तक की भी खबर नहीं रहती कि कितना समय व्यतीत हो गया। ऐसी नित्य स्थिति को पा जाने पर ही मनुष्य को विश्वास हो जाता है कि आत्मा अपने आनन्द तथा ज्ञान स्वरूप में एक रस, नित्य या कभी भी नष्ट होने वाला नहीं है। जब यहीं, अकेले में, आत्मा का आनन्द रूप से प्रकाश बिना बाहर के किसी भी सहारे से मिल गया तो अब प्राणी इसी अकेलेपन के अज्ञान या अविद्या के अन्धकार से डर कर या घबड़ाकर क्यों संसार में भटकने के लिये जायेगा या जन्मेगा ? पुनः मरेगा भी ? यह सब सत्य बाहर की उलझन से मुक्त होकर, पुनः ध्यानों के क्षेत्र को मापने वाला मनुष्य अपने अन्दर या आत्मा में ही विद्याओं के रूप में पायेगा। इसी मार्ग में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा आत्मा रूप आठ वसुओं के ध्यान भी करता हुआ इन सब में व्यापक इसी चेतन ज्ञान-स्वरूप आत्मा को ही देखेगा। अन्त में इन सब के रूप में या स्वरूप में बसे केवल ज्ञान रूप को ही सत्य जानकर इन सब में भी अपना आत्मा ही पहचान कर, इनकी कल्पना से भी मुक्त हो कर सनातन स्थिति या टिकाव अपनी आत्मा में ही पायेगा । इसी ध्यान के मार्ग में अन्य भी बहुत प्रकार के प्रलोभन, विचित्र-विचित्र प्रकार के फल ये सब शास्त्रों में बतलाये गये हैं; इन सब को यहां बतलाने की आवश्यकता नहीं : वे सब उसी ध्यान को उन्नत करने वाले व्यक्ति की समझ में अपने आप समय पाकर आने लगते हैं तथा उस व्यक्ति को चलने का सेही मार्ग भी दर्शाते हैं। यहाँ इस ग्रंथ में तो केवल प्रथम जगत् की मिथ्या उलझन या बन्धनों से छुटकारा (मुक्ति)

पाने के लिये आवश्यक, शास्त्रों में बतलाये गये आध्यात्मिक जीवन की ही चर्चा है । शेष (बाकी) सब कुछ इसके पश्चात् ही होगा । मौलिक साधना तो इसी की है । इसीलिये शास्त्रों में मुक्ति को ही मुख्य स्थान दिया गया है। यह बात अलग है कि इसके मार्ग पर चलते-चलते मनुष्य किन-किन क्षेत्रों से होता हुआ तथा क्या कुछ अनुभव करता हुआ अन्त में मुक्त आत्मा का अनुभव करता है। जब तक मन संसार में उलझा बैठा है, तब तक उत्तम ध्यान के भी योग्य नहीं होता। जैसे-जैसे बाहर की उलझन शान्त होती है, मन ध्यान के योग्य होता जाता है।

जैसे कुछ जन्म से बच्चा जब तक संसार की उलझन में नहीं पड़ा; उसने अभी संसार नहीं पहचाना तब तक वह भी कहीं पृथ्वी के कड़े स्पर्श का अनुभव करता हुआ समय व्यतीत करता है; कभी जल के साथ सम्पर्क या सम्बन्ध होने पर बहुत समय तक इसी को भी नहीं भूलता; वैसे ही अग्नि, वायु, व्यापक आकाश में भी उसकी समझ या मन इन्हीं के बारे के संस्कार अपने में इकट्ठा करता रहता है। वैसे ही प्रकाश या ऊष्णता के रूप सूर्य नारायण और शीतल प्रकाश रूप में चन्द्रमा भी उस बालक या शिशु के मन को बहुत समय तक अपनी ओर खींचे रखता है। तब यही सब इस बालक की समझ में बैठ जाते हैं। इसी प्रकार शुद्ध मन संसार की उलझन से न्यारा होकर नवजात (नये उत्पन्न हुए) शिशु या बच्चे के समान अपने निर्मल मन को इन्हीं पृथ्वी आदि के ध्यानों में लगाते-लगाते अन्त में इन सब को अपने ज्ञान स्वरूप से ही पहचान जाता है। ज्ञान है तो पृथ्वी भी कोई

卐卐

तत्त्व है, ज्ञान ही में जल किसी रूप में प्रकट होता है; इसी प्रकार ज्ञान यदि प्रथम है तो 'कोई भी कुछ है' जैसे समझ में पड़ता है। यदि ज्ञान सोया हुआ है तो सूर्य तक का भी कहीं निशान नहीं। इस प्रकार चिन्तन बढ़ते-बढ़ते अन्त में ध्यान में सब में केवल अपनी ज्ञान-स्वरूप आत्मा को ही क्षण-क्षण प्रकट या व्यक्त होता हुआ देखेगा। ऐसी अवस्था में आत्मा तथा सर्वव्यापक जीवन का सागर (समष्टि) परमात्मा में भी कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। सब भेदभाव रहित, केवल अद्वैत, एक ही समरस चेतन अपने आप में प्रकट होता है। यही अन्तिम मुक्ति की अवस्था है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि प्रथम संसार की उलझन से न्यारा होता हुआ मन अपने ही शरीर में जैसे-जैसे उतरता है तथा शरीर में ही ध्यान को जमाकर इसी के अन्दर के सब कार्य पहचानता है, तथा इनके बारे में चिन्तन करता हुआ इन्हीं के ही सत्यों को खोजने में मन लगाता है। काम, क्रोध, निद्रा तथा आलस्य से रहित होकर व्यर्थ की संसार की मित्र, वैरी, तेरी, मेरी आदि की दृष्टियों से भी रहित होकर, सब प्रकार के संशयों को छेदन करता हुआ, उस अवकाश (फुरसत) को भी पाता है जिसमें कि अपने देह में ही विचार द्वारा चिन्तन करते-करते अन्त में ध्यान की उन्नति होने पर निर्मल, पवित्र तथा आनन्द रूप आत्मा भी पहचानने में आने लगे। वैसे ही सब में भी वही ज्ञान रूप से दीखे। यही ज्ञान की उन्नत अवस्था है। इसी में यदि सहज या स्वभाव से टिकाव हो गया तो यही नित्य मुक्ति है।

अन्त में आध्यात्मिक जीवन के मुख्य-मुख्य कर्तव्यों को यदि संक्षेप से बतलाया जाये या अपनी स्मृति में रखने के

卐卐

लिये एक सूत्र में बांधा जाये तो वे इस प्रकार से स्मृति में रखने चाहियें कि जब भोजन कर लिया गया; और अभी ध्यान में बैठने की योग्यता नहीं है तो व्यर्थ में निद्रादि में समय को न खोकर अपने दृढ़ आसन पर बैठकर प्राण और अपान को सम करने या रखने के अभ्यास में बैठ जाये । इसी अभ्यास को प्राणापान स्मृति के नाम से भी कहा गया है। आसन पर बैठकर मन को ढीला छोड़ने से वह आदत के ही मार्ग पर पुराने संस्कारों को जगा-जगा कर 'तेरी-मेरी' की दृष्टियां तथा इच्छा, क्रोध या संशय आदि के विकारों को ही उत्पन्न करेगा। खाली तो रहेगा नहीं; यदि यह सब नहीं तो निद्रा या आलस्य का ही सुख लेना चाहेगा। इसलिये इसे व्यर्थ की आदतों के बन्धन से बचाये रखकर समझ के साथ श्वास को लेना, और समझते-समझते इसे छोड़ने की क्रिया में लगाये रखना चाहिये। इसी प्राण और अपान को अर्थात् श्वास अन्दर लेने तथा बाहर छोड़ने की क्रिया को, ध्यान या समझ के साथ करने से देह के भी सब कार्य जैसे कि अन्न पाचन, रक्त संचार तथा मल त्याग आदि-आदि भी भली भान्ति से होने लगते हैं । मन व्यर्थ के संसार को अपने ऊपर लादने के अभ्यास से भी बचा रहता है। और जब अन्न को खाये पाँच या छः घण्टे व्यतीत हो गये तो पुनः ध्यान में बैठकर जैसे पीछे चिन्तन बतलाया गया, उसमें मन को लगाये। इससे मनुष्य अपने आप में भी सार्थक समय व्यतीत करने का अभ्यासी होगा । यदि अभी मन पीछे कहे प्रकार से संसार में उलझा बैठा है; राग, द्वेष आदि के चक्कर में पड़ा बन्धा बैठा ध्यान के योग्य ही नहीं बन पाता तो इस मन से मुक्त होने के लिये ध्यान में बैठकर सत्य को जगाये कि वैसे बन्धा मन जिधर को खींच रहा है उधर कितना भारी

दुःख का आन पड़ना सम्भव है। इस प्रकार से मन को संसार की उलझन से, ध्यान में सत्य जगा कर मुक्त करना तथा मुक्त मन को पुनः शरीर में विचार को उतार कर उचित ध्यान में बैठाना; पुनः भोजन उपरान्त प्राणापान सम करने के अभ्यासों में लगाये रखने से जीवन सही मार्ग में लगा-लगा अन्त में उत्तम गति या कल्याण की सीमा तक पहुँच ही जायेगा। हाँ ! यदि आवश्यक दूसरों से बर्ताव करने का अवसर (मौका) आये तो अपने मन की या सांसारिक अहंकार आदि की बात न सुनते हुए मैत्री आदि के भावों के साथ अपना सही बर्ताव बनाये रखने का यत्न रखे। ऐसा करने से ध्यान में बाधा नहीं पड़ेगी।

जितना मुनष्य अपने को सम्भाल-सम्भाल कर चलने की स्मृति रखेगा उतना-उतना आध्यात्मिक जीवन उन्नति के पथ पर ही रहेगा। जहाँ कहीं स्मृति खोयी कि आदतों का मार्ग इस आध्यात्मिक जीवन के मार्ग को विघ्न में डालने वाला होगा। शरीर को धारण करने के निमित्त जैसे कुछ दूसरों से बर्ताव का अवसर आन पड़े उन सब में अपनी स्मृति या याद टिकाये रख कर सही बर्ताव को ही करने तथा रखने में यत्न बनाये रखे। इन सब साधनों से आध्यात्मिक जीवन उन्नत होकर एक दिन नित्य सर्वोत्तम फल को पायेगा। अर्थात् अपनी ही आत्मा में, बिना किसी बाहर के सहारे के नित्य तृप्ति, शान्ति और सुख का सदा अनुभव करेगा। यही जन्म मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा या मुक्ति रूप से अनुभव में आयेगा।

वेदान्त शास्त्र में ब्रह्म या आत्मा का नित्य आनन्द रूप से साक्षात्कार का मुख्य कारण है अन्तःकरण या चित्त (मन) की शुद्धि (सफाई)। इसी अन्दर की शुद्धि या सफाई के

निमित्त आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना है। इस शुद्धि के हो जाने पर मन बाहर या संसार की बहुत बड़ी उलझन या बंधनों के झंझट से मुक्त हो जायेगा। मुक्त हुआ-हुआ मन अपने में ही एकान्त आसन पर सब बाहर के संसार को भूल कर अपने आप में जागता हुआ, इसी अपने देह में विचार द्वारा उतर कर अपने शरीर में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों को देखता-देखता पार करेगा; पुनः इसी में बहते हुए प्राणवायु को भी स्वयं द्रष्टा या साक्षी भाव से पार करेगा। तब अनन्त प्रकार से उत्पन्न होते मन को काम, क्रोध, लोभ तथा संकल्प, विकल्प आदि अनेक प्रकार के विकारों सहित देखता हुआ और क्षण-क्षण परिवर्तित होता (बदलता) हुआ देखकर इसमें भी अपने ज्ञान को द्रष्टा (देखने वाला) के रूप में बनाये रखकर पार करेगा। वैसे ही बुद्धि जो कि सब पदार्थों को समझती है; अनेक प्रकार से निश्चय करती है; इसे भी नाना प्रकार से उत्पन्न होती तथा नष्ट होती देखकर इससे परे अपने आप में ही द्रष्टा या साक्षी भाव से टिका रहेगा। अन्त में सुख या दुःख की वेदना या महसूस करने के क्षणों को देखते-देखते- लाँघ जाने पर वह शुद्ध अन्तःकरण वाला मनुष्य केवल सदा ज्ञान की ज्योति से अपने आप में प्रकाशमान नित्य आनन्द रूप आत्मा में स्थिरता या टिकाव पा जायेगा। इस आनन्द की स्थिति को थोड़ा ध्यान में बसाने से प्रतीत होगा कि यह आनन्द रूप मेरा अपना आपा या आत्मा केवल एक मेरे ही शरीर या मन का ही सत्य नहीं परन्तु निखिल संसार के जीवों में ज्ञान रूप से यही एक केवल सत्य, सर्वव्यापक ब्रह्म है। जितना भी यह बढ़ा हुआ संसार है, उस सब में यही अपनी माया शक्ति के साथ खेल रहा है। ऐसा अनुभव हो जाने

卐卐卐

पर वह उद्योगी पुरुष सदा सब में रहता हुआ भी अपनी आत्मा में ही रहता है । इसी को जो कुछ प्राप्त हुआ, वही नित्य फल है। इसी के निमित्त ही यह आध्यात्मिक जीवन की उन्नति अपेक्षित है और यही इस ग्रंथ का विषय भी है।

बाहर संसार में मन का बहना ही अशुद्धि है। संसार में बहने वाला मन बाहर इसी में कुछ प्रयोजन, स्वार्थ या मतलब रखता है। इसी अशुद्धि से आध्यात्मिक जीवन, ज्ञान या बोध उत्पन्न करके मनुष्य को बाहर निकालेगा। तभी ऐसा मनुष्य सब कुछ क्षण-क्षण बदलती हुई माया रूप में ही देखेगा और स्वयं ज्ञान रूप से सदा स्थिर रहेगा।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।

इस उपनिषद् के मन्त्र के अनुसार सब प्रकार की कला तथा सांसारिक उपाधियों से रहित निष्कल जो ब्रह्म है, उस ब्रह्म को वही पुरुष देखता है जो कि ज्ञान के प्रसाद वाला हो तथा सदा ध्यान करता हुआ ही रहे। अर्थात् अपने आत्मा में ध्यानमय जीवन को ही उन्नत करे, नहि कि संसार के भावों में बहने वाला होकर बाहर संसार के ध्यानों में लगे रहने वाला रहे। जब मनुष्य ज्ञान के प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता से शुद्ध सत्त्व वाला या शुद्ध अन्तःकरण वाला बनेगा, तब वह निष्कल आत्मा के ध्यान का भी अधिकारी होगा। तभी वह उस सब प्रकार की देखने, सुनने, समझने आदि की उपाधियों से परे सब इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा सुख-दुःख आदि से परे आत्मा का सतत् (लगातार) ध्यान करता हुआ इस निष्कल, सर्व दोषों से रहित, अखण्ड, सब भेदभाव से परे अपनी आत्मा को देखता है । ज्ञान प्रसाद का तात्पर्य है कि ज्ञान या बोध (सत्य

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

का ज्ञान) इतना प्रकट हो या बल पकड़ चुका हो कि जब भी जीव के जन्मजात (जन्म से ही उत्पन्न हुए) संस्कार उसे संसार की ओर खींचें तो झट बोध के या सत्य के ज्ञान के संस्कार प्रकट होकर उस संसार में बहने जा रहे मन को सही वस्तुस्थिति दर्शाते हुए उधर न बहने दें और उस संसार की दिशा में न बहने का खेद तक भी मन में न हो, तभी ज्ञान प्रसन्न होगा । ऐसी अवस्था में पहुँचा हुआ ज्ञान ही प्रसाद (प्रसन्नता) से युक्त है । यदि सत्य का ज्ञान तो है परन्तु अभी उसमें इतना सामर्थ्य नहीं आया कि वह प्रसन्नतापूर्वक मन को संसार की ओर बढ़ने से सम्भाले रखे तो अभी ज्ञान प्रसाद नहीं हुआ । ज्ञान के प्रसाद बिना मनुष्य विशुद्ध सत्त्व या अन्तःकरण की शुद्धि वाला भी अभी नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में निष्कल ब्रह्म-रूप आत्मा का ध्यान भी होना सम्भव नहीं। तब उसका साक्षात्कार या सम्यक् दर्शन भी कैसे होगा? सब से प्रथम इसी ज्ञान प्रसाद की आवश्यकता है जिससे अन्तःकरण या सत्त्व की शुद्धि हो और पुनः निष्कल या भेदभाव रहित आत्मा का ब्रह्मरूप से दर्शन (साक्षात्कार) हो। इसी ज्ञान प्रसाद द्वारा अन्तःकरण या सत्त्व की शुद्धि के उद्देश्य की पूर्ति के लिये आध्यात्मिक (अपने आप में) जीवन को उन्नत तथा विकसित करना है। भौतिक जीवन तो बाहर जगत् में स्वार्थ रखते हुए व्यक्ति का दूसरों में उलझा हुआ है। यह उस उलझन से मुक्त करने के लिये अपने आप में या आत्मा में है। इसी से इसका नाम आध्यात्मिक जीवन है। यही इस ग्रन्थ का विषय है।




चर्या काण्ड



प्रथम विद्या वर्ग

साधो ! मन विद्या को साधो,
छेदो तम सन्धि छेदों में।
संस्कारज विकार मिटा कर,
अनन्त शान्त में शम सुख पाओ।। ।१।

सब दुःखों के टलने पर, केवल आत्मा या अपने आप में प्राप्त होने वाला तथा कभी न बिछुड़ने वाला सुख ही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ भलाई है। इसी भलाई रूप कल्याण को साधने में तत्पर या लगे रहने वाले पुरुष को यहाँ साधु शब्द से कहा गया है कि हे साधु पुरुष ! अपनी अन्तिम या सर्वश्रेष्ठ भलाई के निमित्त विद्या प्राप्त करने के योग्य मन को साधो; अर्थात् ऐसा मन विवेक, वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा कमाओ कि जिससे अविद्या रूप अन्धकार को नष्ट करने वाला विद्या का प्रकाश प्राप्त हो।

इसी विद्या रूप प्रकाश से अविद्या रूप अन्धकार को छेदन करो, अर्थात् अविद्या को नष्ट करके परम-पद की प्राप्ति करो। यह अविद्या मन की दो अवस्थाओं के मध्यवर्ती रिक्त (खाली) स्थान में बसी रहती है; इसे पहचानने का यत्न करो। वही छिपी रहने वाली यह अविद्या ही सब संसार के दुःख-रूप संस्कारों को जगाती रहती है तथा स्त्री, पुत्र, शत्रु आदि की दृष्टियां जना-जना कर काम क्रोधादि विकारों को उत्पन्न करती हुई संसार

के मिथ्या कर्म जाल रूप दुःख को बनाये रखती है। अपने आत्मा के नित्य सुख को व्यक्त होने नहीं देती। यही परदा रूप से बनी रहती है। इसके लिये मन को इतना चेतन या जगाना पड़ता है कि दो मन की अवस्थाओं के मध्यवर्त्ती रिक्त या खाली मन की अवस्था भी प्रकाशित रहे और वहाँ छिपा अज्ञान या अविद्या संस्कार न जगा पाये और विकार भी न जना पाये। तब केवल ज्ञान ही ज्ञान प्रकाशमान रहेगा। यही अनन्त शान्त रूप में व्यक्त या प्रकट हो कर अनन्त शान्ति और सुख रूप से अनुभव में आयेगा। यही परमपद का साक्षात्कार है।

स्पष्टीकरण

विद्याः यहाँ विद्या शब्द से उस संशय या भ्रान्ति रहित ज्ञान को कहा गया है जिससे कि मनुष्य आत्म परमात्म सम्बन्धी अन्दर के सब छिपे रहने वाले सत्यों को प्रकट रूप से जानकर अन्त में सब दुःखों से परे केवल अपने आप में नित्य सुख को अनुभव करता है; और द्वैत रहित अनन्त ज्ञान विज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा को पहचानता है।

जगत् के भी कई एक रहस्य हैं। उनका ज्ञान भी विद्या रूप से कहा जाता है। परन्तु यहाँ उनकी कोई चर्चा नहीं है।

अविद्याः अविद्या जीव की वह अन्धकारमयी अवस्था का नाम है जो कि मनुष्य के ज्ञान पर और अन्दर के सत्य को छुपा कर सत्य वस्तु पर परदा डाल कर उसे ढांक देती है। और अन्दर के सत्यों को छुपा कर कुछ का कुछ

मिथ्या जाल रचा देती है और सब दुःखों की जननी है।

इस अविद्या को पहचानने के लिये इसका स्थान मन की दो अवस्थाओं के मध्य बतलाया गया है जिनका ज्ञान उपजाने पर या मन को वहाँ चेतन करने पर इसे पहचान कर नष्ट किया जा सके।

मन सदा तरंगों के समान बहता रहता है; इसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था आती है तो इन दो अवस्थाओं के मध्यवर्ती यही अविद्या कारण रूप से बैठी उस अवस्था में संस्कारों को जगाती है और विकारों की अवस्थायें प्रकट करती रहती है। आगे और पीछे होने वाली दोनों अवस्थायें तो समझ में पड़ती हैं; वहाँ अविद्या प्रकट नहीं होती परन्तु इन दो अवस्थाओं के मध्यवर्ती (बीच में पड़ने वाली) एक ज्ञान शून्य सी या ज्ञान-विहीन चित्त की दशा या अंवस्था है, यही अविद्या शब्द से कही गई है। यह अवस्था ज्ञान रहित होने से जीव को अपने विनाश की शंका उत्पन्न करके पुराने संस्कार जगाने के लिये बाध्य (लाचार) करती है। जैसे संस्कार वह जगाकर ज्ञान पाता है वैसे ही वह संसार में भटकता है। जहाँ 'विनाश की शंका' शब्द समुदाय का यह तात्पर्य है कि 'अविद्या' एक ज्ञान शून्य या अन्धकार के समान है, जहाँ कि कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता; ऐसी ही अवस्था का नाम अविद्या है। जब ज्ञान ही को यह अविद्या का अन्धकार ढक देता है तो ज्ञान रूप आत्मा खोया हुआ सा प्रतीत होता है। कुछ समझ आता रहे तो ज्ञान बना है; ज्ञान बना रहे तो ज्ञान रूप आत्मा भी उपस्थित है। जब

अविद्या ने ज्ञान शून्य अवस्था ही चित्त में प्रकट कर दी तो इसी ज्ञान रूप आत्मा या अपने आपके न रहने या विनाश की शंका खड़ी हो जाती है। जैसे कि 'मैं रहा ही नहीं', या विनष्ट या नाश को ही प्राप्त हो गया ! इसी से पुनः वह जीव पुराने संस्कार जगा कर अपने आपको पाता है। इस अविद्या की अवस्था में चित्त या मन ज्ञान पाने की भूख सी संवेदित (महसूस) करता है। जब तक वह संस्कार जगा कर कोई ज्ञान या स्मृति नहीं जगा लेता तब तक सुखी नहीं होता। जैसे कि अन्न के बिना अन्न का भूखा सुखी नहीं होता; पुनः जैसा भी अन्न मिल जाये उससे भूख मिटाता है।

ऐसी अवस्था में जिसने साधना कर रखी है वह उस अन्धकारमयी अविद्या की अवस्था में भी उसी अवस्था का ज्ञान वाला होकर अज्ञान या अविद्या को मिटा कर वहीं सुखी होता है और उस अविद्या की अन्धकारमयी दशा में, पुराने मिथ्या सुख के संस्कारों के ज्ञान रूप अन्न को पा कर अपनी क्षुधा (भूख) नहीं मिटाता और संसार में न भटक कर अपनी आत्मा में ही सदा बना रहने वाला होता है।

शब्दार्थः हे साधक ! विद्या प्राप्ति के हेतु अपने मन को साधो ! अर्थात् साधना रत बनाओ। मन की बदलती हुई दो अवस्थाओं के मध्य छिपे रहने वाले अविद्या रूप अन्धकार को पुनः विद्या द्वारा छेदो अर्थात् छेदन करो या नष्ट करो।

इससे पुनः संसार के सब संस्कार और उनसे होने

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

वाले काम, क्रोध आदि विकारों को मिटा कर अन्त रहित ज्ञान रूप परम पद की प्राप्ति करो और उसकी स्थायी (टिकाऊ) सुख और शान्ति का स्वयं साक्षात्कार या अनुभव करो।

तृष्णा की वस्तुओं का सुख और प्यार,
अतृप्त बसी तृष्णा के बन्ध शतधार।
शोक बहु सोच, बैर, मान और शान,
संशयादि जाल मल माल अज्ञान।। । २ ।

प्रथम पद्य में विद्या द्वारा अविद्या या अज्ञान की निवृत्ति (टालने) के हेतु, यत्न करने की आवश्यकता बतलायी गयी, क्योंकि अपने आप (आत्मा) में अनन्त आनन्द रूप परम पद की प्राप्ति इसी से ही बन पायेगी। यदि इसकी प्राप्ति न हुई तो पुनः जीव बाह्य जगत् में ही भटकने के लिये लपकेगा। इसी संसार में बने रहने की लपक को या झुकाव को शास्त्र "तृष्णा" शब्द से कहते हैं। इसी तृष्णा से ही संसार की वस्तुओं में दृष्टि (नजर) जाती है। कोई प्राणी हो व पदार्थ उसी में दृष्टि बन्धी रहती है। यही दृष्टि बन्धन है।

जीव को जगत् में बाँधने वाला मन तृष्णा के पदार्थों में पुनः-पुनः शुभ दृष्टि करवाता है, अर्थात् तृष्णा की वस्तुओं का या प्राणियों का संग बढ़िया या शुभ जैसा जनाता है। परन्तु वह संग तो शुभ के स्थान पर अशुभ ही अन्त में सिद्ध होता है। परन्तु संसार वाले मन की दृष्टि में तो वे सब पदार्थ या प्राणी शुभ (बढ़िया या सुखकारी) ही दीखते हैं। यही अध्यास (भ्रान्ति) शब्द से शास्त्रों में सूचित किया

गया है। बिना ध्यान या सत्य ज्ञान के यह भ्रान्ति नष्ट नहीं होती। इसलिये तृष्णा का बन्धन भी नहीं छूटता। इन्हीं तृष्णा की वस्तुओं में अल्प सुख के कारण इनमें प्रीति या प्यार रूप राग बन्धन उपजता है। राग की वस्तुओं का चिन्तन मन से उतरता ही नहीं। यदि पुनः रोगादि दुष्परिणामों के भय से तृष्णा की तृप्ति न की गई; या अधूरे रूप से तृष्णा की सेवा की गई तो यह अन्दर बसी रहने वाली तृष्णा का बन्ध कई एक दुःखदायी धाराओं में बहता है। विवेक, वैराग्य, अभ्यासादि के दुःख रूप तप को यदि स्वीकार न किया जाये तो यह कभी नष्ट नहीं होने की, तब यह अन्दर अन्तःकरण में बसी ही रहेगी। बसी हुई तृष्णा पूरी न करने पर दुःख होता है और दुःख के पीछे-पीछे मन में द्वेष या वैर का बन्धन भड़कता है। इसी के सुख में मोह के कारण कई प्रकार से मनुष्य सोचों (चिन्ता) में पड़ा-पड़ा शोक के कीचड़ में धँसा रहता है। दूसरों का सुख सहन न होने से द्वेष या वैर रूप बन्धन होता है। दूसरे का अनिष्ट करने को शक्ति या अधिकार (ऐश्वर्य) के लिये यत्न में बन्ध जाता है। तृष्णा पूर्ण होने से अपने आप में श्रेष्ठता का मान भी करता है और अपने को शोभा युक्त (शान वाला) मानता है। इस तृष्णा के बाह्य फैलाव से कई प्रकार का संशय बन्धन भी होता है और पद्य में 'संशय आदि' इस आदि शब्द से भ्रम और बहु-विध कर्तव्य सम्बन्धी विचार को समझ लेना चाहिये। यही सब बन्धनों की माला वाला अज्ञान है।

शब्दार्थः तृष्णा की वस्तुओं से कुछ अल्प सुख होता

है; और उसी कारण से तृष्णा की वस्तुओं में प्रीति या प्यार और राग रूप बन्धन उपजता और बढ़ जाता है। यदि तृष्णा अधूरी रहे, उस को पुनः रोगादि के भय से त्यागे तो मन में बसी रहने वाली तृष्णा का बन्ध सैंकड़ों धाराओं में बहता है। कहीं शोक उत्पन्न करता है, बहुत सी सोचें या चिन्ता मन में उपजाता है, पुनः दुःख दिखला कर द्वेष या वैर में भी मन को उलझाता है; अपने को श्रेष्ठ मानना, रूप मान और शोभायुक्त समझना, रूप शान अर्थात् अपना जो रूप है उसकी बड़ाई दिखाना, इसी प्रकार संशय आदि के जाल के साथ सब मल रूप बन्धन की माला वाला अज्ञान या अविद्या रूप दोष है।

काम, क्रोध, लोभ, संग अधीरता विशाल,
मन का अलगाव, भय भ्रम बुरा हाल।
कृत्य की न सूझ, अन्ध मन का तनाव,
सुमति हरे यह सब, अनर्थ का फैलाव।। ।३।

गत पद्य में तृष्णा के अन्तःकरण (सूक्ष्म मन) में बसे रहने वाले बन्धन बतलाये गये थे। इस पद्य में इन्हीं बन्धनों की संतान रूप संसार के स्तर पर उपजने वाले विकार जाल को दर्शाया जा रहा है।

जिन तृष्णा की वस्तुओं में सुख या प्यार होने पर राग का बन्धन उपजता है, उन्हीं प्राणी व पदार्थ रूप वस्तुओं में काम या इच्छा उत्पन्न होती है। काम वह इच्छा है जो वस्तु के शुभ भाव को दिखला कर खींच करती है। उधर पदार्थ का सुख पाने के लिये बाध्य (लाचार) कर देती है। यह राग के बन्धन का विकार है। यदि यह काम पूर्ण न

किया जाये; अधूरा रह जाये; और राग प्रबल हो तो यही काम, क्रोध रूप विकार में परिवर्तित (तबदील) हो जाता है।

काम के अधिक सुख की इच्छा ही लोभ कही जाती है। इन्हीं तृष्णा की वस्तुओं के सुख के लोभ से मन अधीर (बेसबरा) बन जाता है। तब उस विषय सुख के अल्प वियोग को भी सहन नहीं कर सकता। इससे पाप तक करने को भी उतारू हो जाता है। इन विकारों के अधिक बढ़ने पर इनके सुख बिना मन कहीं भी नहीं लगता, अर्थात् दूसरे प्रयोजन वाले ध्यान ज्ञान आदि कार्यों में नहीं लगता। पुनः विषयों के सुख के लोभ से काम की अधिक तृप्ति करने पर भय और मति-भ्रम विकार भी मनुष्य को दुःखी करते हैं। रोग और दूसरों से विरोध आदि के कारण से भय होता है और अपने आप में मन कुछ का कुछ अपने और दूसरों को भ्रम से कल्पना करके दुःखी होता रहता है। यही सब बुरा हाल मनुष्य का होता है। इन सब विकारों वाले मन में कृत्य या कर्त्तव्य की सूझबूझ भी नहीं रहती। विकारों वाले मन का तनाव इतना भयंकर हो जाता है कि मनुष्य अन्धा सा होकर कुछ भी कर बैठता है। पर सब अविद्या वाला मन ही तृष्णा को प्रकट करके अनर्थ का जाल फैलाता है। केवल शोभन मति वाला मनुष्य ही इसे टाल सकता है। शोभन मति अर्थात् ठीक ज्ञान वाला जन ही इस अनर्थ के फैलाव को नष्ट कर सकता है।

शब्दार्थः इन्हीं बन्धनों के साथ काम, क्रोध, लोभ और साथ-साथ बड़ी भारी मन की अधीरता (बेसबरापन) का

दोष भी होता है और पुनः जिस सुख की तृष्णा है उसी सुख की तृष्णा को पूरा करने की दिशा में मन सदा भागता है, और उधर उसी तृष्णा का तनाव रहता है। इसी तनाव के कारण मन को सत्य ज्ञान के खोजने की लगन या रुचि नहीं रहती। यही इस का भाव है। तृष्णा के सुख की दिशा को छोड़कर और सत्य के ज्ञान ध्यान की दिशा में मन का अलगाव (न लगना) रूप दोष होता है। पुनः तृष्णा के सुख के साथ तो कई एक प्रकार का भय व भ्रम भी होता है। इससे मन का बुरा हाल अर्थात् दुःखदायी अवस्था भी होती है। ऐसी अवस्था में कर्त्तव्य की भी कोई सूझ या ज्ञान नहीं रहता। तृष्णा का मन में अन्धा अर्थात् ज्ञान-शून्य तनाव बना रहता है। यही सब दो पद्यों में अविद्या वाले मन की अनर्थ-युक्त अवस्था दर्शायी गई है। इस सब अनर्थ को सुमति पुरुष, अर्थात् शोभन मति वाला पुरुष ही परिहृत (टालन) कर सकता है।

बिना सम्यक् ज्ञान के, अनर्थ भी न खोय,
अनर्थ संग सुख शम, कबहूँ न होय।
केवल ध्यान व विचार रस सत्य को सुझाय,
शुद्धाचार बिना जन, जाको भी न पाये।।
। ४ ।

पिछले पद्य में जो कहा कि 'सुमति हरे यह सब अनर्थ का फैलाव', इस का तात्पर्य इस पद्य में सुमति शब्द के अर्थ को स्पष्ट करके बतलाया जा रहा है।

पशु, पक्षी, साधारण प्राणी मात्र को प्रकृति या माया जन्म से ही संसार में दूसरों के संग से ही सुख दिखलाती

है। उसी की उत्तेजनाओं (जोशों) को पूरा करना ही सुख रूप से समझ में पड़ता है, परन्तु यह समझ मिथ्या ज्ञान रूप है। सम्यक् या सही ज्ञान नहीं है। सम्यक् या सही (ठीक) ज्ञान तो यह है कि सांसारिक संग-जन्य सब सुख अनित्य हैं और अन्त में दुःखों को उपजाते हैं और दुःखों में ही समाप्त हो जाते हैं। इस समझ वाले पुरुष को ही सुमति पुरुष कहते हैं। यही सुमति पुरुष का ठीक या सही ज्ञान सब पीछे कहे गये अनर्थ को नष्ट कर सकता है। और अनर्थ के रहते-रहते तो सुख शान्ति किसी को भी नहीं होती।

परन्तु ऊपर कहे गये सुमति पुरुष के सम्यक् या सही ज्ञान को उपजाने के लिये मन की एकाग्रता रूप ध्यान, और ध्यान अवस्था में सत्य की छानबीन रूप विचार की आवश्यकता है। ध्यान और विचार में भी रस या प्रीति होनी आवश्यक है। यह भी सुमति पुरुष में होना आवश्यक है। क्योंकि ध्यान व विचार बिना सत्य वस्तु का ज्ञान होना असम्भव है। सुमति पुरुष शुद्धाचरण वाला भी होता है; क्योंकि ध्यान और विचार को सही रूप में पाने के लिये बाहर संसार में शुद्धाचार की परम आवश्यकता है। सब हिंसा, मिथ्या भाषण (झूठ), चोरी आदि पापों से बचना; इसके विपरीत सब अच्छी प्रवृत्ति करना; सोने, जागने, खाने-पीने आदि में नियमयुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से रहना। मन के विचार पवित्र रखने का यत्न बनाये रखना यह सब शुद्धाचरण के अंग हैं। इसके बिना मनुष्य का मन मिथ्या ध्यानों में ही एकान्त में विचरता रहता है। सही

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ध्यान और विचार नहीं बना पाता। मिथ्या ध्यान यहाँ उन्हीं विचारों का है जो भोगों के लिये सदा मन में बहते रहते हैं और संसार में ही स्वार्थ वाले हैं।

शब्दार्थः बिना सम्यक् ज्ञान या सही ज्ञान के, पीछे कहा गया अनर्थ कभी भी नहीं हटता। और जब तक अनर्थ न टले तब तक स्थायी सुख शान्ति की प्राप्ति भी नहीं होती। परन्तु सही (सम्यक्) ज्ञान को तो ध्यान और विचार की प्रीति ही उपजा सकती है। सही ज्ञान सत्य का ज्ञान रूप है। इसी से मिथ्या ज्ञान-रूप बाह्य सुख का भ्रम मिटता है। परन्तु यह ध्यान और विचार में प्रीति बिना शुद्धाचरण के नहीं उपज सकती। बाहर सब पवित्र जीवन रखना ही शुद्धाचार है।

सुमति पहचाने सब बन्धनों का जाल,
सर्व समय स्मृति युक्त, जाने इनका हाल।
सर्व कर्म करता हुआ करे परिहार,
शुद्धता का जीवन पाये, आत्मा का प्यार।।
। ५ ।

शब्दार्थः सम्यक् ज्ञान, ध्यान और विचार तथा शुद्धाचार से युक्त सुमति अर्थात् शोभन मति वाला पुरुष बाह्य वस्तुओं की दृष्टि से लेकर अविद्या या अज्ञान तक सर्व जगत् में बाँधने वाले बन्धनों के विस्तृत जाल को पहचानता है। पुनः मन की उपस्थिति और स्मृति की सावधानता से युक्त होता हुआ इन बन्धनों का सब समयों पर वृत्तान्त पहचानता है कि यह कैसे-कैसे मनुष्य को किधर-किधर प्रेरित करते हैं। पुनः सब समय जीवनोपयोगी

देहादि से कर्म करता हुआ इन बन्धनों का परिहार (टाल) करता हुआ ही कर्मों में रत रहता है। ऐसे अपने आप को संयम में रखता हुआ पुरुष शुद्धता का जीवन पाता है और इसी जीवन से बाह्य संसार का बन्धन शिथिल पड़ता जाता है और अपने आप में या आत्मा में प्रीति जागती जाती है। यही आत्मा का प्यार है। उसे अपना आत्मा ही प्रिय रूप से प्रकट होने लग जाता है। इस पद्य में सुमति पुरुष की चर्या का निर्देश किया गया है।

स्पष्टीकरणः शुद्धाचार और ध्यान, विचार के बल से श्रेष्ठ बुद्धि वाला पुरुष,'किस प्रकार प्रकृति के रागादि बन्धन बान्धते हैं और कैसे-कैसे मन का तनाव उत्पन्न करके मनुष्य से मिथ्या कर्म करवाते हैं', इस सकल सत्य को अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा पहचानता हुआ सर्व समय मन की उपस्थिति और सावधानता के साथ बाह्य जगत् में विहार करता है अर्थात् संसार में अपने जीवन को रखता है। इससे वह प्रमाद (ढिलाई) से बच जाता है। नहीं तो प्रकृति की उत्तेजनाएं इतनी बलवती हैं कि स्मृति और बुद्धि को उपजने का अवकाश (मौका) तक नहीं देतीं; और जीव को पुराने संस्कारों द्वारा मिथ्या कर्मों में डाल देती हैं। बिना सम्यक् ज्ञान के और स्मृति, सावधानता के प्रकृति की उत्तेजनाओं का सामना करना और उनका परिहार करना असम्भव है। और जब तक प्रकृति के बन्धन से मुक्ति नहीं मिलती तब तक अपनी आत्मा का नित्य सुख कभी भी व्यक्त नहीं होगा।

卐卐卐

जैसे होवे वस्तु, तिसको तैसे ले पहचान,
पक्षपाती मन जिसे करे न विरान।
जैसे पुनः उचित, करे वैसा अभियान,
इसी को सुमति कहे, सुमति-सुजान।। । ६ ।

सुमति पुरुष जिस सम्यक् ज्ञान (सही ज्ञान) द्वारा सब अनर्थ या दुःखों से पार पहुँचेगा उस सम्यक् ज्ञान का लक्षण या पहचान को दर्शाता हुआ यह पद्य सुमति शब्द के अर्थ को और भी स्पष्ट करता है।

जन्म से ही जीव स्वभाव से मनुष्य को बाह्य विषय सुख उत्तम और हित जैसा प्रतीत पड़ता है। परन्तु यह विषय सुख हित रूप तो क्या ही होगा उल्टा अन्त में दुःख रूप ही सिद्ध होगा। इसलिये ये दुःख रूप विषय सुख को दुःख रूप समझना सम्यक् ज्ञान (सही ज्ञान) है। इन विषयों की ऊपर की चमक या क्षण मात्र के सुख की झलक से सुख रूप मानना मिथ्या या असम्यक् ज्ञान ही होगा। जैसे कि ऊपर से मीठे वचन बोलने वाला परन्तु अन्दर से अहित करने का अवसर (मौका) खोजने वाला मित्र नहीं कहा जा सकता; शत्रु ही समझा जायेगा। इन विषयों की ऊपर की सुख की झलक का पक्षपाती मन सत्य ज्ञान या सम्यक् ज्ञान को ढक कर व्यर्थ जैसा बना सकता है। परन्तु यदि सुमति पुरुष अन्तर्दृष्टि से इन विषय सुखों को दुःख रूप ठीक रीति से पहचान गया तो उसके ज्ञान का दीपक, पक्षपाती मन नहीं बुझा सकता।

जैसे पुनः छिपे शत्रु को शत्रु समझ लेने पर उसका त्याग कर दिया जाता है; इसी प्रकार सम्यक् ज्ञान होने

पर विषय सुख का भी त्याग करना ही उचित है। सुमति पुरुष वही है जो पुनः इनके त्याग की योजना बनाकर त्याग करने का ही यत्न करे। यही उचित है। प्रकृति की उत्तेजनाओं (जोशों) के वशीभूत न हो। इसी को सुमतियों में श्रेष्ठ जन सुमति कहते हैं। जैसे समझे उसी के अनुसार कार्य या कर्मों में भी तत्पर हो।

शब्दार्थः जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही यत्न द्वारा पहचान लेना चाहिये। जैसे कि मित्र को मित्र, शत्रु को शत्रु ही समझना, भले वह अन्दर से शत्रु, ऊपर से मीठे वचन ही क्यों न बोले। जब सही रूप से किसी वस्तु को पहचान लिया तो थोड़ा मिठास का पक्षपाती मन उस सम्यक् ज्ञान या सही पहचान को वीरान अथवा व्यर्थ नहीं कर सकता। जैसा कुछ उचित या ठीक समझा जायेगा वैसा ही तब सुमति पुरुष सही ज्ञान होने की योजना बना कर अपने आप को चलायेगा, चाहे ऐसे चलाने में कुछ दुःख भी क्यों न हो। श्रेष्ठ सुमति जन ऐसे पुरुष को ही सुमति (सुन्दर मति वाला) कहते हैं।

दृष्टि देहादि में राखे, करने को सम्भाल,
हर कर्म में निगाह, रहे जैसे उनका हाल।
जिसमें अपना भला, वह न भूलता कभी,
स्मृति बल से युक्त, धर्म पालता सभी।।
। ७ ।

शब्दार्थः आध्यात्मिक जीवन के पथ पर चलने वाला साधक अपनी देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और दुःख सुख के संवेदन रूप पाँचों जीवन के अंगों पर सदैव दृष्टि रखे,

जिससे इन पाँचों स्थानों में अपने आप को संयत (काबू में) रखने या उचित रीति से सम्भालने में समर्थ रह सके। इन ऊपर कहे पाँच स्थानों में ही मनुष्य की अपनी 'मैं' या 'मैं' का भाव उपजता है। प्रत्येक कर्म करते समय उस कर्म पर भी दृष्टि रखे कि वह किस प्रकार से हो रहा है; विकृत मन से या कि आलस्यादि दोष युक्त मन से किया जा रहा है इत्यादि, सब अपनी दृष्टि में रखे। पुनः जिस प्रकार काम, क्रोध आदि विकार रहित मन से स्मृति के साथ करने से कर्म सही रीति से होता है; इसी अपने भले को जो न भूलता हुआ कर्म करे और इसी प्रकार स्मृतिबल से युक्त रहे तब वह व्यक्ति सब प्रकार के कल्याण के हेतु धर्म को पालन करने में समर्थ होगा और पालेगा भी। यहाँ स्मृति या याद ठिकाने रख कर कर्म करने का प्रयोजन विशेष करके यह है कि मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म में मिथ्या काम या क्रोध आदि विकार, जो मन में सदा व्यायाम करते रहते हैं उन सब को उत्पत्ति काल में ही पहचान कर इन्हें टालता-टालता कर्म करने का अभ्यास करे जिससे कि ये अनावश्यक रूप से मन में छाये हुए बल न पकड़ पायें। यदि स्मृतिपूर्वक कर्म नहीं होंगे तो ये भूल में सदा मन में कसरत करते रहेंगे। मिथ्या काम या क्रोध आदि वे हैं जिनकी आवश्यकता मनुष्य थोड़ा भी विचार करने पर कभी भी महसूस नहीं करेगा, परन्तु आदतों के कारण वे सदा सिर पर लदे रहते हैं और सब मिथ्या कर्मों को मिथ्या सुख के लिये उकसाते और करवाते रहते हैं। इन्हीं सब मिथ्या कर्मों से और उनकी प्रेरणाओं से बचने के लिये मन

की उपस्थिति (हाज़री) या स्मृति रखनी पड़ती है। तब सब कर्म करते हुए भी अन्त में दुःख में पहुँचाने वाले ये मिथ्या कर्म और मिथ्या सुख का काम (इच्छा) आदि हर समय मन से उतारते या निकालते रहने का अभ्यास करते रहना है। इससे आदतों का बल क्षीण होगा। यदि यह स्मृति मन में न बनी रही तो खाली मन में तो वही स्वाभाविक (इच्छादि) लदे हुए उधर अपने मिथ्या मार्ग पर ही डालने के लिये बल करते रहेंगे और मनुष्य भी उनके आगे झुक जायेगा और अपना भला तो क्या बुरा ही करने के मार्ग पर बढ़ता रहेगा।

स्पष्टीकरण: पिछले पद्य में सूचित सम्यक् ज्ञान (सही ज्ञान) के लिये ध्यान, विचार और जगत् में उत्तम आचरण का होना अतीव आवश्यक है। यह सब तभी बन पायेगा यदि हर समय मनुष्य का मन अपनी उपस्थिति (हाज़री) और सावधानी रख सके और करने योग्य कार्य की स्मृति (याद) भी बनी रहे। परन्तु प्रकृति का वेग अपना ही बल रखता है। वह विषय सुख और उस के उपायों में ही मन को भटकायेगा और उन्हीं को ही सुझायेगा; और मन की शुद्धि की तो स्मृति (याद) तक भी नहीं आने देगा। इसलिये यह पद्य प्रकृति के बल से बच कर कर्म करने के लिये स्मृति के बल का निरूपण करता है।

याद को आबाद, रहने दे न विषय जाल,
इन्हीं की दलीलों की, अश्लील सारी चाल।
इन से बचा बसा रहे जो, निज में जिसका ज्ञान,
सर्व विध वीर्य करे, करे अमृत पान।। ।८।

卐卐

पिछले पद्य में स्मृति बल की चर्चा की गई थी। इस पद्य में वीर्य बल द्वारा ध्यान, विचार के आनन्द सहित परमपद रूप आत्मा का नित्य सुख रूप अमृत पाने का उल्लेख किया गया है।

शब्दार्थ: सांसारिक सुख जिनसे प्राप्त होता है ऐसे उन विषयों का जाल ही मनुष्य की सही स्मृति को स्थिर या टिका रहने नहीं देता। विषयों का जाल अपनी स्मृतियां (यादें) रच-रच कर उनसे सुख पाने की ही युक्तियां (दलीलें) रचता रहता है। यद्यपि वे सब युक्तियां (दलीलें) अपने आप में अश्लील (भद्दी) ही होती हैं। उनका जगत् में प्रकाश करना भी सुहावना नहीं लगता परन्तु विषय सुख का कामी जन उन्हीं चालों में उलझा रहता है।

जिस पुरुष का अपना स्मृति रूप ज्ञान इन से बचा रह सका वही पुरुष सब प्रकार का वीर्य बल कर सकेगा और ध्यान विचार के आनन्दामृत पान के साथ-साथ परमपद रूप आत्मा के नित्य सुख का भी अमृतपान कर सकेगा।

स्पष्टीकरण:- सब प्रकार के काम क्रोधादि विकार और राग द्वेष आदि बन्धनों को इनके परिवार सहित टालने के लिये वीर पुरुष के समान स्थिर रहना; इन विकारों से प्रभावित न होना ही वीर्य रूप बल है। वीर के समान भाव और उद्योग बनाये रखना ही वीर्य बल का स्वरूप है।

वैसे ही सब प्रकार के उत्तम गुण; जैसे कि वैराग्य, क्षमा, संतोष आदि हैं, इन सब को अपने में उत्पन्न करके धारण करने के लिये उद्योग करना रूप भी वीर्य बल कहा जाता है।

इसी प्रकार सब प्रकार की बुराई या दोषों को सदा के लिये ही मन से निकाल देने के लिये ध्यान और सही ज्ञान (सत्य ज्ञान) द्वारा यत्न करने को भी तीसरा वीर्य बल कहते हैं। सही ज्ञान से विपरीत मन का विषय सुखों को सही या शुभ (बढ़िया) जताने वाला ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या ज्ञान को ध्यान की एकाग्रता में छानबीन या खोज द्वारा उत्पन्न किया गया सही ज्ञान ही नष्ट कर सकता है।

वैसे ही सब प्रकार की अच्छाई या गुणों को सदा के लिये मन में बसाये रखने के यत्न या उद्योग को वीर्य बल कहते हैं। यह चतुर्थ वीर्य बल है। यह चार प्रकार का वीर्य वही जन कर सकेगा जिसकी स्मृति अपने में बसी रहे (आबाद रहे), विषयों की दलीलों से उजड़ न जाये। तब सब प्रकार के वीर्य करने से ऊपर कहे ध्यान, विचार का अमृतपान होगा। स्मृति के बारे में आगे पुनः स्थान-स्थान पर स्पष्टीकरण मिलता रहेगा।

विषयों का रस जैसे कामादि पोषित,
नियम, कर्म, धर्म, सब कुछ गँवादे।
बोधादि प्रीति से, प्रेरित वैसे,
ध्यान का रस सारे जग को भुलादे।। ।६।

विषयों के सुख के साथ प्रीति और सत्य वस्तु का ध्यान द्वारा ज्ञान ये दोनों साथ-साथ समान रूप से नहीं चल सकते। जैसे-जैसे विषयों के सुख से वैराग्य (जगत् से वैराग्य) बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे ध्यान और विचार द्वारा सत्य के ज्ञान रूप बोध की प्रीति भी बढ़ती जायेगी जिससे विषयों व जगत् के बन्धन से मुक्ति मिलेगी। इस प्रकार

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

की मुक्ति मिलने पर मनुष्य का मन संसार के भार से हल्का हो जायेगा। ऐसे हल्के हुए मन को अपने आप में जागते रहने पर नित्य (सदा बने रहने वाला) आनन्द प्राप्त होगा।

पिछले पद्य (प. ८) में विषयों की प्रीति से सम्यक् (सही) ज्ञान और उसके हेतु ध्यान का जो विरोध प्रकट किया गया था, उसी को स्पष्ट करने वाला यह पद्य है।

शब्दार्थः- पुनः-पुनः विषयों की इच्छा और लोभ से और पुनः-पुनः उनकी तृप्ति हेतु कर्मों से और उस विषय सुख की उत्तमता का भाव आदि से पुष्ट होने वाली विषयों की प्रीति रूप रस या राग-रूप बन्धन से सब प्रकार के कल्याण हेतु नियम, कर्म और धर्म नष्टप्रायः (नष्ट जैसे) हो जाते हैं। अर्थात् बढ़ा हुआ विषयों का राग-रूप रस इन नियमादि सब को नष्ट कर देता है।

इसके विपरीत यदि बोध अर्थात् सत्य वस्तु के ज्ञान से प्रीति हो जाये तो उससे सही ज्ञान की प्राप्ति के हेतु ध्यान से प्रीति हो जायेगी। इस ध्यान और सत्य के ज्ञान से सारा जगत् अपने सुखों को साथ लिये हुए मन से उतर जायेगा। मन इसे भुला देगा। तभी आत्मा हल्का होगा और उसका नित्य आनन्द व्यक्त या प्रकट होगा। जिससे मनुष्य अपने आप को कृत-कृत्य समझेगा। यही अन्तिम मुक्ति है।

स्पष्टीकरणः- विषयों का जाल अपना अल्प सुख दिखलाता है, इसलिये मधुर (मीठा) प्रतीत होता है। इसी से मनुष्य इनसे प्रीति कर बैठता है। उस प्रीति (रस) से उसकी बार-बार इच्छा होती है तथा इच्छा पूर्ण करने के सुख को उचित मात्रा से अधिक मात्रा में ग्रहण करने के

卐卐卐

लिये जो मन का झुकाव है यही लोभ शब्द से कहा गया है। लोभ भी उनके सुख का जन्मता है । इन सब इच्छा लोभादि को पूरा करने से उन विषयों की प्रीति रूप राग बन्धन और भी बढ़ जाता है। वैसे ही मीठा लगने वाले सुख से विषयों की उत्तमता का भाव भी बनता है। इससे राग बन्धन और भी पुष्ट होता है।

ऐसे बढ़ा हुआ राग सब प्रकार की पवित्रता के कर्मों को विकृत करता है (बिगाड़ता है); तप, स्वाध्याय और संतोष आदि नियमों को नहीं बनने देता। वैसे ही अहिंसा, सत्य बोलना, चोरी न करना, नशे आदि से दूर रहना व मिथ्याचार से बचने आदि के कर्म भी बनने नहीं देता। अपने को संयत (काबू) रखने के किसी भी धर्म का पालन नहीं होने देता। काम, क्रोधादि को रोकना, मन की पवित्रता के विचारों को धारण करना आदि सब उत्तम धर्म का वैरी है।

विषयों का (बढ़ा-चढ़ा) अधिक मात्रा में सेवन किया हुआ सुख या सब विषय सुख अन्त में मनुष्य को कहाँ पहुँचायेगा? किस दुर्गति में डालेगा ? विषयों की प्रीति का अन्तिम परिणाम (नतीज़ा) क्या होगा ? वास्तव (सही) में मनुष्य का हित किस में है ? इत्यादि बोध या सत्य के ज्ञान के साथ यदि किसी की प्रीति हो गई या जगा ली गई तो यह प्रीति ध्यान की प्रीति के साथ मिलकर सारे जगत् को ही मन से उतार देगी। जिससे आत्मा में नित्य सुख रूप परम पद की प्राप्ति होगी।

卐 प्रथम विद्या वर्ग समाप्ति 卐

卐卐

卐 अथ द्वितीय अस्मिता क्लेश वर्ग 卐

जब अपने में न मरी, 'मैं मेरी',
दूसरों को भी बांधे वह तेरी।
खोजे निज में न मिली जब वह कुछ;
तभी दूसरों में भी पायी वह तुच्छ।। ।१० ।

पिछले (१-६) पद्यों में विद्या का प्रसंग था। विद्या द्वारा अविद्या के नाश के हेतु सम्यक् (सही) ज्ञान, ध्यान, विचार और उत्तम आचार की भी चर्चा की गई। पुनः इन्हीं के प्रसंग में स्मृति और वीर्य के बलों को भी उपाय रूप से दर्शाया गया। अब आगामी (आगे आने वाले) वर्ग में १०-१६ पद्यों में अस्मिता, अस्मिमान, अहंकार आदि नामों से शास्त्रों में प्रसिद्ध 'मैं' या 'मैं' के भाव रूप क्लेश या बन्धन का प्रसंग है। वैसे ही इसी अस्मिता या 'मैं भाव' से मुक्ति के उपाय की भी चर्चा की गई है। इसी प्रकार 'मैं' के साथ 'मेरी' के भाव का भी प्रसंग है।

शब्दार्थः- जब अपने में ही मनुष्य की 'मैं' और 'मेरी' (अहंता व ममता का भाव) न मरी तो यह बाहर जगत् के स्वार्थ पर टिकी हुई 'मैं' और 'मेरी' अन्य दूसरे जनों को भी उनमें 'मैं' और 'मेरी' के भाव को उत्पन्न करके बाँधती है और बहुत प्रकार से दुःखी करती है। बहुत प्रकार से मिथ्या कर्म करवाती है।

यदि अपने में बाह्य स्वार्थ क्षीण करके किसी ने इसको (मैं, मेरी को) उत्पन्न होने का अवसर (मौका) ही न दिया तो यह अपने आप में खोजने पर भी नहीं मिलेगी। तब

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

दूसरों में भी आप के राग द्वेष वाली यही 'मैं' तुच्छ (न के समान) ही दिखाई पड़ेगी। केवल बाहर के व्यवहार (जीवन धारण मात्र के लिये आवश्यक) मात्र के लिये ही उपजेगी और वहीं शान्त हो जायेगी और अनन्त आत्मा को और उसके आनन्द को ढांकने वाली नहीं होगी।

स्पष्टार्थः- किसी व्यक्ति द्वारा कटु (कड़वा) वचन बोला जाने पर, या मानहानि करने पर किसी को दुःख हुआ या उसका सुख बिगड़ गया तो 'मैं' तुरन्त उछल पड़ती है। जब यह उछल पड़ी तो मनुष्य में तुरन्त यह भाव होता है कि अमुक (फलां) व्यक्ति ने मुझे दुःखी कर दिया या मेरा सुख बिगाड़ दिया। उसी भाव द्वारा इसके भीतर दूसरे की भी 'मैं' रची गई। अब वह उससे दुःखी होकर जो कुछ भी उससे बर्ताव करेगा वह उत्तम तो होगा नहीं, द्वेष, क्रोध पूर्ण बर्ताव ही होगा। उससे दूसरा भी दुःखी होगा। यदि कोई अपने बिगड़े सुख की व दुःख की चिन्ता न करे, दुःख को तप रूप से स्वीकार करके सहन कर ले और दुःख दाता के प्रति मन में द्वेष व क्रोध को न आने दे। आगे जो कहे जाने वाले दस बलों का सहारा लेता रहे तो यह 'मैं' अपने आप में ही मर जायेगी। केवल बाह्य सुख के स्वार्थ से या दुःख टालने के कारणों से ही मनुष्य में 'मैं', 'मेरी' का भाव जन्मता है। यही संसार में 'मैं' जन्मती है। यदि बाह्य सुख का त्याग कोई कर सका; तथा बाह्य दूसरों की लाचारी (बाध्यता) या अज्ञान से होने वाले दुःख में भी अपने विपरीत रूप से भड़के मन को शान्त करने में सफल रहा; और मैत्री आदि बलों के द्वारा

卐卐

बाहर जगत् में सब प्राणियों में अपने समभाव को भी बनाये रखने में सफल उतरा तो उसकी यह 'मैं' या 'मेरी' का क्लेश सदा के लिये शान्त हो जाएगा। ऐसा मनुष्य अपने आप में (आत्मा में) ही अनन्त शान्ति को प्राप्त होगा। उसे संसार में जन्मना ही नहीं पड़ेगा। यह 'मैं' 'मेरी' का क्लेश कई प्रकार से जन्मता है; कई एक शाखाओं से फैलता है। जहाँ-जहाँ जन्म से बच्चे के दुःख को भुलाने के लिये उसके मन को खींचा गया है, उसे मान, आदर, गौरव से बढ़ाया गया है, प्रीति की वस्तुओं में, खाने-पीने आदि में लुभाया गया है, उन सब में उसे सदा बने रहने का भाव बन गया है। यही उनके संग सदा बना रहने का भाव बाहर जगत् में अपनी 'मैं' को बनाये रखना चाहता है। जिन-२ वस्तुओं या प्राणियों के संग से खुशी या सुख हुआ है, उस सुख के उछाल में बच्चे को 'मैं' भाव प्राप्त हुआ है, वह अब मरना या उसका 'न रहना' कभी भी उसे नहीं भाता। परन्तु यह बाहर की 'मैं' सदा रहने की नहीं। समय बाहर के सब सुख रहने नहीं देगा। उनके संग वाली 'मैं' पुनः कैसे रहेगी। इसलिये इसका मोह छोड़कर अपनी नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा में ही ठिकाना पाना अन्तिम भलाई रूप से प्राप्त करना पड़ेगा, नहीं तो जब जगत् के सुख समय ने धूल में मिला दिये तो उसकी 'मैं' कभी भी अनुभव में नहीं आयेगी। तब अविद्या का अन्धकार जीव को अपने विनाश की शंका उपजायेगा। जीव उस विनाश की शंका को मिटाने के लिये पुराने सुखों के संस्कार जगा-२ कर उन्हीं पुरानी कामनाओं के सुखों को याद

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

करता, मर कर न जाने अपने किन कर्मों की दुर्गति को प्राप्त होगा। इसलिये इस 'मैं' का त्याग होना चाहिये।

मति व स्मृति का न जो रहे सन्निधान,
तो अविद्या सही करे तुझे परेशान।
जगाये संस्कार रचे सभी नाम रूप,
वही पुनः पात करे, अतल भव कूप।।
। ११ ।

पीछे कहे गये 'मैं' या 'मेरी' के भाव को उत्पन्न करने वाली है अविद्या। इसी सत्य को आगे के पद्यों में स्पष्ट किया जा रहा है।

शब्दार्थः-जब तक एकान्त में बैठने वाले व्यक्ति को अन्दर के या आत्मा के सत्य और जगत् के सत्यों के बारे में मति या बुद्धि अभी निकट रूप से उत्पन्न नहीं हुई अर्थात् अन्दर के सत्यों का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं हुआ तो अविद्या नाम वाला क्लेश 'मैं भाव' को जगत् में जन्मा-जन्मा कर मारता ही रहेगा और वैसे ही स्मृति की निकटता न रहने पर संस्कार या वासनायें अपनी उत्तेजनायें (जोश) और कामादि विकार उपजा-उपजा कर मनुष्य को निश्चय रूप से परेशान (क्लेश-युक्त) करते ही रहेंगे। अल्प (थोड़े) सुख के कारण बड़े दुःखदायी कर्मों या भोगों के चक्र में डालते ही रहेंगे, यही परेशानी है। सांसारिक वस्तुओं का स्वरूप मन में उपस्थित करके उनके नामों द्वारा उनके रंगीन चित्र मन में जगा-जगा कर दिनों दिन उनमें लिप्त करके हीन से हीन स्थितियों में यह संस्कार या सांसारिक वासनायें मनुष्य को गिराती जाती हैं। मनुष्य को पापी, चोर, ठग,

कपटी आदि की हीन स्थितियों में भी गिरना पड़ता है। यही अविद्या और संस्कारों (वासनाओं) द्वारा बाधित (लाचार) होकर सब कुछ होना पड़ता है। यही एक होने के पश्चात् कुछ और होना रूप भव का कहीं अन्त ही नहीं होता। दिनों दिन गिरावट की ही स्थिति बनती है। यही कूप रूप से यहाँ कहा गया है। इसका कहीं अन्त ही नहीं हो पाता। इसलिये यह तल रहित कूप रूप से वर्णन किया गया है। इसे शास्त्रों में भव सागर की उपमा से भी कहा जाता है। सागर का भी पार पाना दुष्कर है।

स्पष्टीकरणः- यदि ध्यान, विचार और संयम आदि द्वारा जगत् के बारे में, अपने जीवन के कल्याण हेतु सही ज्ञान नहीं उपजा, सांसारिक सुख का अन्तिम परिणाम क्या होगा ? तथा सुख बना भी रहेगा कि केवल क्षणिक, दिखावटी ही है ! इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं लाया गया तभी अविद्या की परेशानी सहन करनी पड़ेगी। केवल शास्त्र सुनने व पढ़ने से, अथवा सत्संग द्वारा ही ये 'मैं', 'मेरी' का क्लेश नहीं कटेगा। साधन द्वारा ही सब अनुभव में लाने होंगे। तब सच्ची प्रेरणा मिलेगी। तभी थोड़ा दुःख पाकर भी इन सब क्लेशों से मुक्ति का मार्ग चला जायेगा। इस थोड़े सांसारिक सुख का बन्धन इतना प्रबल है कि यदि इस सुख की तुच्छता का अनुभव रूप ज्ञान नहीं तो झट मनुष्य स्मृति (याद) से हीन होकर पुनः आदतों के मार्ग पर चल पड़ने को प्रेरित हो जाता है। उसे सोचने तक का भी अवकाश (मौका) नहीं मिलता। मान, द्वेष, राग, संशय आदि बन्धन उसकी मति और स्मृति को

हर लेते हैं। यह सब एकान्त में बैठने वाले व्यक्ति को अनुभव होगा।

साधारण जीवन में रास्ता चलते, किसी से भी बातचीत करते, इसी प्रकार खाना खाते या अन्य कोई भी कर्म करते हुए अपने मन की उपस्थिति (हाज़री) रखे। इसी को ही स्मृति कहा गया है। दूसरे शब्दों में यूँ भी कह सकते हैं कि अपनी याद या सुरत व सुधबुध ठिकाने रख कर सब कर्म करे। तब अपने मन में जैसे-जैसे मान, द्वेष, क्रोध, काम आदि विकार उत्पन्न होकर मति या बुद्धि को हरने लगेंगे और मिथ्या रूप से दुःख के मार्ग पर, सोच विचार हर कर डालना चाहेंगे तो तुरन्त इनकी समझ पड़ जायेगी और मनुष्य अपने को वश में रख कर मौका चूकने नहीं देगा और दुःख के मार्ग पर नहीं पड़ेगा और इन सब मान आदि बन्धनों से मुक्त होने के लिये समय पर, व पीछे भी कुछ अपने लिये कर सकेगा। और जो कुछ भी इन्हीं मान, अपमान, द्वेषादि बन्धनों के तनाव से मनुष्य अपना मिथ्या रूप से थोड़ा लाभ या अच्छाई समझ कर खोटा करना चाहता था; इसे बड़े धैर्य से त्यागने में समर्थ होगा।

लुप्त मति स्मृति रही, हुआ अन्धकार,
अभाव को प्रतीत कर, जागे संस्कार।
जग में बना रहने का जो सहज 'मैं' का भाव,
आक्षिप्त करे 'नाम रूप', 'करण मरण' स्राव।।

। १२ ।

जीवन काल में भी मति और स्मृति से विहीन (रहित) मनुष्य को एकान्त में अर्थात् दूसरों के संग के बिना जीवन

धारण करना या समय व्यतीत करना भारी या दुष्कर प्रतीत होता है। यह सत्य पूर्व पद्य में दर्शाया गया। इस पद्य में अब यह दर्शाया जा रहा है कि जैसे जीवित मनुष्य को मति स्मृति से विहीन होने पर जगत् की ही शरण लेनी पड़ती है, इसी प्रकार मरने पर भी मति स्मृति से रहित जन को पुनः वहाँ अपने आप में शान्त सुख न रहने पर पुनः जगत् में ही कुछ न कुछ होना पड़ेगा। अपनी बाधाओं (लाचारियों) द्वारा बालपन से वृद्धावस्था तक या मरने के समय तक नित्य प्रति कुछ का कुछ होते-होते न जाने मनुष्य क्या होकर मरता है। पुनः इसी के अनुसार कैसे-कैसे संस्कार आगे जाग कर उसे मृत्यु-रूप निद्रा में किस प्रकार के स्वप्न के जगत् या संसार दिखाते हैं। वहाँ मति विहीन का अपना कुछ वश तो है ही नहीं। जैसे कुछ संस्कार अविद्या ने जगाये वैसे ही उसे शरीर इन्द्रियादि वहाँ प्राप्त हो जायेंगे। पशु-पक्षी, कीट-पतंग तक भी वह अपने आप को दुष्कर्मों द्वारा हुआ-हुआ देख सकता है। यह सब संसार बड़ा भयंकर है। इसलिये मति और स्मृति से विहीन रहकर मनुष्य जैसे नहीं मरता वैसा ही प्रयत्न जीवित काल में करे।

शब्दार्थः- यदि मरने के समय मति और स्मृति लुप्त रही अर्थात् या तो यत्न से उपजायी ही नहीं, और यदि कुछ दुःखों के अधिक अनुभव से कुछ मति जन्मी भी तब भी वह इतनी दुर्बल रही कि मरने के समय मृत्यु दुःख ने उसकी उपस्थिति नहीं होने दी और केवल मनुष्य मति के प्रकाश से विहीन (रहित) अविद्या (अविद्या का स्पष्टीकरण

卐卐

आगे होगा) के अन्धकार में ही पड़ा-पड़ा मरा। ज्ञान स्वरूप पुरुष को या जीव मात्र को यह अन्धकार भला कब तक भायेगा? अन्त में इस अविद्या में किसी भी ज्ञान का प्रकाश न होना दुःख रूप प्रतीत (महसूस) होने लगा। और अविद्या की दशा में ज्ञान से रहित अवस्था के अनुभव होने पर अपना आपे का विनाश (न रहना) जैसा समझ में आने लगा। यही बड़ा दुःख रूप से अनुभव में आने लगा। तब दुःख ने अन्दर के संस्कार जगा कर पुराने ज्ञानों को ही जन्माया और थोड़ा दुःख कम कर दिया। ज्ञान जागने पर अपने आप के होने की समझ पड़ने लगी। विनाश की शंका कुछ समय के लिये मिट गई। शनैः-शनैः जगत् में ही बहुत जनों में कोई एक व्यक्ति होने का भाव ही सुख रूप प्रतीत हुआ। उससे पुनः सारी वस्तुओं के स्वरूप और नाम संस्कारों द्वारा रच दिये गये। उस सब नाम रूप जगत् को पुनः ग्रहण करने के लिये इन्द्रियगण रूप विषयों के ग्रहण करने के साधन करणों का आक्षेप (रचना) हुआ, यह सब अविद्या से ही निकले। इसी के साथ पुनः भोग साधन शरीर की भी उत्पत्ति रूप जन्म हो गया। जन्म कर कोई भी वस्तु या प्राणी समान रूप से सदा तो रह नहीं सकता। अन्त में परिवर्तित होते-होते (बदलते-बदलते) समाप्त हो गया अर्थात् मर गया। मरने के पश्चात् पुनः अत्यन्त विनाश तो है नहीं। इसलिये पुनः स्वभाव से बना रहने के भाव ने जैसे पहले जन्मा कर मारा था, वैसे ही पुनः-पुनः जन्मा-जन्मा कर मारना है। वैसे ही इसी 'मैं' को जगत् में उत्पन्न करके मारना है। यही जन्म-मरण का

स्राव अर्थात् बहाव है। इस प्रकार यह ज्ञान विहीन, मति स्मृति से रहित मनुष्य का कभी भी समाप्त होने का नहीं। यही इस पद्य से सूचित हुआ।

संसार की तृष्णा की, वेगवती बहे धार;
अदृष्ट रह के सार की, दे सुध-बुध मार।
प्रथम तो उत्पन्न होने दे, न सूझ-बूझ;
है अविद्या यही, राखे जग में रूझ-झूझ।।
।१३।

एकान्त में बैठने पर मनुष्य का मन अपने आप में रमण नहीं करता अर्थात् आत्मा में सुख नहीं पाता। संग दोष होने पर भी और दुःख का अनुभव करने पर भी वैर, विरोध, संघर्ष-पूर्ण संसार में ही पड़ा रहना चाहता है। ऐसे ही मरने के उपरान्त (पीछे) भी पुनः संसार में ही जन्म लेने के लिये उतावला रहता है। इस सब का क्या कारण है ? यह पद्य इसी सत्य को दर्शाता है।

संसार की तृष्णा की तीव्र गति वाली धारा जीव में सहज स्वभाव में बहती रहती है। जब मनुष्य में देखने, सुनने आदि की शक्तियाँ रची गई हैं तो दीखने सुनने का संसार भी इन्हीं के साथ है। द्वैत जाल (नाना विध रचना) यदि रचा है, तो उलझन का भी साथ-साथ ही होना स्वाभाविक है। इसी में दीखता तो सुख है चाहे वह कितना भी अल्प (थोड़ा ही) क्यों न हो। इसी से इस संसार की तृष्णा जीव के स्वभाव में सदा बनी रहती है और बहती रहती है। स्वयं वह आँख, कानादि से देखने सुनने में नहीं आती; अदृष्ट रहती है परन्तु सत्य समझने में मनुष्य की

सुध-बुध को मार देती है। अवसर (मौका) पड़ने पर यदि उचित ज्ञान बना रहा तो यही सुध शब्द से कहा जाता है। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि विकार जब विपरीत दिशा में खींच कर ले जाते हैं तो ऐसे मौके पर सम्भलने का ज्ञान यदि बना रहा तो यही सुध है। यही पद्यों में स्मृति और मन की उपस्थिति के शब्दों से जनायी गई है और जो विचार द्वारा किसी वस्तु का निर्णय करेगी वही बुद्धि 'बुध' शब्द से पद्य में कही गई है। इसी को ही मति शब्द से भी जनाया है। इस तृष्णा की तीव्र गति वाली धारा में इन दोनों को सम्भाले रखना कठिन प्रतीत होता है। प्रथम में (अव्वल में) तो यह निद्रा आलस्य आदि लाकर सुध-बुध का मार्ग ही रोक देती है या काम या इच्छाओं के सुख आदि में ही भुलाये रखती है। यदि कोई सुध-बुध उत्पन्न करना या बनाये रखना चाहे तो यह तृष्णा की धारा विपरीत मति (ज्ञान) उत्पन्न करके उसे नष्ट कर देती है। यही सत्य पर पर्दा रूप होने से अविद्या कही जाती है और जीव को संसार में ही उलझाये रखती है और सदा संशय में बनाये रंखती है। यही रूझ-झूझ का अर्थ है।

जग की वस्तुओं के संग पाया 'मैं' का भाव,
उनका हान होना ही है, कड़ा 'मैं' का घाव।
हुआ जो कुछ भी न प्रतीत, छुपा यही मैं का भाव;
यही अविद्या मूल किया, जो प्रतीत अभाव।।
। १४ ।

संसार में होने की तृष्णा सब जीवों में है और यही

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

तृष्णा इस जीव को इसमें उत्पन्न करती और मारती रहती है। परन्तु मनुष्य इस दुःख रूप संसार में क्यों बना रहना चाहता है जब कि दुःख में तो कोई भी होना नहीं चाहता, इसका उत्तर इस पद्य में दिया गया है कि :-

कोई भी जीव या प्राणी अपने आपका विनाश या 'न होना' नहीं चाहता, सदा बना रहना चाहता है। यदि वह संसार के बिना भी अपने आप के उच्छेद (विनाश) की शंका से रहित रह सके तो पुनः संसार में 'मैं' भाव पाने की आवश्यकता न रहे। परन्तु जीव ने तो जग की वस्तुओं के साथ ही 'मैं' का अनुभव किया है, अर्थात् जगत् के प्राणी और पदार्थों के साथ ही अपने आप को बना हुआ या बसा हुआ पहचाना है। इनके बिना तो अपना 'न होना' या विनाश या उच्छेद (उजड़ जाना) ही समझ बैठता है। जब अकेले में यदि कोई प्राणी पड़ जाये या मर जाये तो वस्तुओं के संग की हानि होने से उसे अपनी 'मैं' ही नहीं मिलती। उसकी 'मैं' तब मिले जब वस्तुओं का संग किया जाये, उन से तृप्ति हुई या सुख मिला तो सुख में ही उसे अपने आप के होने या बने रहने का अनुभव होता है। यदि वस्तुओं का संग नहीं तो 'मैं' ज्ञान रूप से बसी हुई भी आहत या घाव-युक्त अर्थात् दुःखी सी रहती है, क्योंकि वस्तु अकेले में नहीं मिलती। उनका संग न रहने पर 'मैं' भाव भी छुप जाता है। उसका ज्ञान रूप से विनाश या उच्छेद न होने पर भी सांसारिक 'मैं' के रूप में छुप जाने पर मनुष्य उसको पाने के लिये संसार का ही सहारा लेता है। यही अविद्या है जोकि उसके सहज ज्ञान का न होने

(अभाव) को प्रतीत करके (महसूस करके) प्राणी को वस्तुओं के संग वाली 'मैं' के लिये जन्माती है।

वास्तव (असलीयत) में जो जीव का स्वरूप है वह तो सनातन (सदा रहने वाला) है, उच्छेद (विनाश) रहित है। यदि उसका जीवन काल में अनुभव कर लिया गया और उसके लिये सारे जगत् के राग-द्वेष आदि बन्धनों का त्याग कर दिया जा सके तो उसे विनाश या उच्छेद की शंका ही न रहेगी। और पुनः संसार में 'मैं' भाव के जन्म आदि की भी आवश्यकता न होगी। यदि ऐसा नहीं हो सका तो ठीक ही है कि जैसे कोई प्रिय पान (पीने की वस्तु) पीने वाले को मिल गया तो वह अपने आप में है और नहीं तो उसकी तृष्णा के बन्धन में बन्धा हुआ उसके बिना खोया-खोया सा रहता है और उसे वह अपनी वस्तु की तृप्ति की 'मैं' भी नहीं मिलती। उसको पाने के लिये वह वहीं-वही भटकेगा जहाँ कि वह मिले। इसी प्रकार अपने में पूर्ण चेतन ज्ञान रूप परमात्मा सबकी आत्मा रूप से बसा हुआ उस प्राणी के लिये पुनः वैसा ही संसार प्रकट कर देता है जहाँ कि उसकी तृप्ति हो और उसकी आत्मा अपनी वस्तु पा जाये। हम देखते हैं कि प्रबल संस्कार स्वप्न में भी सृष्टि रच कर मनुष्य को वहाँ वस्तुओं के संग में डाल देते हैं। यही संस्कार ही अच्छी बुरी सब प्रकार की सृष्टि दिखलाते हैं।

जैसे कोई अपने परिवार में बसा हुआ प्राणी अपने आप को संतुष्ट पाता है; अपने परिवार में उसे अपना आपा स्वस्थ प्रतीत होता है। वैसा उसे परिवार के वियोग में वह अपना आपा (आत्मा) नहीं प्रतीत पड़ता। इसीलिये

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यदि वह अपने परिवार से दूर कहीं कुछ दिन जाकर बिताये या बसे तो उसे वह अपना आपा जो कि परिवार में ही मिलता या अनुभव में आता था, वह खोया हुआ सा प्रतीत होता है। बिना परिवार में होने की प्रसन्नता (खुशी) से वह आनन्द रूप अपना आपा या आत्मा नहीं मिलता। यद्यपि वह मरा नहीं, बसा है; परन्तु वह तो परिवार वाली 'मैं' को ही पहचानता है; केवल आनन्द स्वरूप, सर्वव्यापक सदा बसे रहने वाली ज्ञान रूप अपनी 'मैं' को नहीं पहचानता। परिवार का संग सदा एक जैसा रहता नहीं, तब भी उसका मोह और राग रूप बन्धन न छोड़ने के कारण अपनी सदा रहने वाली आत्मा में ज्ञान नहीं जागता, वह ढकी ही रहती है और यह प्राणी मर जाता है और पुनः उसी मिथ्या 'मैं' के ही स्वप्न देखता रहता है। यही सब अविद्या का चक्र है। यही संसार में पुनः जन्मता है।

बने रहने का भाव, दे पुनः चित्त को जगा,
जिसमें सारे बन्धन और विकारों का दगा।
दुःख वृद्धि अन्त में पुनः मौत की शरण;
निद्रा में जैसे स्वप्न पुनः जन्म का वरण।।
।१५।

जैसे नेत्र आदि इन्द्रियों से वस्तुओं का संग छोड़कर एकान्त में स्थित होने पर, इसी प्रकार (वैसे ही) मरने के उपरान्त जब सब का संग छूट जाता है तो 'मैं भाव' भी खोया हुआ सा जान पड़ता है। जैसा कि पिछले पद्य में जताया गया है अर्थात् 'मैं' रूप से छुपा हुआ आत्मा

卐卐

अविद्या से ढक जाता है। अब यदि अपनी वास्तविक (असली) ज्ञान रूप, सब में एक समान आत्मा का ज्ञान या साक्षात्कार नहीं तो पुनः जीव की क्या दशा होती है ? इसको यह पद्य इस प्रकार निरूपित करता है कि :-

कोई भी जीव कैसी भी अवस्था में हो वह सदा बना ही रहना चाहता है। इसलिये उसे मरने से भी भय लगता है कि कहीं मरने पर मैं नष्ट न हो जाऊँ। वह नाश रहित अपनी अन्तरात्मा (अपना सही स्वरूप) को नहीं पहचानता। इसलिये सदा बना रहने का उसके अन्दर जो भाव बना है वह पुनः एकान्त में व मरने पर भी पुनः उसमें संस्कार जगाकर चित्त (चिन्तन धारा) को जगा देता है। सुख की वस्तु का चित्त राग रूप, दुःख की वस्तु का चित्त द्वेष रूप बन्धनों को और काम क्रोध आदि विकारों को पुनः जगाकर उस प्राणी को पुनः स्वप्न के समान ही जगत् में पटक कर छलता रहता है क्योंकि इन से कम से कम यह प्रतीत तो होता है कि इनके सहारे बने रहने से सुख होगा और सुख या आनन्द रूप आत्मा (अपना आपा) की प्राप्ति होगी। परन्तु होती है दिनोंदिन दुःख की वृद्धि। यही 'दगा' (छल) शब्द से सूचित किया गया है। परिवर्तनशील शरीर और प्रत्येक जगत् की वस्तु से एक दिन सुख तो दुःख रूप और मित्र और प्रियजन, वैरी-विरोधी बन जाते हैं। तब मृत्यु की शरण के बिना उनसे छूटने का दूसरा कोई उपाय नहीं दीखता। परन्तु मृत्यु होने से सब दुःख तो टलता नहीं। वहाँ पर अपने आप की विनाश की शंका उपस्थित होकर दुःखी करती है तब पुनः वही संस्कार

卐卐

चित्त को जगा कर जैसी किसी की करनी है वैसा ही जन्म रच देते हैं। इस प्रकार यह दुःख कभी भी शान्त नहीं होता। पद्य में पुनः 'जन्म का वरण' शब्द समुदाय का अर्थ है कि फिर से जन्म ही स्वीकार करना पड़ता है।

रही जो मति स्मृति तो न छाये अविद्या तम,
विज्ञान रहे जीवन का, भले ही दुःख व गम।
लुप्त न विज्ञान, सार की रहे जो बूझ,
संसार की फिर धार में, खोयेगी कैसे सूझ।।
।१६।

पिछले पद्यों में दर्शाये गये 'मैं' भाव के क्लेश और अविद्या के क्लेश से पुनः इनके द्वारा रचाये गये जन्म मरण के चक्र से छुटकारे का मार्ग यह पद्य संक्षेप से दर्शाता है।

जो जीव संसार में उत्पन्न हुआ है उसका ध्यान जन्म से ही बाह्य जगत् की वस्तुओं में ही खोया रहता है । उन्हीं से अपने को सुखी बनाने में और दुःख से बचाने में खोया रहता है। वे सब वस्तुएं सदा एक समान अपना अनुभव नहीं देतीं। थोड़े से भी सुख के लिए इच्छा और राग रूप चिन्तन धारा या प्रीति का भाव घेरे रहता है। थोड़े से भी दुःख से द्वेष का ग्रह क्रोधादि विकार उपजा कर छलता है। एक दूसरे के साथ संघर्ष में और विपरीत कर्मों में उलझाये रखता है। मति या बुद्धि उन्हीं के निश्चय में खोयी रहती है। मन की उत्तेजनायें (जोश की अवस्थायें) भी वैसी ही होती हैं। सत्य का ज्ञान रूप मति उत्पन्न ही नहीं होती। सत्य पर पर्दा ही पड़ा रहता है। विपरीत

卐卐

(उल्टी) मति दुःख को सुख करके जताती है। वास्तव का (असल का) सुख अविद्या से ढका रहता है। थोड़ा भी बाह्य दुःख डराता है। कामनाओं में उलझे मन की मौके की मति या बुद्धि अर्थात् स्मृति या सुध भी सदा बिसरी ही रहती है। काम कहीं करता है, मन कहीं होता है। समझ के साथ कोई कर्म ही नहीं हो पाता ।

यदि मति और स्मृति को यत्न से कोई बनाये रखे तो न अविद्या का अन्धकार छाये न विपरीत मति बने, न स्मृति या सुध ही खोये। हर समय अपने जीवन का विज्ञान (विशेष ज्ञान) बना रहे । दुःख व शोक में भी उपस्थिति बनी रहने से करने योग्य और न करने योग्य का ज्ञान भी बना रहता है। क्या सार है इसकी भी बुद्धि बनी रहती है। तब पुनः ऐसा व्यक्ति दुःख पाने पर भी संसार की या तृष्णा की धारा में बहने से अपने को बचाता रहेगा । इस तृष्णा के सुख को छोड़ने में भी दुःख न मानेगा। उस व्यक्ति की संसार की धारा में कभी भी सुध या स्मृति नहीं खोयेगी और न ही भटकेगी ।

इस प्रकार स्मृति से सावधान होकर अपने आप में थोड़ा दुःख भी पाकर एकान्त में समय व्यतीत करने का अभ्यास बढ़ता जायेगा और उससे अन्दर के सत्यों का ज्ञान स्पष्ट समझ में आता जायेगा। जगत् के बाँधने वाले राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या आदि सब बन्धनों का जाल पहचान में आने लगेगा। स्मृति रख कर कर्म करने में इनको कर्म करते-करते टालने का भी अभ्यास हो जायेगा। बन्धन टलने पर आत्मा हल्का हो जाने पर एकान्त में भी

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

निद्रा के सुख से भी उत्तम सुख मनुष्य के मन को बहलायेगा। तब इसे संसार की व तृष्णा की धारा में बहने का कोई अवकाश ही न रहेगा।

इसके अतिरिक्त सब संसार के प्राणियों के जीवन का और सुख दुःख का और उलझनों का अपने ज्ञान में ही साक्षात्कार होने पर इस मार्ग की धन्यता का भी अनुभव होगा। तब संसार की धारा में कभी भी बुद्धि नहीं भटकेगी। यह तात्पर्य है।

卐 इति अस्मिता वर्ग। द्वितीय वर्ग समाप्ति। 卐

प्रथम वर्ग (पद्य १-९) तथा द्वितीय वर्ग (पद्य १०-१९) का सम्मिलित भावार्थ:

जैसे मनुष्य ने संसार में पदार्पण किया है और उसने अपना होश सम्भाला है उसे बाहर के प्राणियों में तथा पदार्थों में एक सुख प्राप्त हुआ है। अपने प्रियजनों में मधुर मुस्कराहट का होना जैसे उसकी प्रसन्नता वाली 'मैं' ही इस संसार में जन्मी हुई प्रकट होती है। यह इतनी प्रिय लग जाती है कि इसका वियोग असह्य (न सहने योग्य) प्रतीत होता है। परन्तु यह मिलती है इस लम्बे चौड़े संसार में ही, इन्द्रियों के जगत् में ही (अर्थात् हमारी आँखों या कानों से देखे या सुने जाने वाले जगत् में ही), इसी संसार की वस्तुओं के साथ ही। इसलिये इसी संसार में सदा बने रहने की या कुछ भी (इसी संसार का ही प्राणी) होने की तृष्णा (प्यास जैसे) इतनी बढ़ जाती है कि यदि यह संसार की प्रसन्नता या खुशी वाली 'मैं' न मिले तो मनुष्य का जीवन भी नीरस (फीका) जैसा प्रतीत होता है। इसके लिये सदा संघर्ष करता रहता है और न जाने क्या-क्या कर्म करके अपने भविष्य तक का भी विनाश कर बैठता है। इस संसार की बाह्य 'मैं' (प्रसन्नता, आनन्द वाली) पाने में इतना व्यस्त रहता है कि उसे इस संसार के (जगत् के) व आत्मा (अपने आप) के सत्यों के बारे में जानने की इच्छा तक भी नहीं होती कि जगत् में क्या कुछ किया हुआ किस प्रकार भविष्य में सामने आयेगा। सुगति (शोभन गति) और दुर्गति के बारे

卐卐

में विचार तक नहीं आता। यही माया (अविद्या) का या इस संसार की 'मैं' भाव का छल है। जीव को जिस 'मैं' को और उसके निमित्त सुखों को पाने के संघर्ष में सदा खोये रहना पड़ता है, उन सुखों के सदा बना रहने आदि के बारे में भी विचार तक नहीं उपजता। अपना परिवर्तित होता (बदलता) हुआ शरीरादि और मन की अवस्थायें तथा संसार और प्राणियों के भावों तक का भी कोई विचार नहीं होता। और दिनों-दिन 'मैं' के संगी साथी सुख भी उजड़ते हुए नहीं दीखते। दुःख भी समय-समय पर पड़ता है। परन्तु उन को भूल कर इस जीव की दृष्टि (निगाह) तो उसी (संसार वाली) 'मैं' वाले सुखों में ही खेलती और जकड़ी रहती है। जिस दिन समय आ गया बस मृत्यु के चंगुल में पड़ गया और उससे भी पहले ही उसकी 'मैं' और उसके सुख सारे उजड़ गये। यह सब 'मैं' के भाव (अस्मिता) का बन्धन है और उसकी जननी है अविद्या, जो कि सत्य स्वरूप को और सत्य ज्ञानों को ढाँके रखती है और कुछ का कुछ मिथ्या जाल ही सही या दुःख रूप से दर्शाती है। जीव सांसारिक सुखों को सदा बने रहने वाले जैसे समझ कर उन्हीं के लिये जीवन गँवा देता है। यदि यह अविद्या और उसकी बेटी 'मैं' सत्य ज्ञान द्वारा उद्योग करके नष्ट हो जायें (मर जायें) तो इस जीव को परमपद की प्राप्ति या सनातन (सदा बने रहने वाला) सुख मिल जाये। उसी के लिये मति और स्मृति का होना आवश्यक बतलाया गया।

यद्यपि संसार में होने की या बने रहने की तृष्णा का

बल पीछे बतलाया जा चुका है कि अतीव अधिक है तथापि मनुष्य में विवेक या सही ज्ञान उत्पन्न करने की योग्यता भी जन्म से पूर्ण रूप से ही है। यदि इस योग्यता से काम लिया जाये तो मनुष्य सुमति या सही ज्ञान को उपजा कर अपने आप को सही मार्ग पर रखने के लिये स्मृति का बल रखता हुआ इस संसार की तृष्णा की वेगवती धारा को भी निश्चय से लाँघ सकेगा।

मनुष्य में मति ही उत्पन्न होकर बतलायेगी कि सांसारिक सुखों में ही बने रहने का तात्पर्य (मतलब) है कि अपना आध्यात्मिक (आत्म-सम्बन्धी) विनाश और उन सुखों के साथ बढ़ी हुई तृष्णा की अग्नि जो कि कभी भी तृप्त न होती हुई न तो पूरी ही होगी और न बिना यत्न छोड़कर ही जायेगी। इसलिये वह बनी रहने वाली तृष्णा केवल अग्नि के समान जलाती ही रहेगी। इसके साथ क्षण का व्यतीत करना भी भारी प्रतीत होता है।

यदि इस तृष्णा के त्याग का दुःख, विवेक या सही ज्ञान रूप मति को रखकर थोड़ा-थोड़ा सहन करने का अभ्यास किया जाए और स्मृति या मौके की सुध को रखकर इस तृष्णा के विकारों में सही सब प्रकार के कर्म किये जा सकें, जीवन को दूसरों में सही प्रकार से रखा जा सका तो समझ लो कि धीरे-धीरे इस तृष्णा का बल क्षीण होने लगेगा। तब इस तृष्णा के पूरा न करने पर दुःख भी प्रतीत न होगा। जब दुःख न प्रतीत हुआ तो अपने अन्दर का ही या आत्मा का ही सुख व्यक्त (प्रकट) हो जायेगा। सुख प्रकट होने पर, उस सुख का साक्षात्कार

होने पर अपना आपा ही (आत्मा ही) का अनुभव होगा। इसका अविद्या रूप पर्दा फट जायेगा। अब संसार के संस्कार और कामादि विकारों को कोई अवसर (मौका) ही नहीं मिलेगा कि वह संसार उत्पन्न करके जीव की 'मैं' उत्पन्न करें। परन्तु जब तक मति और स्मृति की भक्ति भली प्रकार से नहीं की गई तब तक संसार और उसमें 'मैं' भाव के अनर्थ को रोकना असम्भव ही रहेगा।

ठीक है ! कि इन्द्रियों की तृप्ति वाले संसार में 'मैं' भाव पाने की मिठास बहुत अच्छी लगती है और इसका जादू इतना प्रबल है कि मौके की सुध या स्मृति भी नहीं रहने पाती और मनुष्य, इन्द्रियों के सुख का लोभी भविष्य के दुःख को भी भूल कर त्रुटियां (गलतियां) करता ही रहता है और उनसे बचने का सच्चा मन तक भी नहीं बनता। परन्तु जो व्यक्ति इस तृष्णा के वेग या बल को बढ़ाने वाली तृष्णा की पूर्ति को त्याग करके थोड़े-थोड़े दुःख को समय-समय पर पचाता रहे अर्थात् जीर्ण (हज़म) करता रहे; उगले नहीं, तृष्णा का विषय देकर इस दुःख से बचना न चाहे तथा उसका साधन स्वाभाविक हो जाये तो असम्भव करके यहाँ कुछ भी नहीं। उसे तृष्णा का बल ज्ञानपूर्वक उद्योग करके क्षीण करने पर अन्दर का सहज (स्वाभाविक) सुख एकान्त में मिलने लग जायेगा। इन्द्रियों के जगत् में प्रीति और स्वार्थ भी कम होने लगेंगे। उसे जगत् के दुःख रूप होने की मति उपजने पर यह जगत् भी मन से अत्यन्त उतर जायेगा अर्थात् भूल जायेगा। भूलने पर आत्मा का सुख व्यक्त या

卐卐

प्रकट रहेगा। तब इसमें (संसार में) होने की तृष्णा अत्यन्त समाप्त हो जायेगी। यही अविद्या नष्ट हुई। अपना प्रकट सुख का अनुभव होने से विद्या की प्राप्ति हुई। अब पुनः अपने आप के विनाश की शंका ही क्यों होगी भले ही बाह्य 'मैं' रहे या न रहे। अब संसार में भागना नहीं पड़ेगा। यह दोनों (प्रथम और द्वितीय) वर्गों का तात्पर्य है।



卐卐

卐 अथ तृतीय उपाय वर्ग 卐

जब तक जन्मयों न, श्रद्धा के तू पेट,
जग से परे की कैसे जाने ? है क्या ?
मन भोगों में, सदा रहे जो लेट,
धर्म साधन को, वह पल भी देगा क्या ?
। १७ ।

जैसा कि पिछले वर्गों के प्रसंग में बतलाया गया कि जन्म से बाहर जगत में 'मैं' भाव को पाकर उससे मुक्त होने की मनुष्य को इच्छा तक नहीं होती। उसमें दुःख पाने पर भी जगत् की मिठास जो कि प्रथम माता-पिता आदि बन्धु-बान्धवों से मिली थी (मान आदर के स्वरूप में तथा खान पानादि से जो बचपन से मनुष्य की पूजा हुई), इन सब बाहर जगत् के मधुर भावों से इसी संसार में ही कुछ न कुछ बने रहने की तृष्णा इतनी बल पकड़ गई कि इससे वियोग (बिछुड़ने) की कल्पना (ख्याल) भी जीव को क्लेश युक्त (परेशान) करती है। और बाहर के सुखों द्वारा अपना आपा या बाहर की 'मैं' भाव की प्राप्ति के लिये मनुष्य आकाश पाताल तक एक कर बैठता है। सब प्रकार के हिंसा, चोरी, झूठ आदि पाप और कई एक सफाईयों के साथ धोखाधड़ी और ठगी आदि की नीति अपना कर अपने आप को जगत् में सफल बनाने का यत्न करता है और इन सब कामों द्वारा न जाने क्या का क्या होकर मनुष्य मरता है। उत्तेजनाओं (जोशों) के वशीभूत हुआ सब कर्म करता हुआ अपनी मनुष्य सुलभ बुद्धि भी

खो बैठता है। इससे पुनः उन्हीं जोशों के साथ बुद्धिहीन हुआ-हुआ मरने पर मनुष्य सुलभ बुद्धि वाला जीव भी पुनः बनने के योग्य नहीं रहता। ऐसा इस जगत् के स्वाभाविक बल के साथ मनुष्य अपने को अपनी जन्म की या बाहर जगत् की बुद्धि द्वारा कैसे दुर्गति से बचा पायेगा ? उसे जगत् से परे का तो कुछ ज्ञान ही नहीं हो सकता। पुनः वह जिन सुखों के लिये व 'मैं' को बाहर पाने के लिये सदा प्रयत्नशील है उनके विपरीत अपने को सही मार्ग पर चलाना रूप धर्म के लिये कैसे अल्प समय भी देने को प्रस्तुत (तैयार) होगा। अर्थात् रास्ता पाये हुए जनों पर श्रद्धा के बिना और उनके वचन रूप शास्त्र में श्रद्धा के बिना तथा इस मार्ग पर चलने वालों में सबसे प्रथम पूर्ण उस भगवान की श्रद्धा बिना कोई कैसे धर्म पालन का संकट सहन करेगा ?

शब्दार्थः- साधारण माता के पेट से जन्मा प्राणी जब तक श्रद्धा माता के पेट से न जन्मे, तब तक उसे जगत् से परे अर्थात् मरने के उपरान्त (बाद) क्या होता है, उसे वह कैसे जानेगा ? मन तो भोगों में बिना विचार के भी जाता है तो वह धर्म के साधन में क्या एक पल भी दे सकेगा ? अर्थात् नहीं।

यह पद्य कल्याण के मार्ग पर चलने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता दर्शाता है, अर्थात् बिना श्रद्धा के उसे सुमति के मार्ग पर चलने के लिये अपने आप प्रेरणा नहीं मिल सकती।

इन आगे के तीन पद्यों में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति,

卐卐卐

समाधि तथा प्रज्ञा रूप मोक्ष का उपाय रूप से पांच बलों की चर्चा है।

सब कर्मों में स्मृति, हो जो सावधान;
चलते फिरते भी, करणों का रखे ध्यान।
हिम्मत कर अनुचित न, इन से होने दे;
भाँपे उत्पन्न विकार, क्रम से खोने दे।।
।१८।

बाहर के इन्द्रियों के भोग चाहे कितने भी मधुर लगें; और बाहर अपनी 'मैं' को आप जगत् में कैसी भी दिखला लो, परन्तु इससे बाहर जगत् में मन के भटकने से जो अन्दर की विद्युत शक्ति या प्राण शक्ति का ह्रास होता है वह पुनः एकत्रित नहीं हो पाता; तब व्याधि आदि का दुःख होना आरम्भ होता है। अधिक प्राण शक्ति के भटकाव से मन बाहर से मुख फेर कर संसार को भूलने के लिये अनुचित रूप से निद्रा के वशीभूत रहता है। इसी प्रकार अन्त में उसे मृत्यु भी प्रिय जंचती है। निद्रा मन को सताती है। इसी कारण से कई बार मृत्यु भी भली ही प्रतीत होती है। दुःख शोक बढ़ने लगते हैं। इन सब सत्यों को जिन्होंने अपने जीवन काल में अपने में देखा और उसके अनुसार अपने को संसार के भोगों से हटा कर और उनसे हटाने के कष्ट को सहन करके जिस धर्म मार्ग को अपनाया उसी धर्म को अर्थात् अपने धारण करने के मार्ग को दूसरों के लिये बतलाया। मनुष्य भोगों के सुखों के कारण थोड़ा भी दुःख सहन करने में भीरु (डरपोक) बन जाता है। ऐसा मन झटपट धर्म के अल्प भी संकट को

卐卐卐

देख कर पुनः उन्हीं भोगों में सरकने लग सकता है। इस अपने आपे को फिसलते या गिरते को धारण करना ही धर्म है। उसी इन महापुरुषों और भगवान् के मार्ग की चर्चा यह पद्य करता है।

शब्दार्थः- भगवान् के मार्ग पर श्रद्धा के पश्चात् मनुष्य को अपनी स्मृति (याद) को सावधान रख कर सब कर्म करने चाहियें। यह प्रथम धर्म है। चलते फिरते भी अपने करणों (इन्द्रियों) का ध्यान रखना चाहिये कि ये कैसे-२ कर्मों में लग रही हैं। जब कोई भी कर्म करते हैं तो ये काम विकार व क्रोध आदि से युक्त मन से कर्म कर रही हैं या कि रागादि बन्धन व भय, संशय, भ्रमादि युक्त हैं। इस प्रकार इन के दोषों को समझने वाला साधक हिम्मत अर्थात् वीर्य बल करके कुछ भी अनुचित इन सब इन्द्रियों और देह से भी न होने दे। यदि स्वभाव से या आदत से स्नानादि कर्म करते-करते कोई विकार आये तो उसे धीरे-धीरे शान्त करता जाये। यही धर्म है।

पहले अपना ही होगा, तुझे ज्ञान;
यही आत्मा की, पहली है पहचान।
सो प्रथम निज का ही, मिले यह तुझे ध्यान;
यही चढ़ कर चीने, सब कुछ व भगवान्।।
।१९।

पीछे (१७) पद्य में श्रद्धा का बल सर्व धर्म के आचरण का कारण बतलाया, १८वें पद्य में वीर्यबल (हिम्मत), वीर जैसा भाव दर्शाया गया। जैसे वीर पुरुष शत्रुओं को पीठ नहीं दिखलाता; उनका सामना करने में भीरु

卐卐

(डरपोक) नहीं होता। इसी प्रकार कल्याण मार्ग के शत्रु हैं काम, क्रोधादि विकार; राग, द्वेष, मान, मोह अविद्यादि बन्धन और इन्हीं से होने वाले अनन्त खोटे मन के छल कपट आदि के भाव; और काया के हिंसा, चोरी, जारी, झूठ बोलना कर्मादि। यह बहुत लम्बा चौड़ा परिवार शत्रुओं का है। इन सब के सामने होने पर धर्म के आचरण में वीर पुरुष कभी नहीं भागता। इनके क्लेश या परेशानी से अपने को सही मार्ग से विचलित नहीं होने देता। जब इस प्रकार श्रद्धा, वीर्य और स्मृति इन तीन बलों के साथ वह कल्याण के लिये यत्नशील रहता है तथा उपाय करता रहता है तो इससे ध्यान और सत्य के ज्ञान रूप दो बल भी उसमें आने लगते हैं। उसको अपने आपका ध्यान रहता है कि उसमें क्या-क्या विकार या मन की अवस्थायें बहती रहती हैं? किस-किस प्रकार वे जगत् जाल में उलझाने को प्रेरित (उकसाती) करती हैं और मैं यत्न करके कैसे-कैसे इन से बचाव करता जाता हूँ ? कहाँ अभी असफल रहता हूँ ? कहाँ धर्माचरण कर पाता हूँ ? मेरा दूसरों से बर्ताव कैसा है ? मिथ्या है या सही, आदत वाले मन से देह इन्द्रियां आदि प्रेरित होती हैं या धर्म युक्त मन से, इत्यादि ? यही सब उसको पहले पहल अपने आप का ही ध्यान मिलता है। इसी ध्यान से उसे अपने आप का सही ज्ञान होता है; दुर्बलता आदि का पता चलता है। सुधार के लिये भी हिम्मत बन्धती है। सही ज्ञान का ही नाम शास्त्र में 'प्रज्ञा' है। यही पाँच बल हैं। यही ज्ञान या सत्य ज्ञान का बल बढ़ते-बढ़ते मलिन आत्मा के

ज्ञान से आरम्भ होकर पवित्र आत्मा के ज्ञान तक पहुँच जायेगा। सब वैराग्यादि गुण युक्त आत्मा वाला एक दिन साधक पुरुष हो जायेगा। इसी ज्ञान की परिपूर्णता जिस में है उसे भगवान् का भी ध्यान और समाधि से प्रत्यक्ष ज्ञान मन से होगा। इससे प्राणी कृत-कृत्य होगा। सदा मन शान्त रहेगा तथा कर्तव्य पूर्ण होगा। शेष कुछ भी करने कराने को नहीं रहेगा। आत्मा बन्धन से मुक्त होगा।

शब्दार्थः-जब श्रद्धा-वीर्य-स्मृति रूप तीन बलों को मनुष्य रखेगा तो उसे प्रथम अपने आप का ज्ञान होगा कि किधर को मन ले जाना चाहता है ? और मैं किस प्रकार अपने आप को रख रहा हूँ ? अर्थात् किस प्रकार अपने को नीचे गिरने से सम्भालता हूँ ? यही अपने आप का प्रथम ज्ञान साधक को होता है। अपने आप का नाम ही आत्मा है। तो यही पहले अपने अन्दर की या आत्मा की पहचान हुई और आत्मा की पहचान अपने आप के ध्यान से हुई। जब वह (साधक) स्मृति (याद को ठिकाने रखने या अपने को सही मार्ग पर चलाने की सुध बनाये रखने)से अपने को सम्भाल कर वीर्यबल (हिम्मत) द्वारा सब अच्छे कर्मों में रखता रहा तो यह सब अपने आप को ध्यान में रखे बिना नहीं हो सकता अर्थात् अपने आप का उचित चिन्तन किये बिना नहीं हो सकता। तो प्रथम मनुष्य को अपने आप का ही ध्यानं मिलता है। ध्यान बिना अपना पता नहीं चलता। यही पुनः ध्यान बढ़ते-बढ़ते अन्त में पवित्रात्मा की अवस्था में पहुँच कर सब कुछ समझने योग्य को समझने के योग्य हो जाता है

卐卐

और भगवान् जो सदा ही सब जगत् की उलझन से परे है, उसको और उसके शान्त आनन्द को भी पहचानता है।

तो इस प्रकार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान (समाधि) और प्रज्ञा रूप पांच बल संसार रूपी 'मैं' से छूटने के लिये साधन रूप से बतलाये गये।

इन ऊपर कहे तीनों पद्यों का तात्पर्य यही है कि श्रद्धा रख कर स्मृति रूप समय की सुध सम्भालते हुए अपने अन्दर की सब विपरीत अवस्थाओं को समझते हुए वीर्यबल (हिम्मत) का सहारा लेकर उनसे मनुष्य बचता रहे। उन विपरीत विकार आदि को यत्न से भी शान्त करने का स्वभाव बना ले। जैसे कीचड़ में चलने वाला प्राणी अपनी सुध (स्मृति) को सम्भाल कर यदि पाँव टिका-टिका कर रखे तो गिरने के कष्ट से बच कर कीचड़ से बाहर निकल जाता है। यदि उस समय यह सुरत या सुध (स्मृति) सम्भली हुई न हो; और यह कहीं की कहीं सुखों में या कहीं अन्य कामनाओं की उलझनों में उलझी रहे तो मनुष्य कीचड़ में चलने के कर्म को भली प्रकार से न कर सकेगा। उसके गिरने के दुःख पाने का पूर्ण अवकाश है। इसी प्रकार मनुष्य दातुन, स्नान, खान, पानादि कर्मों से लेकर दूसरों से बर्ताव करना या दूसरों के संग में रहने आदि के सब कर्मों में भी सावधान रहे। यदि यही स्मृति (याद) सावधान रही तो मिथ्या काम, क्रोध, लोभ आदि सब विकारों को शान्त करने का अवकाश मिलेगा। अपना ध्यान भी बना रहेगा। इस ध्यान से अपने आप का (ध्यान में) प्रथम ज्ञान होगा। यही ज्ञान

बढ़ते-बढ़ते अपने को पूर्ण रीति से जान लेने पर वैसे ही दूसरों के अन्दर की जीवन सम्बन्धी कथा भी समझने में समर्थ होगा। यही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते व्यापक रूप, सब जीवों की समष्टि (एक दूसरे से सम्बन्ध रखता हुआ जीवों का समुदाय) रूप परमात्मा का ज्ञान भी होगा। पुनः अपने सब राग आदि बन्धन स्मृति द्वारा सदा टालते रहने से मुक्ति का साक्षात्कार भी इसी जन्म में होगा। कोई भी जीव अकेला जीवन धारण करके नहीं रहता; उसे जीवों के समुदाय में ही रहना होता है। यही सब जीवों का समुदाय यहाँ समष्टि शब्द द्वारा कहा गया है। सब जीव एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हुए ही जीते हैं। यह सब विश्वात्मा स्वरूप ईश्वर का शरीर है। यही इन पाँच श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि (ध्यान) और प्रज्ञा रूप बलों की महिमा है। इसी से संसार में पुनः कुछ भी न होना पड़ेगा। पुनः जन्मना नहीं पड़ेगा। अन्तरात्मा में अकेले में स्थायी (सदा बने रहने वाली) शान्ति और सुख प्राप्त होगा।

मन तेरे बसे, ऐश्वर्य भोग,
मेरे कहे से कटे न, तेरा रोग।
जग में सफलता ही, जोये तेरा मन;
अन्त भले का, बने कैसे साधन ? । २० ।

परमपद (कल्याण) पाने वाले और कल्याण मार्ग को जानने वाले आचार्यों के वचनों पर श्रद्धा रख कर सब समय सब कर्मों में मन से तृष्णा का भार पटकने के लिये काम, क्रोध आदि विकारों को यत्न (वीर्यबल) से टालते रहने का अभ्यास करना आवश्यक है। पुनः इसी के द्वारा

अपनी आत्मा में स्थाई (टिकाऊ) शान्ति पाने के लिये मौके की सुध (स्मृति) भी तो बनी रहनी चाहिये; तब कहीं एकान्त में ध्यान टिकने लगेगा और ध्यान समाधि अवस्था को प्राप्त होकर जगत् के बारे में सत्य ज्ञान उपजायेगा; और उसी ज्ञान से सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलेगी। परन्तु संसार में ही बड़ापन पाने का ('मैं' भाव) रंग इतना मन पर गाढ़ा चढ़ा रहता है कि हर समय मनुष्य उसी के लिये ही सोचता रहता है। इसी प्रकार सुख का भी रंग (राग) इतना ही बल रखता है। थोड़े भी दुःख से प्राणी घबराता हुआ सुखों के बारे में ही सोचता या मिथ्या ध्यान करता रहता है। पुनः जैसे उनके बारे में ध्यान करता-करता समझता है, वैसे ही यत्न करता है। तब पुनः कल्याण मार्ग पर कैसे आरूढ़ हो ? इसी भाव को लेकर यह पद्य कल्याण मार्ग के विघ्नों को दर्शा रहा है जिससे कि मनुष्य स्वयं सचेत होकर, सम्भल कर चले।

शब्दार्थः- कल्याण मार्ग को समझने वाला आचार्य अपने श्रोता के मन को जगाने के लिये यह वचन बोल रहा है कि मन में तुम्हारे ऐश्वर्य (अधिकार, संसार में उत्तम पद अर्थात् प्रभुता या दूसरों को अधीन रखने का भाव) बस रहा है। बड़ापन पाने का राग लहरें मार रहा है। इसी प्रकार जगत् के सब सुख जो दूसरों में दीखते हैं, उनको भी पाने की तृष्णा भड़क रही है। तब पुनः मेरे धर्म के वचन सुनाने से या वरदान रूप से 'जाओ तुम मुक्ति पा जाओगे', ऐसा वचन कहने मात्र से तो तुम्हारे संसार का बन्धन रूप रोग नहीं कट सकेगा।

तुम्हारा मन तो अभी तक संसार में ही दूसरों में देखी हुई सफलता पाने की खोज कर रहा है। धर्म कर्म भी तुम्हारे सब इसी के निमित्त हैं और इन सब का अन्त या परिणाम (नतीजा) कोई अच्छा भी नहीं, दुःख रूप ही होगा। तब इन सब के साथ-साथ अन्त में जो सदा भला ही रहे, ऐसे कल्याण का साधन कैसे बन पायेगा ? कल्याण नाम है जगत् के बन्धन से छूट (मुक्त हो) कर केवल अपने आप में स्थायी (बिना किसी बाह्य निमित्त की) शान्ति पाना। इसलिये संसार चक्र छूटे बिना यह कैसे हो ?

यद्यपि यह सब है अस्थिर,
तुझ बिन तुमको सुझाय को फिर फिर ?
जब तुम न सत्य का करोगे मान,
फिर करे क्या गुरु, क्या करे भगवान् ?
।२१।

जगत् को अनित्य, दुःख, शोक स्वरूप समझने के लिये ध्यान या समाधि की आवश्यकता है। अर्थात् एकाग्र मन से आत्मा के बारे में चिन्तन करना आवश्यक है। तब जगत् के बारे में सही रूप से प्रेरित होकर मन सही मार्ग अपनायेगा। नहीं तो बालक के मन में तो संसार ही के फल परमपद रूप से प्रतीत होते हैं और उन पर इतना विश्वास जमा बैठा है कि उनकी स्मृति (याद) आते ही मन उनके लिये यत्नशील हो जाता है। इसलिये पहले सत्य को ध्यान द्वारा समझना, पुनः अपने मन को उसी सत्य की समझ के अनुसार जगत् में उससे मुक्ति पाने के लिए निश्चय करके साधना में लगाना। यह उसी सत्य का

मान है। इसी भाव को यह पद्य दर्शा रहा है कि यदि कोई भोग, रोगादि दुःख उत्पन्न करके मारने वाला है तो उसको त्यागने का यत्न करना चाहिये। यही उत्तम नीति है।

शब्दार्थः- यद्यपि यह सब जगत् और मनुष्य के सब समय-समय पर, आयु के अनुसार होने वाले सुख अस्थिर हैं, अर्थात् बने रहने वाले नहीं हैं, परन्तु इस सत्य को जानता हुआ भी मनुष्य, इसी सत्य को दूसरों में देखता हुआ भी मन में कैसे उतारेगा ? जब तक ध्यान और समाधि में बैठकर इस सत्य को सही रूप से न समझेगा कि इन बाह्य सुखों का अन्त बुरा है। सुख की तृष्णा एक रोग के समान है; इससे अन्त में दुःख, शोक, वैर, विरोध और मिथ्या (झूठे या बुरे) कर्मों में ही उलझना पड़ता है; है; जिनका फल यहाँ जीवन में और मरने पर कहीं भी भला नहीं है। यह सब ध्यान और समाधि में ही संवेदन (महसूस) करने में आयेगा। गहराई में महसूस किये बिना केवल ऊपर-२ के मन से चारों ओर इसी सत्य को प्रकट देखने पर भी कल्याण मार्ग पर चलने की प्रेरणा या उत्साह नहीं बन पाता। भोगों से अन्त में खेद और श्रान्ति (थकावट) ही मिलेगी जो कि निद्रा में भी नहीं टल सकेगी। यह सब दुर्गति ध्यान-समाधि द्वारा दीखने पर इस जगत् से वैराग्य होगा। पुनः इस सत्य का भान करना पड़ेगा। यही सब जगत् के बारे में सत्य ज्ञान है।

यदि पुनः जैसा कुछ सत्य समझा है वैसे ही समझकर स्वयं मनुष्य उचित रीति से चलकर उस सत्य का मान न

करे तो पुनः कल्याण या परमपद पाने के लिए गुरु अथवा भगवान् भी क्या करेगा ? अर्थात् स्वयं ही सत्य को समझकर उसी के अनुसार अपने आप को उत्तम मार्ग पर चलाना होगा। इसके निमित्त उद्योग और अल्प तप (खेद) भी सहन करना पड़ेगा।

टिप्पणी:- जैसे किसी ने यदि ध्यान द्वारा यत्न करके समझ लिया कि मेरे रोग की जड़ हैं मादक द्रव्य (नशीली वस्तुएं) तथा अधिक खाना या अधिक निद्रा, आलस्य के सुख में रहना; तब इस सत्य को पहचानने पर इसका भान पुनः यही होगा कि इस सत्य के ज्ञान से कुछ शिक्षा ले ले और सीख कर अपना मार्ग सुधार ले। चाहे कुछ दुःख भी तप रूप से अपनाना पड़े परन्तु अपना आगे आने वाला भयंकर दुःख तो टालना ही पड़ेगा। यही सत्य का मान है। इस प्रकार से सीखने वाला ही शिष्य है कि सीखे और काम में लाये, नहीं तो प्रमादी कहा जाता है। जानता अवश्य है परन्तु जानने के अनुसार कर नहीं सकता। थोड़े सुख के कारण भारी दुःख को निमन्त्रण दे रहा है। सत्य की शिक्षा के अनुसार चलना ही वास्तव में बुद्धिमत्ता है।

दुर्बलता त्यागन को, हुये जो न तैयार,
फिर अन्त भले से तेरा, क्या सच्चा प्यार ?
समय एक का तो जाय, दूजा हाथ भी न आये,
झूठा ले भी सहारा, पर पीछे पछताये।।
।२२।

卐卐卐

बाह्य सुख भोग में बन्धे रहना मन की दुर्बलता का ही चिन्ह है तथा इन्हीं भोगों का ही बाहर भान है। इसमें बन्धना भी दुर्बलता ही है। ध्यान, समाधि या विचार द्वारा बाह्य सुखों की तुच्छता समझ कर उन से वैराग्य उपजाता हुआ भी प्राणी बाह्य सुखों में प्रसन्न और मानी होते हुए दूसरों को देखकर तथा इन बाह्य भोगों को त्यागने के अल्प (थोड़े) दुःख को प्रतीत (महसूस) करके पुनः उन्हीं भोगों में ही मोह वश सरक जाता है। उनसे मुक्ति पाना अभी भला नहीं जंचता। इसलिए मन में उनमें ही उलझने के भाव और संकल्प (इरादे) बनाता रहता है। यह सब मोह, मान और अविद्या रूप ऊपर के बन्धनों का प्रभाव है। इन से मन पुनः दुर्बल सा हो जाता है और श्रद्धादि पाँच बलों को सही रूप से अपनाया नहीं जाता। इसलिए इन्हें भी (ऊपर चोटी के अविद्या, मान, मोह आदि बन्धनों को भी) ध्यान समाधि में प्रीति रख कर पहचान कर त्यागने का साहस करना चाहिए। इसी अर्थ (प्रयोजन) को यह पद्य सूचित करता है। मोह, मानादि बन्धनों का स्पष्टीकरण आगे मिलेगा।

शब्दार्थः- बाह्य संसार के ऐश्वर्य भोगादि चाहने वाले मन की दुर्बलता को मोहवश अभी त्यागने को तुम तैयार नहीं हो, तो तुम्हारा अन्त भले (क़ल्याण) से सच्चा प्यार क्या हुआ ? अर्थात् परमपद से अभी सही सत्य की प्रीति नहीं हुई।

स्मरण रहे कि आयु के अनुसार ही यह भोग अच्छे लगते हैं। वृद्धावस्था या रोगादि की स्थिति में इनसे घृणा

卐卐卐

भी हो सकती है। शक्ति होने पर ही ऐश्वर्य (प्रभुता) प्रिय है। शक्ति सदा बनी नहीं रहती; यह सब समय के ग्रास बन जाते हैं। इनका समय तो एक दिन सदा के लिये ही कूच कर जायेगा। परन्तु इन्हीं में चिपका मन यदि श्रद्धादि द्वारा साधन न कर सका तो दूसरा जो अपना कल्याण या सही भला है वह भी न कर पायेगा। तो पुनः सिवाय पश्चात्ताप के और क्या हाथ लगेगा ? पद्य में 'झूठा ले भी सहारा पर पाछे पछताये', का भाव यह है कि कहने या मानने में तो 'गुरु का सहारा'; और भगवान् की शरण पर श्रद्धा और विश्वास बनाये है, परन्तु भगवान के गुणों का ध्यान और उन्हीं गुणों का अपने में धारण यदि जीवन काल में नहीं किया गया तो यह भगवान् की शरण झूठा ही सहारा होगा। इसी प्रकार भगवान् की परम शान्ति पाने के लिये यदि गुरु के शब्दों का ध्यान और विचार करके उन्हीं के पवित्रता के मार्ग को आचरण में नहीं लाया गया तो यह गुरु का सहारा भी झूठा ही समझा जायेगा। इससे कल्याण की प्राप्ति तो होगी नहीं; इसलिये दुष्कर्मों के अनुसार संसार में दुर्गति का ही मार्ग सिर पर चढ़ा रहेगा; जिसका दुष्परिणाम (खोटा नतीजा) दुःख और दुर्गति ही होगा। इससे प्राणी को यही पश्चात्ताप पीछे होगा कि 'अहो जीवन काल में उत्तम मार्ग न अपनाया गया' और अपने बाह्य (बाहर के) स्वार्थ से व्यर्थ या मिथ्या कर्मों में ही समय व्यतीत किया जिससे आत्मा में शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकी और दुर्गति से भी न बचा जा सका।

卐卐

ठीक है! समय ही है बलवान्,
और वही है हर इक क्षण।
पर आत्मा है परम महान्,
जो सब क्षणों को दे इक तन।। ।२३।

यह जो मोक्ष या संसार के दुःखों से अत्यन्त मुक्ति पाने का उपाय रूप से श्रद्धा, वीर्य आदि पाँच बल बतलाये गये हैं इनको अपनाने के लिए या अल्प कष्टपूर्वक भी बनाये रखने के लिये बुद्धि में भी इनकी परम आवश्यकता का ज्ञान या निश्चय बसा रहना चाहिए। यही जो कोई भी इन श्रद्धा आदि को बनाए रखने का दर्शन या युक्ति व तर्क होगा वह हमें बलपूर्वक भी प्रेरित करेगा और कहीं भी चूक नहीं होने देगा। जैसे रोगी को कितना भी प्रिय भोजन रोग की दशा में टालने में अधिक हिचकचाहट नहीं होती, क्योंकि स्वास्थ्य का होना अत्यावश्यक सुख का कारण है। यह दर्शन या ज्ञान बलपूर्वक भी उससे पथ्य (परहेज़) को रखवा ही देगा। उसे आदतों के बल के विरोध में जुटाये रखेगा। इसी प्रकार मनुष्य छोटे-मोटे जो समय-समय पर सुख विषयों से होते हैं उनको लेने के लिये प्रकृति (कुदरत) स्वभाव के बल से प्रेरित होकर बिना सोचे समझे भी लपक जाता है। यद्यपि उनका परिणाम (नतीजा) अन्त में भला न भी हो, काम या इच्छा के समय सामने का सुख तो दीखता है परन्तु दूर होने वाला दुःख अविद्या या अज्ञान द्वारा ढका ही रहता है। इसीलिये मनुष्य जीवन में सैंकड़ों चूकें कर जाता है और अन्त में दुःख या दुर्गति को पाता है। इसी अज्ञान या अविद्या से सावधान

卐卐

रहकर मनुष्य को अपने सदैव काल के भले पर दृष्टि रखनी चाहिये न कि थोड़े-थोड़े समय के और अन्त में दु:ख देने वाले विषयों के सुख में ही बसे रहकर जीवन गँवाना। इस सब भाव को ही यह पद्य दर्शाता है कि जैसे प्रकृति का बल अनथक रूप से मनुष्य को संसार में ही धकेलता है; वैसे ही मनुष्य भी आत्मा की दृष्टि रखता हुआ श्रद्धा आदि उपायों में रहे।

शब्दार्थः-जन साधारण का विश्वास है कि समय ही बलवान् है। वह समय क्षण-क्षण के रूप में जैसी कुछ प्रेरणा देता है वैसा ही सब, जीव या प्राणी करता है। शिशुपन (बचपन), बालपन या यौवन आदि का काल ही प्रत्येक प्राणी को अपने समय की चेष्टाएं या कर्म करवाता है। इस विश्वास के अनुसार तो जीव अत्यन्त परतन्त्र ही है। उसके वश में कुछ भी स्वतन्त्र रूप से करना असम्भव या कठिन ही है। परन्तु अध्यात्म शास्त्र बतलाता है कि समय या उसका प्रत्येक क्षण ठीक है ! कि बलवान् है परन्तु उस समय से भी परम महान् अर्थात् महत्त्व रखने वाला आत्मा है। आत्मा का साधारण अर्थ यही है कि सदा एक रूप से बना रहने वाला ज्ञान स्वरूप अपना आपा। जैसे कि जन्म से ही शरीर, मन, बुद्धि आदि नित्य नये-नये समय के अनुसार बदलते हुए मरने के समय तक न जाने क्या का क्या अनुभव में आते हैं। परन्तु उन सब बदलने वालों में 'मैं' रूप से अपना आपा एक ही सदा बसा हुआ अनुभव में आता है। कोई व्यक्ति भी जानता है कि आने वाले वर्षों में भी 'मैं' होऊँगा; इसलिये मुझे उन वर्षों के

लिये भी कुछ विचार से रहना चाहिये। यही जो सब कोई बदलते हुए शरीर आदि हैं इन में मुझे अपने आपे को सदा सुखी या कल्याण मंगल युक्त ही रखना है। इसी आत्मा पर यदि दृष्टि रखकर मनुष्य अपने कर्मों को करे और बाह्य सुखों को सीमा में ही रखकर भोगे तो वह पुरुष सब प्रकार के श्रद्धा, वीर्य आदि उपायों को अपनायेगा। क्योंकि प्रकृति (कुदरत) या स्वभाव से तो एक दूसरे प्राणी के सन्मुख पड़ने पर ऐसे-ऐसे भाव या काम, क्रोध आदि विकार जीव में जन्म जाते हैं जो कि जैसा कुछ करने को प्रेरित करते हैं, वैसा यदि कोई कर जाये तो उसकी भलाई नहीं बन पायेगी। यदि अपने को श्रद्धा से ही या ध्यान से सत्य ज्ञान उपजा कर ही स्मृति रखकर वीर्य या हिम्मत द्वारा आने वाले अनर्थ से कुछ अल्प कष्ट होने पर भी बचा पाये तो यही जीवन की अच्छी नीति होगी। यह तभी बन पायेगा यदि श्रद्धा आदि उपायों को रखने या बनाये रखने के लिये कोई दर्शन (ज्ञान या युक्ति) समझ में पड़े। दर्शन यही है कि जब भी कोई पग उठाना है तो अपना आपा रूप सदा बना या बसा रहने वाला आत्मा दृष्टि या दर्शन में रहे; उसकी भलाई का विचार रहे, समय या उसके भाव में न बहा जाये।

जिस जीव स्वभाव ने या प्रकृति के बल ने जीवन रचा है उसका बल कभी भी थकने वाला नहीं, आप के एक दो बार उसको दबाने से सदा के लिये वह आपसे दबाया नहीं जा सकता। आप का कर्तव्य है कि जैसे यह प्रकृति का बल नहीं थकता तो वैसे मैं भी इसमें सम्भल कर

चलने के लिये कभी भी न थकूं। थोड़े से अल्पकाल के सुख में ही न भूला रहूँ। अपने सब समय, अभी और पीछे भी रहने वाले आत्मा को विचार में रखूँ।

समय अपने स्थान पर बलवान अवश्य है परन्तु वह समय तो क्षण-क्षण करके बहता जाता है। प्रत्येक क्षण अपने आप में न्यारा-न्यारा है। परन्तु मनुष्य इन न्यारे-क्षणों को भी अपने प्रयोजनवश एक तन (शरीर) में बाँध देता है। उसने अपने खाने का समय, सोने का समय, नहाने, धोने या अन्य कार्यों के कई एक समय अपने प्रयोजन के लिए कल्पित कर रखे हैं। इसलिये इससे यह ज्ञात होता है कि आत्मा के ज्ञान और आत्मा के हित के सन्मुख समय का भी महत्त्व (बड़ापन) एक माप के अन्दर ही है। परिमाण (माप) रहित समय का महत्त्व नहीं है। परन्तु आत्मा का महत्त्व तो माप से परे है। इसलिये यदि कोई अपनी आत्मा (सदा एक रस रहने वाला अपना आपा) पर दृष्टि रखकर संसार में चलने या करने की बुद्धि, धर्म और नीति को अपनाये तो उसके सन्मुख समय (काल) का भी कोई महत्त्व या बड़ापन नहीं है। समय को तो मनुष्य ने ही और आत्मा ने ही बहुत प्रकार से कल्पित कर रखा है। अपनी नित्य आत्मा और उसकी भलाई को दृष्टि में रखते हुए उसे यही श्रद्धा रखनी है और स्मृति, वीर्य, ध्यान, ज्ञान (प्रज्ञा) आदि का बल रखना है कि जब प्रकृति (कुदरत, जीवन रचने वाली) संसार में ही धकेलने में कभी नहीं थकती तो मैं भी धर्म और इस संसार से पार पाये हुए तथा प्रकृति के बल को जीत कर सदा

शान्त रहने वाले भगवान् के वाक्यों को मानकर सदा स्मृति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा आदि उपायों को अपने में बसाये रखूं।

ठीक है ! समय का भाव है प्रधान,
और उसका भी न्यारा ही है मन।
पर वह ज्ञान है परम महान्,
जो सब भावों में, बैठा इक बन।। । २४ ।

प्रथम पद्य के अर्थ का ही स्पष्टीकरण इसी पद्य में किया है किः-

जैसा कुछ क्षुधा, व्याधि आदि का समय आन पड़ता है वैसे ही मन का भाव बनता है और उस मनोभाव में करने कराने का मन भी अपने ही ढंग का न्यारा अर्थात् विशेष प्रकार का ही होता है। पशु, कीट आदि जीवों का भी जब कभी एक दूसरे से सामना होता है तो एक दूसरे के प्रभाव से मान, वैर, विरोध, काम आदि का मनोभाव होने पर लड़ने या काटने आदि का मन उनसे वैसे ही कर्म करवा जाता है, भले पीछे उनका अहित ही हो। वे भविष्य वाले महान् अपने आपे (आत्मा) को नहीं जानते। वहाँ तक उनकी दृष्टि नहीं है। मनुष्य के अन्दर तो सदा अपने आप (आत्मा) के एकरूपपने अर्थात् एकरूपता का ज्ञान होने के कारण भविष्य की भलाई का विचार आ जाने पर दुष्कर्मों से बचाव का रास्ता निकाल लेने की योग्यता है। आज, कल और आने वाले सर्व समय में अपने आपे के हित पर दृष्टि रूप ज्ञान तो महान् ही कहा जायेगा क्योंकि उस अपने भले पर दृष्टि बने रहने से कुछ भी खोटा कर्म

रोका जा सकेगा; और जो समय की उत्तेजना (जोश) वाला अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकारों या भावों वाला मन है वह तो जैसा कुछ उस क्षण को भाता है वैसे ही करने को उतारू होता है। उस जीव में तो उसी समय वाला, अल्प कामना वाला, महान् आत्मा से विपरीत, काम रूप छोटे समय वाला अपना आपा ही बसा रहता है और उसी काम रूपी आत्मा की तृप्ति बसी रहती है। इसलिये कोई अच्छा कर्म हित करने वाला नहीं बन पाता। केवल अल्पकाल वाले कामात्मा की तृप्ति के ही लिये जैसे कुछ समय ने या कुछ समय के भावों ने प्रेरणा की वैसे ही कर्म करने में प्रवृत्ति हो जाती है। उन सब समयों में या सब भावों में बना रहने वाला अपना आपा का ज्ञान रूप जो वह महान् आत्मा है उस पर दृष्टि ही नहीं जाती; इसलिये जब उन्हीं दुष्कर्मों का परिणाम (नतीजा) सामने आयेगा तब केवल पश्चात्ताप या रोना ही हाथ लगेगा। इसका तात्पर्य यही है कि अपनी सर्वकाल वाली (सब समय रहने वाली) आत्मा को सदा दृष्टि में ही रखना चाहिये और अपना जीवन विचार से चलाना चाहिए। यह नहीं कि थोड़े (अल्प) समय की तृप्ति के कारण अपना सकल भविष्य बिगाड़ा जाये। यही अपनी सदा बसी रहने वाली आत्मा का दर्शन यदि बना रहेगा तब श्रद्धा आदि पाँचों बल दिनों-दिन प्रबल बनते जायेंगे और अन्त में केवल आत्मा में ही बसी शान्ति को प्रकट कर देंगे। अनथक रूप से प्रकृति के बल का विरोधी आत्म बल बढ़ता जायेगा।

卐卐卐

हो इसी के निमित्त जीवन;
या का अन्त भला है नाम।
बिनु अल्प हित के विषय बन्न,
सदा आवे किस के काम।। ।२५।

पिछले दो पद्यों में बतलाया गया कि समय से और समय के मन के भाव विकारों से परे आत्मा रूप सत्य रहता है। समय निकल जायेगा, क्षण-क्षण बीत जाता है, मन के भाव बदलते रहेंगे परन्तु जो अपना आत्मा करके कहा जाता है, वह किसी भी समय पर वही एक रूप, हित सुख रूप वाला ही वैसे का वैसा बसा रहेगा। सदा मनुष्य के भावों में यही धुन सवार रहती है कि मुझे कभी भी दुःख न आन पड़े; मेरा सुख सदा बना रहे। चाहे भाव कैसे भी बदलते रहें परन्तु आत्मा इन सब भावों में केवल एक ही प्रकट हित सुख ज्ञान वाला ही रहता है। इसलिये यह सदा बना रहने वाला होने से ही सद्रूप अर्थात् 'आत्मा सत् है', कहा जाता है और सुख रूप से समझ या ज्ञान में पड़ने से ज्ञान तथा आनन्द रूप कहा जाता है। ऐसे आत्मा के साक्षात्कार के लिये ही मनुष्य को, जीवन को धारणा तथा साधना चाहिये। इसी अभिप्राय को यह पद्य व्यक्त करता है।

शब्दार्थः- इसी सदा आनन्द रूप से अपने आपको अनुभव करने के भावों वाला आत्मा (अपना आपा) सब कालों में समान रूप से रहने वाला है। इसी आत्मा की भलाई के लिये ही जीवन साधना चाहिये। इसी जीवन का नाम अन्त भला है क्योंकि इस से इसी जीवन के अन्त

होने पर अन्त में सदा बना रहने वाला आनन्द रूप से अपना आपा (आत्मा) प्राप्त होगा। राग और तृष्णा की अग्नि का दाह रूप जो कामादि की तृप्ति करना है उस का अन्त तो बुरा है परन्तु स्मृति, वीर्य आदि से उत्तम जीवन का अन्त भला है। और सुख रूप से अपना आपा मिलता रहे तो यही अपना आपा रूप आत्मा ही अन्त में भला रूप से प्राप्त होता है। और विषयों का सुख अपने अल्प काल के या तत्काल के सुख को छोड़कर दूसरे किसी प्रकार से भी अच्छा नहीं। विषयों का सुख एक वन के समान है। इस में व्याधि, शोक, विरोध और चिन्ता आदि में उलझा प्राणी वन में मार्ग से भटके हुए के समान है। यह विषयों का वन मनुष्य के किसी भी काम में नहीं आयेगा। इसका अन्त बुरा ही है। सच पूछो ! तो इसमें अल्प भी सुख नहीं है। विषयों के सेवन का समय सदा एक समान नहीं रहता। जीवन में ऐसा भी समय आयेगा जबकि रोगादि के भय से इन विषयों का सुख त्यागना पड़ेगा। परन्तु इन सुखों की बढ़ी हुई तृष्णा तो हृदय से निकलेगी नहीं, यह अग्नि के समान दाह (जलन) उत्पन्न करेगी। उस अग्नि की जलन तभी मिटे यदि वही सुख वाला विषय प्राप्त हो तो, परन्तु वह तो समय के अनुसार रोग और मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाला सिद्ध हो चुका है। तब ऐसी अवस्था में न तो विषय के सुख को लेने योग्य ही मनुष्य रहता है और धर्म साधन विहीन होने से छोड़ भी नहीं सकता क्योंकि उनकी तृष्णा चिपकी बैठी है। यही विषय वन में कोई रास्ता निकलने के लिये नहीं मिलता।

卐卐

कुछ कष्टमय भी जीवन,
जो दे 'अन्त भले' से मिला।
उस बहु सुख से भी बड़ा धन,
जो दे अन्त में दुःख में रुला।। ।२६।

पिछले पद्य में कहा कि आत्मा की भलाई के लिये ही जीवन साधना चाहिये। साधना तो थोड़े कष्ट से ही होती है। क्योंकि विषयों के बाह्य सुख में चिपका हुआ मन इनमें नियम, संयम बिना आत्मा के सनातन सुख को तो पा नहीं सकता। प्रत्यक्ष सामने का अल्प भी सुख त्यागने में कष्ट का अनुभव तो अवश्य होगा ही। और कष्ट के मार्ग को साधारण प्राणी अपनाना नहीं चाहता इसलिये साधना कैसे बनेगी ? इस अभिप्राय को मन में रखते हुए साधना के लिये प्रेरणा रूप में यह पद्य है।

यदि अन्त में सदा बने रहने वाला सुख रूप भला थोड़े समय के अल्प कष्ट को पाने से मनुष्य को प्राप्त होता है तो यह कष्टमय भी होता हुआ जीवन अर्थात् जीने का रास्ता बड़ा धन रूप ही होगा। इस धन वाला पुरुष धन्य माना जायेगा।

परन्तु जिन विषयों का बहुत सा भी सुख अन्त में मनुष्य को न समाप्त होने वाली उलझन में डालकर सदा रूलाता ही रहे तो यह विषयों का सारा सुख अपने सब धन संपत्ति आदि लौकिक साधनों सहित क्या ही अच्छा होगा ? अर्थात् कुछ भी अच्छा नहीं। वही पहले कहा जाने वाला कुछ थोड़े कष्टमय, या कष्ट वाले

卐卐

जीवन का धन ही इस विषय सुख के धन से उत्तम माना जायेगा क्योंकि साधना का थोड़ा दुःख या कष्ट पाने से अन्त में सदा बना रहने वाला आत्मा का सुख इससे प्राप्त हो जाता है। जैसे रोगी को मन की रुचि का भी रोग की अवस्था में विपरीत आहार त्यागने का कष्ट पाकर अपने स्वास्थ्य के सुख को प्राप्त करने में कोई आपत्ति या विपरीत भाव नहीं होता। वह वहाँ अपने खान पान के सुख को अधिक नहीं मानता; स्वास्थ्य प्राप्ति को ही उत्तम धन मानता है। उसी प्रकार सदा का आनन्द ही उत्तम है और उसके निमित्त श्रद्धा, स्मृति, वीर्य आदि के अल्प कष्ट और तपोमय जीवन को भी धारण करे। शरीर की आवश्यकता के अनुसार जो भी इच्छायें हैं उनमें भी तीव्र इच्छा को कुछ समय रोककर ही पूरा करने का कष्ट अपनाये। इससे इच्छा के बल या प्रवाह में अपने आप को स्थिर रखने की शक्ति प्राप्त होगी।

卐 इति उपाय वर्ग 卐



卐 अथ नैष्कर्म्य सुख वर्ग 卐

अच्छे लागें विषय, शुभ तेरे ध्यान,
संग, घाटे का है सौदा, तू पहचान।
बालक होते को, वैसे थे, यह बताये,
करो ध्यान, प्रज्ञा देखो क्या जताये ?
। २७ ।

केवल श्रद्धा रख कर बाह्य उत्तम आचरण करने से ही जगत् के बन्धन से छुटकारा नहीं मिलेगा। परन्तु बाहर उत्तम आचरण करते हुए तथा अपने जीवन को खाने पीने आदि के नियमों में बांधते हुए ध्यान और ध्यान में विचार की योग्यता प्राप्त करके जगत् के तथा आत्मा के सत्यों का साक्षात्कार करना पड़ेगा। तब मन अपनी समझ से जगत् से छुटकारा पाकर अपने निश्चल मन से आत्मा का सुख पायेगा। इस वार्ता को यह पद्य बतलाता है।

शब्दार्थः- जन्म से ही मनुष्य को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच इन्द्रियों के विषयों के सुख के साथ सम्बन्ध होने से ये विषय अच्छे लगने लगते हैं। मन में शुभ या बढ़िया जैसे प्रतीत होते हैं। जो मन को अच्छा लगे या भाये वही उसके ध्यान में भी बसा रहता है। यही तृष्णा का स्वरूप है। परन्तु जो सब कुछ अच्छा लगता है 'वह भलाई के लिये ही अन्त में सिद्ध होगा', ऐसी बात नहीं। जैसे कि रोग की अवस्था में रुचि का भोजन भी विपरीत (हानिकारक) सिद्ध होता है। इनके सुख के लोभ से इनका बार-बार संग और आसक्ति एक घाटे का ही

सौदा है, ऐसा पहचानना चाहिये। क्योंकि सुख तो केवल क्षणिक ही होगा परन्तु परिणाम या नतीजा होगा भयंकर महादुःख रूप। इसलिये भयंकर दुःख के मूल्य पर थोड़ा विषय सुख घाटे का ही व्यापार है। केवल जब तक बुद्धि विकसित नहीं हुई थी तब तक ही बालक होते हुए को ही ये विषय वैसे सुख रूप बतलाये गये थे। क्योंकि बालक अपनी देह की आवश्यकता को स्वयं ही पूरा करना सीखे, इसीलिये शुभ रूप से दर्शाये गये थे। परन्तु अब बुद्धिमान् (समझदार) मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं एकाग्र मन से विचार करके सत्य को पहचाने कि वास्तव (असलीयत) में ये विषय बढ़िया ही हैं या कि संग (आसक्ति) उत्पन्न करके अनन्त (बे-अन्त) दुःख शोक ही देने वाले हैं। जब ध्यान किया जायेगा तभी इस जगत् के विषयों के बारे में सही ज्ञान होगा। इसी ध्यान से होने वाले सही ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। इसी सत्य ज्ञान से जगत् के सुखों से वैराग्य होगा। वैराग्य होने पर आत्मा या अपने आप के ज्ञान स्वरूप में टिकाव होने लगेगा। जब मन आत्मा में स्थिर हो जायेगा तब इसे अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में आनन्द भी प्राप्त होगा तथा तब सम्पूर्ण अविद्या या अज्ञान टलने पर सदा के लिये मन इस संसार के भयंकर दुःखों से मुक्ति पायेगा।

थोड़े ध्यान से, मन से उतर जायें,
मन, काया भी पवित्र सुख पायें।
बन्धा कर्म संग जीवन हो निराश,
करे नैष्कर्म्य सुख का विनाश।। ।२८ ।

ध्यान और प्रज्ञा (सत्य का ज्ञान) पुनः कैसे जगत् बन्धन से छुड़ायेगा ? इस बात को यह पद्य दर्शाता है।

शब्दार्थ :- विषय थोड़े ध्यान से ही मन से उतर जाते हैं। क्योंकि ध्यान और ध्यान में विचार द्वारा विषयों के देखे गये सुख की जाँच की जायेगी कि यह सुख कैसा है ? बना रहने वाला या नष्ट होने वाला है ? अन्त तक सुख रूप ही है कि आगे जाकर दुःख में बदलने वाला है? इत्यादि सब जाँच, ध्यान और विचार में ही होगी। वैसे ही अपने से अन्य दूसरों के अपने से अच्छे कहे जाने वाले सुखों की भी जाँच ध्यान में ही होगी। तब पता चलेगा कि सब बाह्य सुख केवल क्षण मात्र के लिये ही अच्छा है परन्तु अन्त या नतीजा किसी की भी भलाई के लिये नहीं है। इनका पीछे होने वाला दुःख रो-रो कर भुगतना पड़ता है। इसलिए इनका अधिक संग या आसक्ति करनी भली नहीं। यह समझ होने पर ये विषय मन से उतर जाते हैं। तब मन इनसे छूटने (मुक्ति) की सोचता तथा महसूस करता है।

जब ये विषय मन से उतर जायेंगे तब बहुत कुछ इनके लिये करना और सोचना भी नहीं पड़ेगा। तब मन और शरीर (काया) भी निश्चल होने लगेंगे। ज्यों-ज्यों ये निश्चल होंगे इनमें निवृत्ति का (लौटने का) सुख भी प्रतीत होने लगेगा। यह सुख बाहर के मलिन विषयों का न होने से, वैर-विरोध, पराधीनता से रहित पवित्र सुख माना जायेगा। इसमें भय आदि भी नहीं होगा। यह आसन की स्थिरता का सुख भी कहा जाता है। यह निश्चलता का

सुख केवल अपने आप में ही मिलता है। यदि यह प्राप्त न हुआ तो सारा जीवन विषय सुखों के लिए कर्मों में ही बन्धा रहेगा। कर्म की शक्ति, रोग और वृद्धावस्था के कारण क्षीण होने पर विषय सुख तो मिलेगा नहीं परन्तु ध्यान और प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) बिना उसकी तृष्णा और मोह से छुटकारा न मिलने के कारण (विषय सुख के मिलने की योग्यता न रहने से) एक ओर से निराशा होगी और दूसरा नैष्कर्म्य सुख का भी विनाश ही होगा। विषय सुख न मिल सकने के कारण निराशा मिलेगी और ध्यान और प्रज्ञा न पा सकने के कारण नैष्कर्म्य (निश्चलता) सुख भी न मिल सकेगा। सब प्रकार के सुखादि के लिये कर्मों के बन्धन से निकलने पर जो सुख मिलेगा उसे नैष्कर्म्य सुख शास्त्र में बतलाया है। जब सब कर्मों की शान्ति होती है तब आत्मा में शान्त सुख होता है। यदि बाहर के सुख के कारण कर्म करने में तृष्णा बनी रहे तो नैष्कर्म्य सुख या निश्चलता का सुख कभी भी प्राप्त नहीं होगा।

सकल आयु सुख कर्म का न हो,
शक्ति करने की रहो वा न रहो।
कर्म बन्धन से निकल, जो सुख न भाये,
समय बीते नहीं दुर्गति ही पाये।। । २६ ।

पिछले पद्य में चर्चित (चर्चा में आये) नैष्कर्म्य सुख को यह पद्य स्पष्ट करके बतलाता है कि :-

सकल आयु (आयु भर) कर्मों से प्राप्त होने वाला सुख नहीं मिल सकता। चाहे प्राणी की कर्म करने की शक्ति कुछ बनी भी रहे तब भी रोग और बाहर जगत् में कई

卐卐

एक बन्धनों के कारण भय, वैर, चिन्ता आदि होने और बने रहने से बाह्य विषयों का सुख फीका सा लगने लगता है। अपमान पाये हुए आदरणीय व्यक्ति को उत्तम भोजन आदि का सुख और अपने बच्चों से प्राप्त होने वाले मानादि भी सुख देने वाले नहीं प्रतीत होते। वैसे ही वृद्धावस्था में दुर्बलता आदि के कारण जब कर्म करने की शक्ति भी नहीं रहती तब भोगों के भी कर्म करने भारी पड़ते हैं। शरीर की आवश्यक क्रियाएं भी दुःखदायी ही प्रतीत होती हैं। इसलिये कर्म की शक्ति चाहे रहे या न रहे, आयु भर कर्मों का सुख तो बन पायेगा ही नहीं।

यद्यपि कर्म का सुख तो मिलना असम्भव हो जाता है परन्तु कर्म का बन्धन तो नहीं छूटता क्योंकि समय तो व्यतीत करना ही पड़ेगा। खाली बैठे का समय तो ऐसे जन का कैसे निकलेगा ? इसलिये बार-बार कर्मों में ही मन जायेगा; बाहर जगत में ही भटकेगा; हो कुछ पायेगा नहीं; तब केवल निराश होकर शोक में ही समय व्यतीत होगा। यही दुर्गति है। निश्चल बैठा तो जायेगा नहीं। परन्तु कर्म बिना खिन्न और दुःखी ही समय व्यतीत करेगा। यह सब कथा (कहानी) उस प्राणी की है जिसने कर्मों के बन्धन से निकलने या छूटने का यत्न नहीं किया। परन्तु जिस मनुष्य ने अपने जीवन के बाह्य सुख और कर्मों को नियम में रख कर साथ ही साथ आसन, ध्यान, विचार और ज्ञान आदि का भी सहारा लेने का अल्प कष्ट धारण किया हुआ हो वह व्यक्ति केवल एकान्त में अपने आप में भी रह सकेगा और उससे भी उसका समय

व्यतीत हो जायेगा। और अन्त में निश्चलता भी प्राप्त होगी। निश्चल बैठे को सब कर्मों के बन्धन से छूटने पर केवल आत्मा (अपना आप) का भी व्यक्त सुख (प्रकट सुख) मिल जायेगा। इसी को नैष्कर्म्य सुख कहते हैं।

भोगों में पड़े प्राणी से चाहते व न चाहते हुए दुष्कर्म भी तो हो ही जाते हैं। यदि मरते समय यही दुष्कर्म सन्मुख रहें तो मनुष्य का जन्म भी दुर्गति रूप ही होगा।

छोटे मोटे दुःख से, न करे परहेज,
मन बुद्धि शुद्ध राखे, राखे बन्धेज।
वाणी व देहादि से, करे शुद्ध व्यवहार,
शक्ति और ज्ञान पावे, भय को दे विदार।।
।३०।

यह पद्य संक्षेप से नैष्कर्म्य सुख पाने के लिये तथा संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिये साधारण रूप से अपने जीवन को कैसे साधना चाहिये इसी वार्ता को स्मरण करवाता है।

पद्यार्थ :- साधक मनुष्य को दिनों दिन साधना निमित्त छोटे मोटे कोई भी दुःख के संवेदन (महसूस) होने पर उस दुःख से परहेज नहीं करना चाहिए ; अर्थात् उसको मिथ्या रूप से टालने का मन नहीं रखना चाहिए, वरन् उस दुःख को बुद्धिपूर्वक सद्भाव से अर्थात् श्रेष्ठ मन का भाव रखकर स्वीकार करना ही उचित है। उससे ही कर्म बन्धन से निकलने की शक्ति मिलेगी। यही तप रूप होगा। प्रत्येक आवश्यक इच्छा को भी रोके रखने के दुःख को थोड़ा ज्ञानपूर्वक सहन करके पूरा करने का अभ्यास

卐卐

रखे। इस इच्छा रोकने के अभ्यास को व्रत रूप से कर ले तो जीवन ध्यान के अनुकूल बन जायेगा।

अनुचित भोगों को व उनके हिंसा, नशा आदि कर्मों को त्यागने से यदि मन और बुद्धि विकृत या मलिन होने लगें तो उसे शुद्ध रखने का यत्न बनाये रखे। मन यदि उद्वेग में आकर उन्हीं के सुख की कामना करे तो मन मैला हुआ। वैसे ही त्याग की दशा में यदि पुनः आदत से बाधित (लाचार) होकर बुद्धि भी उन्हीं भोगों और दुष्कर्मों को सुख के लिये करना उत्तम समझे तो ये मन और बुद्धि दोनों मलिन (मैले) होंगे। तब यत्न करके इनको शुद्ध रखे और उन भोगों और दुष्कर्मों का बन्धेज रखे अर्थात् उनके त्यागने का बन्धन बनाये रखे। जब तक त्याग सुख रूप नहीं तब तक त्याग भी बन्धन जैसा प्रतीत होगा। परन्तु इस बन्धन को अवश्य रखे। इसी प्रकार मन व बुद्धि मलिन होने पर देह और वाणी से, वैसे ही सब इन्द्रियों से भी (आँख, कान आदि से भी) मलिन व्यवहार हो सकते हैं; परन्तु यत्न से शुद्ध व्यवहार करे अर्थात् जिस मन की इच्छा पूर्ण न हुई, वह भड़क कर दूसरों की प्रसन्नता या सुख को सहन न कर सकने से उनसे चिढ़ कर भी बोलना रूप व्यवहार कर सकता है। जब आप स्वयं सुखी नहीं तो दूसरों का सुख भी मन को चिढ़ाता सा दीखता है। ऐसी अवस्थाओं में स्मृति और वीर्य बल के साथ अपने को सम्भाल कर रखे। तब समय पाकर उसका ध्यान लगने लगेगा। उससे अपने आप के ज्ञान की प्राप्ति होगी। ज्ञान द्वारा अपने में सब बन्धन समझ में आने लगेंगे। सब

卐卐

बन्धन त्यागने की शक्ति भी प्राप्त होगी। जन्म-मरण और संसार के सब दुःखों का भय समाप्त हो जायेगा। भोगों और भोगों के निमित्त दुष्कर्मों में पड़ा प्राणी एक ही चेतन पुरुष को मित्र, वैरी आदि रूप से देखता हुआ भय से बंधा रहता है। बन्धन रहित मनुष्य भेद देखने का कोई कारण न रहने से सब में एक ही देखता है, एक ही परमात्मा या ब्रह्म को सर्वत्र पहचानता है। वही उसका आत्मा है। इस प्रकार सर्वात्मदर्शी को पुनः किससे भय लगेगा ? अपनी आत्मा से किसी को भय नहीं लगता। मिथ्या सुखों में उलझे या बन्धे प्राणी को ही अपने भोग निमित्त मिथ्या कर्मों से ही भय लगता है। वही शरीर-शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा या जीव देखता है।

मोह और मान का है, निकट निकट देश,
होती हुई-हुई वस्तुओं में शोक, मोहावेश।
जग में श्रेष्ठपना बताकर, और जतानी शान,
कुकृत्यों की चर्या संग, हर्ष उछाले मान।।
। ३१ ।

यह पद्य मोक्ष मार्ग में मोह और मान की विघ्न करने की शक्ति को दर्शा रहा है।

परमपद को पाने के लिये साधना मार्ग पर चलने वाले मनुष्य के मार्ग को मोह और मान के बन्धन भी रोकते हैं। ये एक दूसरे के निकट ही वास करते हैं और धर्म के भली प्रकार आचरण में बहुत निकट से विघ्न डालते हैं। जब मिथ्या सुख और उनकी प्रीति रूप राग के त्यागने के लिये ध्यान, विचार किया गया और वस्तुओं के

卐卐

सत्य को पहचान कर मिथ्या बन्धन से मुक्ति पाने के लिए मन ने संकल्प किया तो मिथ्या सुख का मोह मन में उपस्थित होता है। इसी मिथ्या सुख के सारे राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारों के त्यागने में दुःखी और शोक युक्त हो जाता है। उन्हीं मिथ्या सुखों की अच्छाई को याद करता हुआ व्यर्थ की सोचों में खोया रहता है। यही मोह का स्वरूप है। जो वस्तु जैसे-जैसे काम में लाई गई है और सुख निमित्त प्रयोग में आ रही है, उन्हीं के बारे में सोच और चिन्ता करके शोक करना, विपरीत आ पड़ने पर दुःखी और शोक मग्न रहना यही मोह का आवेश (अन्दर घुस बैठना) है।

और जब पुनः उन्हीं भोग की वस्तुओं का सुख मिल गया तो अपने को श्रेष्ठ समझना और दूसरों को भी अपनी श्रेष्ठता जताना (अपनी शोभा या शान प्रकट करना) इत्यादि मान का स्वरूप है। इस मान के उछाल में और भोगों की प्राप्ति के हर्ष (अधिक खुशी) से पुनः बाहर कई एक प्रकार के खोटे कर्मों की ही चर्या होती है; अर्थात् पापों का ही आचरण होता है।

मोह में डूबा, मान से उछला, एक ही मैं का भाव,
जन्म से, जग में मीठा पाकर, हुआ अधिक लगाव।
कभी हुये को सदा जो चाहे, क्यों दीखे भगवान् ?
बहुतों में इक शाश्वत, मैं का होना (यही) अस्मिमान।।
। ३२ ।

मोह और मान मनुष्य की जगत् में ही पायी गई अस्मिता (मैं भाव) का ही भाग हैं। इसी अहंभाव (मैं भाव

卐卐

या खुदी) की अधिक प्रीति से ही सब में सम चेतन या भगवान् का ज्ञान नहीं हो पाता। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शा रहा है।

जो यह 'मैं' का भाव (अहंभाव या अस्मिता) जन्म से पाया गया है और बालक (बच्चे) के अन्दर भी प्रकट होता है, यह सब जगत् में ही इन्द्रियों के भोगों की मिठास पाने के कारण से अधिक प्रिय लगने लग गया है। बच्चे को उसके प्राकृतिक या अज्ञानता के दुःख भुलाने के लिये इन भोगों में यहाँ तहाँ खींचा गया। उनमें उसका ज्ञान उलझने पर संसार में होने का दुःख भूलने लगा। वही विषय और उनका संग ही मीठा या सुख रूप दीखने लगा। जब विषय सुख न मिला तो उनकी सोचों में खोये प्राणी की बाहर की 'मैं' भी खो गई। जब विषय सुख मिल गया तो यही 'मैं' उछल पड़ती है। मनुष्य इच्छा पूर्ति का सुख न मिलने की अवस्था में खोया हुआ सा जब उसी सुख को पाता है तो यह भी कहते सुना जाता है कि 'अब मैं अपने आप में आया या अपने आप में हुआ'। सब प्राणी देखते हैं कि हर्ष या खुशी में प्राणी अपनी 'मैं' को कैसे-कैसे उछालता है। उसी को श्रेष्ठ जताता है। कहता है कि 'मैंने यूं किया', 'मैंने ऐसा बोला', तब दूसरा चुप हो गया। इस प्रकार बाहर जगत् में मैं का पाना उसे मीठा प्रतीत होता है। यही सब मान का भी स्वरूप है। परन्तु सुखी होने पर ही यह 'मैं' मिलती है। दुःख में डूबी या खोयी ही रहती है।

अब इसी 'मैं' को जो कि बच्चे में माता, पिता आदि

ने प्रकट की, उसी के ही मोह में कोई खोया रहे तो सब में समरूप भगवान् पर कैसे दृष्टि पड़ेगी। सदा एक जैसी तो यह मिलने की नहीं परन्तु सदा बनाये रखने का भाव तो बना ही रहता है। इसी को शास्त्र में अस्मिमान् कहा जाता है। यह बड़ा भारी क्लेश है। यदि सर्वात्मा या सब में एक अपना ही आत्मा का दर्शन हो जाये तो यह 'मैं' तो पुनः कभी भी नहीं खोयेगी और यदि सब राग, द्वेष, मान, मोह और अन्तिम अविद्या आदि बन्धनों से रहित इस आत्मा का साक्षात्कार हो गया तो सुख रूप से यही सदा प्रकट ही मिलती रहेगी। तब मनुष्य कभी, कहीं भी अज्ञान में नहीं खोयेगा। उसे सदैव अपना आपा (आत्मा) प्रकट, सुख रूप से झलकता ही मिल जायेगा। उसका पुनः कुछ भी जानना नहीं रहेगा या जानने की इच्छा तक भी नहीं रहेगी। यही जीवन की सफलता है और नैष्कर्म्य सुख की प्राप्ति है।

दुःख में बिगड़ा, सुख से उपजा, सही अस्मिमान,
राग-द्वेष ताहे से ही जकड़े, जासे सब परेशान।
बिनु बहु सुख के, जीये कुछ दुःख में, खुश होवे भगवान्;
'मैं' के भाव से निपट गया, तो हो निर्वाणपद भान।।

। ३३ ।

मोह और मान में बल तो केवल बाहर ज़गत् में ही पाये गये अहंभाव (मैं के भाव) का ही है। इसी के कारण केवल मोह और मान ही बान्धने वाले नहीं वरन् राग, द्वेष और इनका काम, क्रोध आदि का सकल ही परिवार जगत् को परेशान करने वाला है। इन सब से मुक्ति पाये तो ही

भगवान् और परम पद रूप निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस सत्य को ही यह पद्य दर्शाता है।

यह जो जगत् में बालपन से पाया हुआ 'मैं' का भाव (अहंभाव) या अस्मिता है इसे ही शास्त्र में अस्मिमान् भी कहते हैं। यह दुःख पड़ने पर तो बिगड़ जाता है अर्थात् अपनी 'मैं' स्वस्थ नहीं मिलती। परन्तु जब इष्ट (इच्छा की) वस्तु मिल गई या सुख मिल गया तो उछल पड़ती है। जैसे कोई नशे की आदत वाला प्राणी नशा न पाये तो उसे अपनी नशे की तृप्ति की खुशी वाली 'मैं' नहीं मिलती, वरन् उस नशे की खोज में मनोमन वह डूबा रहता है। उसे जगत् की वस्तुओं के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान तक भी नहीं होता। इसी प्रकार सब सुख मिले तो 'मैं भाव' मिले; दुःख हुआ तो यह 'मैं भाव' भी खो जाता है। इसी कारण से प्राणी सुख की वस्तुओं में राग करता हुआ बन्ध जाता है और दुःख की वस्तुओं में द्वेष भी बान्ध देता है। इससे पुनः जगत् में दूसरों में बैठा भगवान् या परमात्मा समान रूप से तो दीखता नहीं; अपने स्वार्थ से मित्र भी वैरी ही दीखते हैं।

यदि थोड़ा सुख दुःख का स्वार्थ छोड़ कर जीवन की नाव को चलाना सीख ले तो इसी 'मैं' के भाव से भी मुक्ति मिलने पर सर्व में सम भगवान् भी प्रसन्न होगा। क्योंकि 'मैं' ही स्वार्थ हेतु सब को दुःखी करती है और 'मैं' का भाव और उसके सब बन्धन छूटने पर परमपद रूप निर्वाण की भी प्राप्ति होगी। निर्वाण सुख प्रकट से भासेगा।

सुख दुःख हेतु जन्मी जो जो, हुआ सो भव का नाम,
स्वयं हुआ बहुतों को हुवाया भव सागर यह वाम।
हो होकर फिर न भी होना, यह विभव भी दुःख रखाये,
नींद मौत में, यही 'मैं' (को) राखे, यहीं से वह जन्माये।।
। ३४ ।

पीछे कहे अस्मिमान या अस्मिता (मैं भाव) के क्लेश की जड़ है 'अभिनिवेश' नाम वाला क्लेश। अभिनिवेश शब्द का यह अर्थ है कि सदा जगत् में ही होने का मनुष्य का भाव। 'मैं सदा जगत् में होऊँ', 'ऐसा नहीं कि कभी न होऊँ'; इस प्रकार का जो जीव में भाव है उसी के कारण उसकी 'मैं भाव' के क्लेश से मुक्ति नहीं होती। इसी भाव को यह पद्य दर्शा रहा है और इसके साथ-साथ 'होने से विपरीत' भाव की सूचना देता है।

जगत् में जन्मने वाला प्राणी दुःख और सुख के हेतु जो-जो भी होता है, इसी को भव शब्द से मोक्ष शास्त्र बताता है। संस्कृत में भव नाम होने का है। जैसे कि सुख पाने के लिये किसी का पुत्र, मित्र हुआ; किसी का वैरी भी होना पड़ा; इसी प्रकार दुःख से बचने के हेतु भी दोषी, क्रोधी और हिंसक आदि क्या-क्या होना पड़ता है। कहीं उग्र कर्म वाला भी होना पड़े। यह सब जगत् में अपने 'मैं भाव' को बनाये रखने के कारण से ही होना पड़ता है। यही अभिनिवेश क्लेश है। जब एक प्राणी किसी एक प्रकार से जगत् में बर्तेगा या होगा तो उससे दूसरे भी तो प्रभावित होकर अपने स्वार्थ के कारण कुछ न कुछ होंगे या बनेंगे। इस प्रकार यह सब होने और दूसरों को हवाने

का एक भव सागर सा प्रतीत होता है। यह देखने में तो सुन्दर परन्तु विचार में मनुष्य के हित के विपरीत ही सिद्ध होता है। यही वाम शब्द का दो प्रकार का अर्थ है।

जगत् में बहुत प्रकार होने से विपरीत एक दूसरी भी तृष्णा है जिसे विभव तृष्णा का नाम दिया गया है। विभव शब्द का अर्थ है भव से विपरीत। इस विभव तृष्णा का तात्पर्य यह है कि जब बाह्य जगत् में होने का श्रम, खेद, दुःख अतीव बढ़ गया तो पुनः इसमें 'न होना' भी सुख रूप से प्रतीत होता है। जिससे सुख होता है उसकी ही तृष्णा होती है। भव या होने से विपरीत, विभव में पुनः सब प्रकार के होने की समाप्ति होती है। यह आलस्य, निद्रा या मौत आदि में ही सम्पन्न होती है। परन्तु इनमें 'मैं भाव' बना रहता है; यह नष्ट नहीं होता, उनसे श्रम आदि की निवृत्ति होने पर पुनः 'मैं भाव' उपज जाता है। जैसे निद्रा के पश्चात् जागना ऐसे ही मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म होता है।

यह 'भव' अर्थात् 'संसार में ही अपना आपा दूसरों के संग से प्रतीत या महसूस करना'; तब तक जीव का पीछा नहीं छोड़ता जब तक कि दूसरों के संग के बिना केवल अपने आप या आत्मा में ही मनुष्य का सुख पूर्वक टिकाव न हो जाये। जब दूसरों के संग के बिना अपना आपा (आत्मा) अपने आप में ही प्रकाशित या प्रकट भासने लग गया और उसका सुख अनुभव में आ गया तो पुनः संसार में होने की (भव की) आवश्यकता ही प्रतीत न होगी। संसार में होने के ही खेद और श्रान्ति (थकावट) को दूर

करने के हेतु 'विभव' (न होने की) तृष्णा है। जब सदा आत्मा में सुखपूर्वक बसा है तो कहीं थकावट होती ही नहीं। तब यह दूसरी विभव तृष्णा भी नहीं रहती।

बहु विध होने से दुःख में खोना, यही तो विभव बनाये,
श्रम कुछ त्याग, जाग फिर 'मैं' वश वैसे ही भव भी रचाये।
एक भव तृष्णा, विभव की अन्या, या वश जीव रुलाये,
दोनों को छोड़ जो स्मृति से विहरे जीवित मुक्ति पाये।।

। ३५ ।

ऊपर कहे तात्पर्य को यह पद्य पुनः स्पष्ट करता है। जब बहुत प्रकार से मित्र, वैरी, कामी, क्रोधी, रागी, द्वेषी होने से अपने स्वार्थ हेतु विविध कर्म वाला जीव होता है तो इसके श्रम (थकावट) से खिन्न और दुःखी भी हो जाता है। तब उसकी ज्ञान शक्ति और प्राण शक्ति भी इतनी ह्रास (क्षीणता) को प्राप्त हो जाती है कि जगत् में जीवन भी धारण करना कठिन प्रतीत होता है। तभी होने से विपरीत सब कुछ समाप्त करने में (न होने में) सुख प्रतीत होता है और तभी पुनः उसी के परिणाम स्वरूप निद्रा आदि में ज्ञान खो जाता है। इसी निद्रा आदि का इसी विभव (ज्ञान के न रहने) के कारण सुख प्रतीत होता है। जब खेद, निद्रा आदि ने श्रम कुछ कम कर दिया तो पुनः भव (होने की) तृष्णा रचना आरम्भ कर देती है। तो इस प्रकार भव और विभव इन दोनों की तृष्णा जीव में सदा से बनी हुई चलती आ रही है। इसी कारण जीव जगत् में खोया बहता जाता है, अपनी आत्मा में शान्ति नहीं पाता। भव तृष्णा संसार में होना रूप रजोगुण का है।

विभव तृष्णा पुनः तमोगुण का अन्धकार स्वरूप है। ये दोनों ही एक दूसरे के साथ जीव को सदा संसार में ही बान्धे रखती हैं। यदि इन दोनों तृष्णाओं को ध्यान और विचार में भली प्रकार से समझ कर स्मृति पूर्वक जीवन को धारण करे तो जीवन काल में ही इनसे मुक्ति को पा जाये। मुक्ति पाने पर आत्मा ही आनन्द रूप से प्रकट हो जाये और उसकी तृप्ति सदा बनी रहे।

इन ऊपर कहे दोनों पद्यों का यह भाव है कि मनुष्य अपने आप में अन्धा है। अर्थात् आत्मा के ज्ञान पर अविद्या का पर्दा पड़ रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने आप में ज्ञान का दीपक नहीं जलता। अन्दर की आँख नहीं खुली। ज्ञान के बिना जड़ अवस्था में जीव कैसे सुख पा सकेगा ? उसे इस जड़ अवस्था में अपने विनाश की शंका होने लगती है। तभी उसके संसार के संस्कार प्रकट होकर या उद्‌बुद्ध (जाग्रत) होकर मनुष्य को क्रम से संसार में ही प्रकट कर देते हैं। यहाँ वह अपनी 'मैं' को पाता है तथा जड़ अवस्था से निकल आता है। इसलिये यह प्रिय भी लगती है। इसीलिये इसकी तृष्णा सदा बनी रहती है। परन्तु सदा संसार में होना सुख रूप नहीं। जब संसार में होना दुःख रूप अनुभव में आने लगा तो इसके विपरीत न होने की भी तृष्णा है, अर्थात् जब संसार में होता है; एक दूसरे के संग से स्वार्थ के कर्मों में लगा है तो यह सदा एक रूप से तो नहीं बन सकता; बाहर शक्ति और ज्ञान की क्षीणता होने पर बाहर से आँख बन्द करने की इच्छा होती है; यही मीठी लगती है। तभी पुनः जीव, संसार

जहाँ नहीं रहे, ऐसे गाढ़ तमोगुण में डूब जाता है। तो इन दो का चक्र निद्रा और जाग्रत; इसी प्रकार जन्म और मरण के रूप में सदा चलता रहता है। यदि अपने में ध्यान, विचार से विवेक प्रकट करके इन दोनों तृष्णाओं से कोई मुक्ति पा जाये तथा आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाये तो परमपद को पा जाता है। जन्म मरण का चक्र भी समाप्त हो जाता है। इन दो प्रकार की तृष्णाओं को त्यागने से पहले इन दोनों तृष्णाओं को ध्यान द्वारा अपने आप में दुःख रूप से साक्षात् प्रकट (अपने ज्ञान दृष्टि से अनुभव) करना पड़ता है। तब कहीं ऐसा 'सत्त्व' या 'शुद्ध सत्त्व' ज्ञान, स्वरूप से जागेगा जो इस भव सागर से मुक्ति दिलायेगा। मुक्ति से पहले संसार के सब सुखों में वैराग्य उत्पन्न करेगा।

ॐ इति नैष्कर्म्य सुख वर्ग ॐ



卐卐

卐 अथ सत्प्रेरणा वर्ग 卐

मन में प्रहर्ष बहु तृष्णा का प्रकोप,
उद्धता कुकृत्य कराकर करे मति लोप।
अधिक खावे, अधिक बोले, करे अधिक पाप;
रोग, शोक, दण्ड (रुप में) पावे आत्मा का शाप।।
। ३६ ।

जैसे-जैसे मन चाहता है वैसे-वैसे विषयों का संग देने से मन में अधिक खुशी (प्रहर्ष) अवश्य होती है। परन्तु इससे उस प्रहर्ष के लोभ से उन विषयों के संग को मन बार-बार चाहेगा। यही तृष्णा का प्रकोप है। यह तृष्णा की शक्ति प्रकट दीखती तो नहीं; परन्तु मन में छिपी मनुष्य को बलपूर्वक भी विषयों के संग की ओर ही ले जायेगी और उस अधिक हर्ष से उछला हुआ (उद्धत) मन और भी मिथ्या (गलत) कार्य (कुकृत्य) ही करेगा। और उन कार्यों से मनुष्य की सत्य की राह पर चलाने वाली बुद्धि पर ही पर्दा पड़ेगा। उद्धता (मन का उछाल) ही कौकृत्य (खोटे जैसे कर्म) करवाती है। अधिक खाना, अधिक पीना, अधिक बोलना और अपने मन की तृप्ति के लिए हिंसा, चोरी, झूठ, जारी और नशा आदि सेवन के पाप भी अधिक होंगे। और इनके परिणाम (नतीजे) स्वरूप इसी जीवन में ही रोग और उनके कारण तृष्णा पूर्ण न हो सकने के कारण शोक भी होगा। यह सब परिणाम (नतीजा) अपनी आत्मा ही दिखलायेगी। वह सब आत्मा का ही शाप रूप होगा।

卐卐

इस पद्य से पूर्व अध्यात्म दर्शन (अन्दर के ज्ञान) का प्रसंग था। जिसमें दर्शन शास्त्र सम्बन्धी सत्यों की चर्चा और विश्लेषण (छानबीन) करना था। अब पुनः इस पद्य से साधन प्रसंग आरम्भ होता है। पिछले पद्य में जो यह अन्त में बतलाया कि दोनों प्रकार की (भव और विभव) तृष्णा को जो छोड़कर स्मृति या याद को सही रखकर विहार करे अर्थात् अपने जीवन को सही रूप से धारण करे तो वह अपने जीवन काल में इन से मुक्त होकर अपनी आत्मा में स्थायी (सदा बनी रहने वाली) शान्ति पाता है। इसी शान्ति और मुक्ति के मार्ग को आगे के पद्य सरलता से दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

हर्ष को कुछ अल्प रखके, करे युक्त संग,
उदास सही होगा, मन थोड़ा होगा भंग।
थोड़ा सा यह दुःख भव भेषज बन जाय,
ध्यान, ज्ञान द्वारा बड़े दुःख से बचाय।। । ३७ ।

ज़ब मन चाहा विषयों का संग करेंगे तो ही मन में प्रसन्नता या खुशी की लहर दौड़ेगी और पुनः तृष्णा सब कुकृत्य (खोटे कर्म) करवायेगी। परन्तु यदि इन विषयों के सेवन के हर्ष को कुछ अल्प या कम रख कर युक्तियुक्त अर्थात् बुद्धि विचार द्वारा सही ढंग समझ कर, शरीर की आवश्यकता पहचान कर ही उचित प्रकार से सेवन किया जायेगा तो मन थोड़ा उदास तो अवश्य होगा; और उन विषयों के सुख के लिए उछला हुआ थोड़ा भंग भी होगा अर्थात् उसका इरादा पूर्ण न होने से मन भटकेगा भी; परन्तु यह थोड़ा सा ही दुःख है। कोई शरीर धारण करने

卐卐

की आवश्यकता कम करने का दु:ख तो है नहीं; परन्तु भविष्य में अविचार से विषयों के सेवन से होने वाले भयंकर दु:ख और उनकी दासता से बचने के लिए है। इसलिये यह आत्म संयम (अपने पर काबू पाने) का अल्प दु:ख भव के रोग को हटाने की औषधि बन जायेगी। जैसे कड़वी औषधि भी रोग निवृत्ति के हेतु मनुष्य सेवन करता है इसी प्रकार आत्म संयम का दु:ख थोड़ा अनुभव में कड़वा (कटु) भी है तब भी संसार चक्र से निकलने के लिये अपनाना ही पड़ेगा।

यही ऊपर कही गई आत्म संयम की कटु औषधि ध्यान और ज्ञान को उपजाने में कारण बनेगी। इसके द्वारा महाकष्ट रूप संसार से छुटकारा मिलेगा। जितना मन अपने पर काबू पायेगा उतना उसके बारे में विचार किये बिना भी तो रह नहीं सकेगा। यही विचार ध्यान का रूप लेकर सत्य वस्तु या सत्य के ज्ञान का कारण बन कर सारे संसार के दु:खों की जड़ ही काट डालेगा। अपनी ही कमजोरी प्रकट दिखला देगा। जब संयम के दु:ख को हज़म कर लेगा तो एकान्त में आसन पर बैठकर ध्यान की योग्यता प्राप्त करेगा। और जब इस संयम के दु:ख के बारे में विचार करेगा तो सब रोग आदि बन्धनों का ज्ञान भी होगा। इनका ज्ञान होने पर मुक्ति का मार्ग भी ध्यान में ही विचारेगा। तब ये बन्धन छूटने पर अपनी आत्मा की शान्ति और सुख भी पायेगा। तब संसार के महान् दु:ख से सदा के लिये मुक्ति मिल जायेगी।

卐卐

धर्म में साफल्य का प्रमोद है जरूर,
उसमें ही प्रहर्ष का है, खोटा ही सरूर।
औद्धत्य टिका वहाँ भी, कुकृत्य को कराये;
जब जागे बुद्धि पुनः पाछे पछताये।। । ३८ ।

यह पद्य साधक को सावधानता बनाये रखने के लिये प्रेरित करता है कि जब मनुष्य अपने को संयम में रखना आरम्भ करेगा और आत्म संयम का अभ्यास बढ़ने लगेगा तो इससे मन में प्रमोद या प्रसन्नता भी होगी। पहले पहले तो कष्ट भले प्रतीत हो परन्तु अभ्यास बढ़ने पर संयम का फल स्वास्थ्य (तन्दरूस्ती) आदि में भी प्रतीत पड़ने पर मन में उत्साह वृद्धि भी होगी। परन्तु उसमें भी अधिक प्रसन्नता का सरूर (नशा) तो उत्तम नहीं है; खोटा ही है। क्योंकि इससे मनुष्य अपने में अभिमानी सा होने लगता है। दूसरों को संयम में दुर्बल देख कर स्वयं अपने में श्रेष्ठता का मान भी कर सकता है, इस जैसा उसका नशा उत्तम नहीं है। इस मान, अहंकार और दूसरों से श्रेष्ठता के नशे में टिका हुआ औद्धत्य (मन का उछाल) इस साधक पुरुष से भी कुकृत्य (खोटे कर्म) करवा सकता है। इसलिये मनुष्य को साधना के साथ-२ सावधानता भी रखनी पड़ेगी। इसलिये हर समय स्मृति या मौके की सम्भाल या सुधि या याद बनाये रखनी होगी। नहीं तो ऐसा व्यक्ति कहीं मिथ्या विवादों में भी उलझ सकता है। व्यर्थ में क्रोधी होकर दूसरों का मन से बुरा भी सोच सकता है। मन में अशान्ति तो कुकृत्यों से बनी ही रहती है और दूसरों से कलह आदि में शाप आदि भी मुख से निकाल सकता है। परन्तु इन सब का परिणाम पश्चात्ताप ही होगा। क्योंकि जब कहीं मन

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

शान्त होने पर बुद्धि जगेगी तो इससे अपने किये हुए का खेद ही प्रकट होगा। यह भी एक दूसरे प्रकार का भव जाल ही है, संसार चक्र ही है। मान के बन्धन में पड़ जाता है। इससे भी टल कर अपने आप की एकान्त की चुप्पी की शान्ति ही भली है। निष्फल अभिमान के वचन और विरोधीवाद से केवल मन में दुःख ही होता है। दुःख देने वाले कर्म का पश्चात्ताप ही फल है अर्थात् अन्तिम परिणाम (नतीजा) है।

क्षण के सुख का लाभ, मुझे न ही हो पसन्द;
निहित अन्दर बाहर सही, जिसमें बड़ा द्वन्द्व।
थोड़ा सा मसोस (अफसोस), मुझे आसन पै सुहाय,
जिसकी राह से, ध्यान, ज्ञान अनन्त को मिलाय।।
। ३६ ।

पिछले पद्यों में बाह्य हर्ष को अल्प ही रखने का यत्न बतलाया गया। बाह्य हर्ष का तात्पर्य है संसार में ही होना अर्थात् संसार में ही मन का फैलाव भला या अच्छा जचना; यही सब तृष्णा का स्वरूप है। इस भव तृष्णा से विपरीत है अपनी आत्मा में प्रतिष्ठा, या फिर आत्मा में स्थिति के लिये अन्तर्मुखता के अभ्यास का होना। इसी के निमित्त जैसा मन का भाव बनाना चाहिये व संवेदन (महसूस करने) में लाना चाहिये उसी भाव के बारे में यह पद्य सूचित करता है कि :-

साधक मनुष्य को ऐसा मन का भाव बनाना चाहिये कि बाहर के विषयों से होने वाले सुख क्षण मात्र ही दिखाई देते हैं। इससे अधिक इनका सुख नहीं टिकता। इसलिये यह सुख मुझे प्रीति करने योग्य प्रतीत नहीं होते। इसलिये मेरी

卐卐

रुचि के भी नहीं हैं। यह (ऊपर कही प्रकार वाला) भाव विचार और ध्यान द्वारा ही बनेगा। नहीं तो सब जीवों में होने वाला बाह्य प्रकृति का तृष्णा वाला मन (भाव) तो इनमें क्षण मात्र की अच्छाई दिखलाकर छलता ही रहेगा। इसलिये साधक को ध्यान और विचार में इन विषयों के सुख में अन्दर और बाहर का द्वन्द्व अपने अनुभव में लाना चाहिये। द्वन्द्व का तात्पर्य है कि विपरीत दो भावों का होना; अर्थात् अन्दर बाहर का झगड़ा। एक अनुकूल जचता है तो दूसरा उससे विपरीत। विषयों को उपार्जन करने में बाहर जगत् में संघर्ष करना पड़ता है। यह बाहर का संघर्ष रूप दुःख इनके सुख के साथ-साथ ही रहेगा। तृष्णा बढ़ने पर, मन के चाहने पर भी रोग, शोक आदि के भय से इनका त्याग वाला मन भी बनेगा। उधर तृष्णा से इनके संयोग का मन प्रबल होता है तो इस प्रकार दो विपरीत भावों के बीच पड़ा मन अन्दर ही अन्दर दुःखी ही होगा। इसलिये इनके हर्ष की तृष्णा छोड़ने में यदि अल्प मसोस (शोक) भी हो तो उसे एकान्त में आसन पर बैठ कर विचार द्वारा अपने मन में सुहावने रूप में ही देखे। आसन पर उचित रीति से निद्रा पर भी अधिकार पाकर यदि इस शोक के कारण को पहचाना जायेगा तो इसका मूल बाह्य (बाहर की) तृष्णा ही दिखाई देगी। इस तृष्णा को सब दुःखों की जड़ पहचान कर थोड़ा दुःख पाकर भी रोकने या नष्ट करने पर ध्यान द्वारा अनन्त ज्ञान स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। इसलिये क्षण के सुख और उनके हर्ष को अधिक न माने। बाह्य विषयों के सुख की तृष्णा का एक सब से बड़ा दोष यह भी है कि बाहर के विषय के संयोग का सुख हो तो भले

卐卐

कितना भी अधिक परन्तु रहता है वह थोड़े ही समय के लिये। उस सुख का वियोग होने पर मन छला हुआ सा उसी की याद या स्मृति में इतना खोया हुआ रहता है कि इसे व्यापक जीवन रूप, चारों ओर फैले, अनन्त परमात्मा में उसे उस सुख बिना मन का टिकाव ही नहीं मिलता। बच्चे को, जैसे उन बड़े सुखों के बिना भी, यह चारों ओर फैला हुआ संसार प्रीति के साथ अपने में धारण कर रहा था वैसे इन बाह्य सुखों की मिथ्या तृष्णा वाले को यह संसार अपने में नहीं धारण करता। तृष्णा वाले व्यक्ति का मन उन सुखों के बिना इस संसार में कहीं भी नहीं रमता तथा कहीं भी नहीं लगता। इसीलिये उसे जन्मना मरना पड़ता है, केवल इन्हीं सुखों के लिये ही। यदि यही तृष्णा क्षीण होने लग जाये तो क्रम से मन ऊपर उठता-उठता अन्त में अपने आप में ही या आत्मा में ही शान्त हो जायेगा।

आपहु किये बिना कछु बने नहीं बात,
दूजे के बताने से टूटे न घनी रात।
शुद्ध मन निज में ही सामर्थ्य स्वयं पाये,
सूझने का सभी कुछ स्वयं ही सुझाये।। । ४० ।

अन्दर और बाहर के सत्यों को, अर्थात् आत्मा और जगत् के सच्चे स्वरूप को स्वयं ही मनुष्य ध्यान और विचार की सूक्ष्मता (बारीकी) में पहचानने का यत्न करे; केवल शास्त्रों के पढ़ने से या किसी दूसरे गुरु आदि के केवल सुनने, बतलाने मात्र से अविद्या की घनी रात्रि नष्ट नहीं होगी। इसी तात्पर्य को ही यह पद्य इस प्रकार दर्शा रहा है कि :-

स्वयं मनुष्य को अपना यत्न किये बिना जो कुछ शास्त्र

卐卐

में फल कहा है वह नहीं प्राप्त हो सकेगा। शास्त्र में जो परमपद रूप से स्थायी शान्ति या सुख की बात कही है वह तभी बन पायेगी जबकि मनुष्य स्वयं अपने को संयम (काबू) में रखकर, आसन, ध्यान आदि का अभ्यास करके उस ध्यान में विचार की सूक्ष्मता (बारीकी) तक पहुँचकर इस प्रकृति या बाहर के मन को, क्षण मात्र के सुख की लपक को दुःखदायी रूप से अपने अनुभव में लायेगा, और पुनः अपने को अल्प दुःख पाकर भी बुद्धि विवेक से संसार में चलाता हुआ अपनी आत्मा पर पर्दा रूप अविद्या को नष्ट करके आत्मा के सुख को अनुभव करेगा।

दीर्घ काल के अभ्यास से संयम, ध्यान और ज्ञान द्वारा मन अत्यन्त शुद्धि प्राप्त करके जब विषयों से मुख मोड़ेगा तो स्वयं इस साधक मनुष्य में सामर्थ्य की प्राप्ति होगी जिससे कि जो सत्य मनुष्य को निकट रूप से अनुभव में आने चाहियें वे सब अपने आप ही ध्यान में सूझने लगेंगे। और अन्त में सब बन्धनों से मुक्त आत्मा या अपना आपा भी आनन्द रूप से प्रकट होगा। जब क्षण के थोड़े सुख त्यागने पर अल्प सा भी दुःखी होकर पुनः उन्हीं विषयों की ओर ही मनुष्य भागेगा तो ऐसे दुर्बल मन वाले से वह सामर्थ्य या शक्ति कैसे हो सकती है कि जगत् या आत्मा के सत्य को वह पहचान सके। सब बाह्य व्यर्थ के सुख त्यागने पर जब उनमें मन का भाव तक भी न रहे तो ही पूर्ण मन की शुद्धि समझी जायेगी। शुद्ध मन वाले को सत्य सुझाई पड़ेगा। कीचड़ में बसने वाले कीट को कीचड़ के दुःख या उससे मुक्ति अच्छी नहीं लगती।

卐卐

काम के सुखों में, दिन सारा बीत जाये,
इन्हीं की प्रतीक्षा में, जीवन बिताये।
ऐसा लागे मरने को, ही जन्मा था यह देह;
प्रकृति की चाकरी में बिना सन्देह।। ।४१।

पिछले दो पद्यों में दर्शाया गया है कि प्रकृति जन्म के स्वभाव से जिन सुखों में इच्छा या काम उत्पन्न करके मनुष्यों को अन्दर बाहर के द्वन्द्व में बनाये रखती है, वह क्षण मात्र ही रहते हैं। उनको मनुष्य स्वयं अपने संयम, ध्यान, विचार और ज्ञान के बल से तुच्छ समझने का प्रयास (यत्न) करे और आनन्द रूप आत्मा को पहचाने। यह पद्य इस मार्ग में विघ्न करने वाले काम सुखों के छलने की पद्धति (रास्ते) को दर्शा रहा है कि किस प्रकार मनुष्य इन्हीं काम सुखों में खोया हुआ सारा जीवन खो बैठता है।

काम नाम है उस इच्छा का जो कि वस्तु की चमक या प्रियता को महसूस करने के साथ-साथ मन में छा जाती है और काम के विषय को पाने का यत्न उत्पन्न करती रहती है। जब विषय सुख मिल गया तो यह क्षण मात्र के लिये थोड़ा संतोष देती है। पुनः मन इस काम सुख के बिना किसी दूसरे वैसे सुख की कामना करता है। वह भी अल्प काल ही रहेगा; पुनः उस सुख का वियोग (बिछोड़ा) महसूस करके किसी तीसरे काम सुख को सोचेगा। ऐसे करते-करते सारा दिन व्यतीत हो जाता है। वैसे ही इन्हीं काम सुखों की प्रतीक्षा करते-करते इन्हीं के लिये उपायों में लगे, और उनके भोगों में खोये-खोये सारा जीवन ही व्यतीत हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के बारे में सोचने (विचारने) तक का अवसर भी नहीं मिलता और यदि कोई

卐卐

विचार में आत्मा परमात्मा के बारे इच्छा भी करे तो मन वैसे विचारने में भी नहीं लगता और उल्टा निद्रा ही सिर पर चढ़ बैठती है। मनुष्य का मन इन्हीं बाह्य सुखों से इतना अपने आप में दुर्बल हो जाता है कि इन सुखों के अयोग्य होने पर सारा संसार उसे सूना (खाली) सा दीखता है, कहीं भी मन नहीं टिकता। अन्त में घनघोर निद्रा में मृत्यु के उपरान्त वह अपने आप को कहीं जन्मा हुआ ही पायेगा। और उसी सुखों की रात्रि के अन्धकार में पुनः मरेगा। यही संसार चक्र दुर्बल मन वाले का कभी भी शान्त नहीं होता; कभी भी नहीं मिटता। इससे तो समझदार व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह देह केवल अन्य पशु पक्षी आदि जीवों के समान केवल मरने को ही जन्मा था, अपना भला साधने को नहीं। यह तो प्रकृति की कभी भी न समाप्त होने वाली नौकरी (चाकरी) ही है। इसमें कोई संदेह भी नहीं दीखता।

बहुत दूर धर्म की सोचना न जन के मन को भाये,
उद्देश्य भव्य जीवन का, न कुछ भी बनने पाये।
है करनी जब ऐसी, क्यों कोई सोचे आत्मा;
भरणी भी फिर वैसी ही, तो गया परमात्मा।।

। ४२ ।

जो गत पद्य में प्रकृति की चाकरी की चर्चा की गई थी उस स्वभाव में पड़ी दासता रूप चाकरी को ही यह पद्य स्पष्ट करके दर्शा रहा है। मनुष्य इतना प्रकृति की चाकरी में खोया रहता है कि बहुत दूर अर्थात् आगे आने वाले समय के बारे में सोचना और उस दूर समय में जैसा धर्म हित करने वाला है उसके बारे में अभी से ही विचार जगाना

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

भी मनुष्य के मन को नहीं भाता। इसलिये भव्य अर्थात् होने योग्य या उत्तम उद्देश्य (मन का पाने का निशाना) सारे जीवन का व्यवस्थित रूप से कुछ बनने ही नहीं पाता, कि जीवन भर के यत्न से अन्त में मैंने कहां पहुँचना है या क्या पाना है। यदि कोई ऐसा उद्देश्य (निशाना) हो तो मनुष्य अपनी चेष्टाओं को तथा यत्न को सुचारु या भली प्रकार से एक व्यवस्था या ढ़ंग में बांध दे। परन्तु काम के सुखों को यह क्षण ही प्यारा (प्रिय) है जो मीठा और आकर्षक लगता है। इसलिये बहुत दूर की या सारे जीवन की कौन सोचे; या सोचने दे। यदि कुछ आगे की सोचे तो इन काम सुखों के दुष्परिणाम (बुरे नतीजे) ध्यान में जानने में आने लगेंगे तो मन पुनः इनको बिना दुःख के द्वन्द्व, अर्थात् अन्दर के विरोध के कैसे भोग सकेगा। इनका परिणाम दुःख रूप देखते हुए कैसे खुशी-खुशी, इनमें खोया रह सकेगा। तब तो ये मीठे लगने की बजाये कटु व विष रूप ही दीखेंगे। इसलिये भोगी मनुष्य आगे के बारे में तो यही कहता है कि 'देखा जायेगा जो कुछ आगे आयेगा' 'कल किसने देखा है' इत्यादि-इत्यादि वह अपने को ही भूल में डाले रखता है और स्वयं ही भोग भोगता रहता है। जब तक विषयों के सुख में छुपा दुःख दृष्टि में नहीं पड़ा तभी तक विषय भोगने में मीठे लगते हैं। जब उनमें छुपा दुःख दृष्टि में पड़ जाये तो मन भोगने या छोड़ने के द्वन्द्व में पड़ जायेगा। इसलिये भोगी मन इस विषय सुख में दुःख देखने में जानबूझ कर भी अन्धा ही रहना चाहता है।

जब ऐसा ही उसका वृत्तान्त है तो कल परसों व सदा

卐卐

बने रहने वाला अपना आपा (आत्मा) तो उसे दृष्टि में है ही नहीं। उसके या उसकी भलाई के बारे में वह सोचेगा भी कैसे ? पुनः जब समय आन पड़ेगा और भोगों का दुष्परिणाम, रोग, शोक और सब दुःख आन पड़ेंगे तब पुनः उस दुःख में जब अपनी ही सुधि (होश) ठिकाने नहीं तब व्यापक सब में समान, आनन्द रूप परमात्मा पुनः उसे कहां दीखने का होगा क्योंकि वह तो अपनी करनी को ही भरने में रहेगा।

अबोध के अन्धकार में न कबहुँ टिका जाये,
और दुःख की अधीरता, सहारे को दर्शाये।
कुछ दुःख में जीना सीख ले, तो बन ही जाये बात,
तृष्णा न जो हिलाय तो हो बोध की प्रभात।।

। ४३ ।

गत दो पद्यों में प्रकृति से प्रेरित काम को तृप्त करने वाले सुखों को मोक्ष मार्ग या सहज, स्थायी सुख के मार्ग में विघ्न करने वाला दर्शाया गया। अब यह पद्य इस काम के क्षणिक सुखों की दासता से निकलने के मार्ग को दर्शा रहा है।

जिस मनुष्य ने काम सुखों के साथ अधिक समय व्यतीत किया है तो उसके श्वास भी काम सुख वाले मन ने ही चलाये हैं। यदि एक साथ इस काम सुख से कोई छुटकारा पाना चाहेगा और इनका संग छोड़ेगा तो उस व्यक्ति का श्वास भी आराम से न चलने के कारण उसे दुःख का अनुभव होगा। क्योंकि मन तो उन्हीं सुखों की तृष्णा या राग (प्रीति) वाला है। केवल बाह्य संग मात्र ही

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

काम के सुखों को (बाहर से ही) छोड़ा गया है अर्थात् अन्दर से या मन से उनकी तृष्णा तो छूटी नहीं। इस अवस्था में मन्न केवल इनसे विरहित हुआ-हुआ खाली सा दीखेगा; विषयों के संग के सुख में राग या तृष्णा के कारण अन्य किसी में भी सुख से लगना नहीं चाहेगा, क्योंकि विषयों के संग के सुख की तृष्णा तो अपने ही भोग चाहेगी वह मन को दूसरी ओर कैसे जल्दी से लगने देगी ? अपने ही भोगों के निमित्त चित्त या चिन्तन को जगायेगी। यही सब तृष्णा का बन्धन है। तो इसी अवस्था में खाली सा पड़ा हुआ अबोध या अविद्या के अन्धकार में ही बसा रहेगा। यह अवस्था ज्ञान शून्य होने से दुःख रूप प्रतीत होती है। बिना ज्ञान वाला मन तो जाग्रत काल में आराम से श्वास भी नहीं ले सकता; ऐसी अवस्था में दुःखी मन सुख पाने के लिये अधीर होकर कोई सहारा चाहता है। इसलिये जो साधक अभी दुःख सहन करने में दुर्बल है वह पुनः पुराने संस्कारों के चक्र में पड़ कर काम के सुखों की ओर ही भागेगा। क्योंकि मन उन्हीं को झटपट सहारा रूप से दर्शायेगा।

यदि कोई साधक इस काम के सुख को त्याग कर थोड़े दुःख को सहन करने का अभ्यास बढ़ाले तो शास्त्र में कही मोक्ष की बात बन जायेगी अर्थात् मोक्ष का साधन बन जायेगा। मन का, दुःख में या दुःख की अवस्था में टिकाव प्राप्त कर लेने पर यद्यपि तृष्णा तो मनुष्य के मन को अवश्य हिलायेगी, ध्यान आदि के मार्ग से डिगाना चाहेगी परन्तु यदि कोई दुःख में टिकाव के साथ-साथ निद्रा को भी उचित मात्रा में वश में करके स्थिर रहेगा तो वह

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बोध की प्रभात तक भी पहुँच जायेगा। अर्थात् जगत् और आत्मा के बारे में सब सत्यों के ज्ञान को पा जायेगा। जब मनुष्य अपने मन को स्थिर रखता हुआ दुःख में टिका रहने का यत्न करता है तो दुःखी मन निद्रा की ओर झुक जाता है। निद्रा मीठी लगने लगती है। दुर्बल मन वाला साधक इस निद्रा की मिठास के वशीभूत होकर इसी ज्ञान से विहीन लय अवस्था के सुख में पड़ा रहना भी अच्छा या शुभ समझता है। इस अवस्था से भी मन को जगा कर एकाग्र रखने पर ध्यान में विचार जग जायेगा और वह सारे जगत् के सत्यों के साथ-साथ आत्मा और परमात्मा को निकट रूप से जानने वाला होगा। यही बोध है।

तृष्णा की प्रतिक्रिया का, जब शान्त होगा मन,
तब ही जगेगा बोध और सुख पावे तन।
स्पष्ट सारे बन्धन झलकें, गलित भी हो जायें;
ज्ञान व विमुक्ति के झरनों में जो नहाये।।
। ४४ ।

जब कोई साधक मनुष्य काम के सुखों को क्रम से विचार द्वारा कम करते-करते छोड़ना चाहेगा, तो तृष्णा की प्रतिक्रिया (विपरीत क्रिया) अवश्य होगी। काम के सुखों को, सब को एक साथ छोड़ना उचित नहीं है। पहले शरीर की आवश्यकता को देखते हुए मनुष्य को अपने काम या इच्छा के सुखों को एक सीमा में बांधना चाहिए। जितनी देह की आवश्यकता है, उतनी ही सीमा तक बाहर की वस्तुओं का सेवन करना; और शेष जो केवल मन की तृप्ति या समय ही व्यतीत करने के लिये काम सुख चिपका रखे

हैं उनको एक-एक करके समाप्त करके उनके दुःख को पाचन (हजम) करने के लिये थोड़ा दुःख में या दुःख के साथ भी श्वास चलाना (जीना) सीखना चाहिए। इस सीखने का अर्थ यही है कि त्याग के दुःख को एकान्त में आसन पर बैठ कर विचार द्वारा सहन करने का अभ्यास बढ़ायें। इन काम के सुखों के भविष्य में होने वाले महान् दुःख को ध्यान में रखते हुए त्याग के अल्प दुःख को रोगी मनुष्य के समान सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। रोगी मनुष्य भी तो पथ्य सेवन करता हुआ थोड़ा दुःखी होता है क्योंकि वह अपनी रुचि का नहीं है। रोग को दूर करके स्वास्थ्य लाने के लिये जैसा-जैसा खाना, बर्तना या करना उचित है, वह सब पथ्य (परहेज) के अन्तर्गत है। इस पथ्य सेवन को आदतों वाला मन अपनी रुचि से तो नहीं करना चाहेगा, थोड़ा दुःख पाकर ही पथ्य (परहेज) रखा जा सकेगा। इसी दुःख के समान ही अन्दर या आत्मा की स्वस्थता पाने का भी पथ्य सेवन (परहेज) है। थोड़ा विषयों के सुख को त्यागने का कष्ट रूप तप हर्षपूर्वक स्वीकार करना ठीक है। ऐसी अवस्था में तृष्णा की प्रतिक्रिया होगी। इन काम के सुखों का राग बार-बार उन्हीं विषयों को सुख रूप से सामने लायेगा, पुनः उनकी इच्छा आकर्षक रूप से मन को लुभायेगी, तब उनके लिये मन यत्न करने पर भी उतारू होना चाहेगा। ऐसी अवस्था में अभी मन की स्थिरता न होने से बोध या सत्य का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता, मन खिन्न या दुःखी भी रहता है, ऐसा होने पर मन को पुनः तृष्णा, निद्रा की ओर भी ले

जाती है। तब भी ज्ञान के मार्ग में विघ्न ही होता है। परन्तु निद्रा को उचित रीति से दीर्घ काल के अभ्यास से यथायोग्य वश में करके जब मनुष्य एकान्त में आसन पर जागता हुआ डटा रहेगा तो एक दिन यह तृष्णा का सारा विरोध शान्त भी हो जायेगा, तब बोध भी जगने लगेगा। इन काम के सुखों के कारण ही दुःख होता हुआ साधक को अपने ज्ञान में दिखायी देगा। यदि यह तृष्णा इतनी बढ़ी न होती तो क्यों न मन बच्चे जैसे आनन्द से जगत् में खेलता रहता, परन्तु इनके वियोग के कारण ही दुःखी है। तृष्णा अधूरी रही ही संताती है। इस प्रकार बोध होने पर सब राग, द्वेषादि अविद्या तक सब बन्धन स्पष्ट ध्यान में झलकने लगेंगे और गलित अर्थात् मनुष्य से दूर होने लगेंगे। जब तक मन इनको पहचानने के स्तर तक अपने ज्ञान को नहीं जगा सका था तब तक ही सूक्ष्म मन या अन्तःकरण में ये सब बन्धन छिपे-छिपे काम, क्रोध, लोभ आदि को उत्पन्न करके संसार चक्र में डालते रहते थे। जब ये पहचान में आने लग गये, इतना बोध या प्रत्यक्ष बुद्धि या ज्ञान जाग गया तो अब यह ज्ञान वाले मन में सब दुःखों की जड़ रूप से दीखने पर बन्धन टिके नहीं रह सकते। जब तक अबोध या इन बन्धनों का वैरी रूप से ज्ञान नहीं था तब तक ही ये बली थे, उल्टे वैरी बने बैठे थे; अपने परिवार को ही, अर्थात् काम, क्रोध तथा मिथ्या कर्म और उनका दण्ड इत्यादि के रूप में सामने लाते रहे। जब मनुष्य सदा बहने वाली सत्य ज्ञान की धारा में नहाने लग गया तो साथ-साथ ही इन बन्धनों की विमुक्ति की

धारा भी शान्त रूप से बहने लगी। इन दो धाराओं में सदा स्नान करने वाले में पुनः संसार बन्धन और सब जगत् का दु:ख कैसे टिक सकेगा ? तब अल्प काम के सुख को त्यागने से महान् जगत् के बन्धन के दु:ख से बचाव रूप परमपद भी प्राप्त होगा। यही मोक्ष या निर्वाण रूप से कहा गया है। तब सब ओर विस्तीर्ण (फैला हुआ) चेतन ही चेतन दिखाई पड़ेगा। और बन्धनों की अवस्था में ही इस व्यापक चेतन पर पर्दा पड़ रहा था, बन्धा मन काम के क्षेत्र में ही और अपनों में ही ज्ञान पाता था। जब तक उनका तृष्णा वाला मन रहा तब तक चारों ओर विस्तार वाला जीवन का सागर दिखायी ही नहीं दिया। यही उस पर अज्ञान या अविद्या का पर्दा था। बोध द्वारा ही यह सब मनुष्य पायेगा। सब जन यही अनुभव करते हैं कि जब मन इच्छा की वस्तु पा जाये तो ही संसार सब भला प्रतीत होता है नहीं तो उसे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखायी पड़ता है। जब तृष्णा नहीं रही, काम इच्छा का बन्धन नहीं रहा तो सारा जीवन का सागर स्वर्ग या बैकुण्ठ धाम ही दीखेगा। यहाँ कोई भी संसार के संयोग का दु:ख नहीं। मनुष्य स्वयं अपने मन या अपने आपे की पढ़ाई करे, थोड़ा संसार के जाल से और अपने पराये से मन को हटा कर एकान्त में बैठने का अभ्यास बढ़ाये। परन्तु निद्रा या आलस्य के सुख में ही समय व्यतीत न करे। ऐसे मनुष्य को स्वयं अपने आप में सब सत्य प्रकट होने लगेंगे। वह स्वयं अनुभव करेगा कि यदि वह अपने घर से बाहर कहीं दो या तीन दिन भी रहे तो उसका मन वहां उदास सा, अपने को अकेला सा पड़

गया देखता है; यद्यपि वहाँ भी चारों ओर जीवन का सागर लहरा रहा है, सब प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते हैं। परन्तु इस मनुष्य का मन उन्हीं अपनों में और अपनों में मिलने वाली 'मैं' में इतना बन्ध रहा है कि उसे व्यापक में कहीं ठिकाना नहीं। बस ! इस सत्य दर्शन से कुछ सीखे, मरने पर जब ये सब अपने छूट जायेंगे तो क्या होगा ? इसके बारे में विचार करें। तब आत्मा नाश रहित होने पर भी सुखी तो नहीं होगा, उन्हीं अपनों के लिए तड़पेगा और संसार में ही जन्मेगा।

ॐ इति सत्प्रेरणा वर्ग ॐ



卐卐

卐 अथ श्रुत वर्ग 卐

किन्हीं ने, सत्य को कुछ देखा,
समझा और वैसे ही गाया।
हुये तो, वे ही, परम महान्, जिन्होंने;
देखा सब कुछ पर मौन जताया।। ।४५।

पिछले पद्यों में आत्म संयम, ध्यान, विचार द्वारा बोध को प्रकट करके जगत्, आत्मा और परमात्मा के सत्यों को साक्षात्कार करने की प्रेरणा दी गई थी, तथा उसका शास्त्र के अनुसार संक्षेप से मार्ग भी दर्शाया गया; परन्तु ये सब सत्य जो अन्त में किन्हीं ने देखे, उन सब सत्यों का सही रूप क्या है; इसके बारे में शंका होने पर उसके उत्तर स्वरूप आगे के तीन पद्य हैं, तथा उन्हीं सत्यों के बारे में उनसे सम्बन्ध रखने वाली कुछ आवश्यक सूचनायें हैं कि :-

किन्हीं संयमी उद्योगी ऋषियों ने अपने ध्यान में इन ऊपर कहे गये जगत्, आत्मा, परमात्मा के सत्यों को कुछ भी देखा; देख कर पुनः उन्हें ध्यान की गम्भीरता में विचार करके विशेष करके समझा, अनुभव किया और जैसे कुछ समझा वैसे ही अपने छन्दों में गाया कि जगत् दुःख रूप है; आत्मा, सत् चित्, आनन्द स्वरूप है; परमात्मा के बारे में बहुत प्रकार से सूचनायें दीं। ये सब एक प्रकार के ऋषि थे।

परन्तु इन से अन्य प्रकार के दूसरे भी उद्योगी, त्यागी, तपस्वी ऋषियों ने अपने ध्यान में सत्य या तत्त्व के बारे सब कुछ देखा; परन्तु देखने पर जब उस सत्य को व्यक्त या जगत् में प्रकट करने का उनका छन्द (इरादा) हुआ तो उस सत्य बतलाने के उपयोग के बारे में विचार किया तो उन्हें यह

卐卐

प्रतीत हुआ कि ये सब सत्य स्वयं ही ध्यान अवस्था में साक्षात्कार करने के हैं। दूसरों को बतलाने पर इनका कोई सही ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे दुःख सुख जो हमने अनुभव किये हैं या कोई स्थान या वन अपनी खुली आँखों से देखा है, तो उसके बारे में शब्द बोल कर हम उनका सही चित्र अनुभव करने के योग्य दूसरे के मन में प्रकट नहीं कर सकते वे तो उनके स्थान पर ही पहुँचने पर प्रकट रूप से अनुभव में आयेंगे। परन्तु सत्य के अनुभव का मार्ग दर्शा सकते हैं। ये जो परम महान् पुरुष हुए उन्होंने सत्य के बारे में देखा सब कुछ, परन्तु मौन ही दर्शाया।

सत्य की राह बतायी,
और उस पर चल कर दिखाया।
और चलने चलाने वालों का,
इक धर्म का ही नाता बताया।। ।४६ ।

जबकि परम महान् पुरुषों ने सत्य के बारे में मौन ही दर्शाया अर्थात् उन्होंने 'सत्य क्या है?' 'कैसा है ?' इस बारे में वे मौन (चुप) ही रहे तो दूसरा पुनः सत्य को कैसे जानेगा ? इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप यह पद्य है कि :-

उन परम महान् मितभाषी (माप के शब्द ही बोलने वाले) ऋषियों ने इन्हीं सब सत्यों को स्वयं प्रकट रूप से अपने आप में जानने के लिये राह (रास्ता) बतला दिया कि सब पाप, बुराई त्याग कर, सब अच्छाई अपना कर, पुनः मन की शुद्धि रखते हुए संयम, ध्यान और विचार के मार्ग से विवेक उत्पन्न करके इन सत्यों को अपने आप में आप भी वैसे ही प्रकट, निकट रूप से देखें जैसे कि हमने देखा है।

हां ! यदि यह सब बुराई के त्याग आदि के धर्म का जगत्

卐卐

में निर्वाह कठिन देखता हो तो उन्होंने अपने निदर्शन (मिसाल) से उस धर्म पर पूर्ण रीति से चल कर दूसरों को उत्साह दिया; उनके मन को दीप्त, प्रचण्ड कर दिया जिससे कि दूसरे भी उस पर चलने का उद्योग तथा उत्साह बनाये रखें। बाह्य जगत् (साधारण जन) को केवल बाहर के सुखों के ही रास्ते पर चलते देखकर यह निश्चय नहीं कर लेना चाहिये कि इन बाह्य (बाहर के) सुखों के बिना कोई दूसरा अन्दर का अध्यात्म जीवन (जीने का रास्ता) ही नहीं। यह सब उन महापुरुषों ने दूसरों को अपने त्याग और तपोमय जीवन से प्रेरणा दी।

उस मार्ग पर चलने वाले पुरुषों का, जो उस मार्ग पर चल चुके हैं तथा उसका अन्त पा चुके हैं ऐसे चलाने वाले पुरुषों के साथ केवल एक धर्म का ही सम्बन्ध (नाता-रिश्ता) बतलाया। अर्थात् जैसे धर्म मार्ग पर चलाने वाले धर्म रखते रहे, उद्योग से धर्म का निर्वाह करते रहे, ऐसे ही यदि चलने वाले शिष्य आदि भी धर्म रखें तब तो वे अपने हैं नहीं तो सांसारिक पुत्र आदि का इस में कोई नाता रिश्ता नहीं। ऐसे बाह्य सम्बन्धों से तो वे दूर ही रहते अर्थात् बाहर के पिता पुत्र आदि अनेक रिश्ते नातों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस लौकिक रिश्ते या नाते से धर्म या मोक्ष के मार्ग पर कुछ भी सिद्ध होने का उन महापुरुषों ने नहीं बतलाया। पवित्र धर्म रखे तो अपना, नहीं तो न अपना न पराया। यही उनकी नीति रही।

मिथ्यामान को दिया नहीं राह,
चाहे कैसा भी हुआ अभियान।
यदि चाहे वह पृथक् निर्वाह,
तो करे भले वह पृथक् प्रस्थान।। । ४७ ।

卐卐

पिछले पद्य में ही कहे अर्थ का यह पद्य स्पष्टीकरण करता है कि :-

मिथ्या पिता, पुत्र तथा अन्य वैसे ही जगत् के सम्बन्धों के मिथ्या मान को उन महान् पुरुषों ने कोई मार्ग नहीं दिया; अर्थात् उनको इस धर्म मार्ग में कोई महत्त्व नहीं दिया। जैसे कि कोई कहे कि 'मैं उस महान् गुरु का बेटा हूँ या शिष्य हूँ' इतने से यदि वह यह प्रकट करना चाहे कि 'मैं आदर या पूजा के योग्य हूँ' तो इस सब को उन सत्यों के पहचानने वाले पुरुषों ने कोई स्थान नहीं दिया और न ही मोक्ष मार्ग पर चलने के लिये ऐसे सम्बन्धों या नातों का कोई उपयोग ही बतलाया। यद्यपि कुछेक ऐसे अल्प (ढ़ीले) उद्योग वाले दुर्बल साधकों की ओर से कैसी भी विचार द्वारा योजना बनाई गई हो। कई एक श्रद्धालु तो यही समझ लेते हैं कि हमारा तो महापुरुषों के आशीर्वाद से ही कल्याण हो जायेगा, परन्तु अपनी दुर्बलतावश वे मिथ्या मार्ग को छोड़ नहीं सकते। कई एक अपने बाह्य स्वार्थों के चक्र में पड़े उन महापुरुषों के नाम पर मिथ्या बातों को भी धर्म में प्रवेश कर देते हैं, परन्तु महान् पुरुष या सत्य को पहचानने वाले इस सब को अपने साथ चलने के लिये कोई मार्ग नहीं देते। उनका जन तो वही है जो उनके सही मार्ग पर चले। और स्वयं व्यर्थ के सुखों का त्यागी, त्याग के दुःख को सहन या पाचन (हजम) करने में तपस्वी; तथा ध्यान, विचार के बल से ज्ञान को अपने अन्दर जगा कर स्वयं सब सत्यों का साक्षात्कार करे।

हां ! यदि कोई इस धर्म पर चलने की शक्ति न रखता हो तो उस से वे घृणा नहीं करते; उनके लिये भी वे दयालु अवश्य हैं। ऐसी अवस्था में वह अपने ही ढंग से निर्वाह चाहने पर उनसे पुनः पृथक् होकर ही चले। अर्थात् वह उसको अपना

卐卐

करके नहीं कहने के, चाहे वह अपने पूर्व का पुत्र, मित्र कोई भी हो। यहाँ निर्वाह शब्द का यह तात्पर्य है कि यदि कोई यह समझे कि अपनी ही रुचि या शक्तिभर धर्म निर्वाह करके या कर लेने पर वह पूर्णता को प्राप्त होगा तो भले वह वैसा समझे और अपने ही ढंग से चले, उसका महापुरुषों से उनके धर्म की नातादारी नहीं है अर्थात् वे उनके धर्मपुत्र नहीं कहे जायेंगे। इससे यह बात प्रकट हुई कि उनका अपना पराया कोई भी नहीं। धर्म ही अपना; और धर्म पर चलने वाले जन ही अपने होते हैं। यदि कोई जन अपने ही मन चाहे के अनुसार चले तो भले वह अपने ही मार्ग को अपनाये, उन महापुरुषों का वह कुछ भी नहीं है। उनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

निज मन से जो बुझाया भगवान्,
हो उसमें व्यक्त केवल उस जन का अभिमान।
श्रुत से मिलाकर कुछ जो पाया;
उसमें सुन्दर, शिव, सत्य समाया।। ।४८।

जगत् के अन्तिम सत्य के बारे में महापुरुषों ने मौन ही दर्शाया। परन्तु जिस भगवान् की भक्ति करनी चाहिये उसके बारे में उनका क्या सिद्धान्त (अन्तिम निर्णय) है। इस रहस्य को यह पद्य व्यक्त (प्रकट) करता है किं भगवान् को यदि कोई बाह्य या सांसारिक (दुनियावी) मन से अपने विचार द्वारा बुझाना या समझाना चाहेगा तो वह केवल उस व्यक्ति विशेष की मानता का ही भगवान् होगा। और उस मानता से केवल उसी व्यक्ति का अभिमान ही प्रकट होगा।

यदि कोई साधक पुरुष श्रुत अर्थात् शास्त्र में सुने के अनुसार पुनः धर्म मार्ग पर चलकर साधना करता हुआ अपने ध्यान में उसे (भगवान् को) जानने का प्रयास (यत्न) करेगा तो वह साधक

卐卐卐

पुरुष भगवान् को सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप से पहचानेगा।

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि जगत् का कोई भी सुख सदा बना नहीं रहता। इसलिये यह जगत् की प्रत्येक वस्तु अपनी अच्छाई के साथ सत्य नहीं है। सत्य वह वस्तु कही जाती है जो सदा समान रूप से बनी रहे और अन्त में जगत् में सुख के स्थान पर दुःख ही मनुष्य के हाथ लगता है; इसलिये यह (सांसारिक सुख) शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप भी नहीं। जो सदा भलाई के रूप में ही रहे वही 'शिव' (कल्याण) शब्द का अर्थ है। इसमें वैर, विरोध संघर्ष आदि होने के कारण यह सुन्दर या प्रिय लगने वाला भी नहीं है।

परन्तु भगवान् इस जगत् से सदा मुक्त होने से तथा अपने नित्य ज्ञान स्वरूप में ही रहने के कारण से सत्य है; और सदा सब जगत् के बन्धनों से मुक्त होने के कारण से स्थायी सुख शान्ति का भण्डार है। इसीलिये शिव या कल्याण रूप भी है। सब वैर, विरोध संघर्ष से परे होने के कारण सब के चाहने योग्य अतीव सुन्दर भी है। यही सत्य शिव, सुन्दर स्वरूप भगवान् भक्ति के योग्य है। जब ऐसे भगवान् के ये सब गुण उसकी भक्ति द्वारा किसी भक्त या महात्मा में प्रविष्ट हो जायेंगे तो वह भी सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप वाला ही दूसरे प्राणियों को देखने में आयेगा। यही गुण युक्त (सगुण) भगवान् पद्य में चर्चा में लाया गया है।

तुमने नहीं देखा, नाम सुना भगवान्,
फिर कैसे करोगे निज मन से उसका ध्यान ?
सब शुभ गुणों की उसकी मूरत बनाओ;
नामों के सतत् स्मरण से निज मन में बैठाओ।।
। ४६ ।

पिछले पद्य में दर्शाया गया कि भगवान् का सत्य शिव, सुन्दर स्वरूप भजने के योग्य है। यह पद्य उसके भजन या भक्ति की प्रणाली (मार्ग) को दर्शाता है कि :-

किसी भी आजकल के व्यक्ति ने भगवान् को अपनी लीला धरती पर करते तो देखा नहीं कि जिससे वह उसका ध्यान कर सके; उसका नाम अवश्य सुना है। तो पुनः उसका ध्यान कैसे किया जाये ? यह शंका पद्य में करने पर उसका उत्तर नीचे की दो पंक्तियों में दिया गया है कि उस भगवान् में सब वैराग्य, क्षमा, संतोष आदि गुण और मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, दान, शील, ध्यान, वीर्य, प्रज्ञा आदि बलों की मूर्ति अपने मन में बनाओ और उसके इन्हीं गुणों वाले भगवान् के नामों द्वारा सतत् (लगातार) स्मरण करते हुए उसे सदा अपने मन में बैठाओ। इस पद्य का तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने जीव सुलभ (जीव में पाये जाने वाले) काम, क्रोध, लोभ आदि अनन्त विकारों वाला है। वैसे ही ईर्षा, मत्सर, द्वेष, राग, संशय, मान, मोह और अविद्या आदि बन्धनों से युक्त है। यही इस जीव की दुर्बलतायें हैं। तो साधक पुरुष का कर्तव्य है कि जब-जब उसके मन में कोई विकार या बन्धन उसे बाधा (पीड़ा) पहुँचाये तब वह स्थिरतापूर्वक उससे विपरीत भगवान् के गुणों का अपने मन में चित्र खींचे। काम या तृष्णा की बाधा पर भगवान् के वैराग्य का स्मरण करे; क्रोध में क्षमा को; लोभ में संतोष को; वैसे ही ईर्षा, मत्सर और द्वेष में भगवान् के मैत्री के बल का चित्र अपने मन में धारण करे। पुनः,स्वयं भी अपने सब बन्धनों के विपरीत भगवान् के सब बन्धनों से मुक्त ज्ञान का शान्त चित्र अपने मन में बैठाये या बसाये। इससे उसे

सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप भगवान् का दर्शन होगा तथा स्थायी शान्ति प्राप्त होगी।

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे जगत् के काम, क्रोध, लोभ आदि विकार मन में प्रकट हों वैसे-वैसे स्वयं भी भगवान् के गुणों को स्मरण करता हुआ भगवान् का भक्त अपने मन में भी विचार द्वारा भगवान् के वैराग्य, क्षमा, संतोष आदि गुणों को धारण करने का प्रयास करे। वैसे ही दूसरों कें सुख में ईर्षा या द्वेष आदि की अवस्थाओं में भगवान् के मैत्र्यादि बलों को अपने मन में उपजा कर अपने अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा भगवान् की गुणमयी मूर्ति धारण करे। इसी से भगवान् के स्वरूप का ध्यान चिन्तन बढ़ेगा और भगवान् में बसने वाली शान्ति सत्य ज्ञान द्वारा प्रकट होगी। पूर्ण ज्ञान पाने के लिये ध्यान के बल को बढ़ाये। भगवान् पूर्ण ज्ञानवान् होने से संसार के सब अविद्या आदि बन्धनों से मुक्त है। वैसे ही उसके भक्त को भी होना है।

शुभ गुण किसी का जो, दृष्टि में समाये,
निज में हर्षा कर उसको मन में बसाये।
ईर्षा जाये, द्वेष छूटे, टूटे अभिमान;
अल्पता का भाव छूटे, ब्रह्म में प्रयाण।।

। ५० ।

यह पद्य अन्य प्रकार की भी भगवान् की भक्ति को दर्शाता है कि यही नहीं कि केवल भगवान् के गुणों को अपने अन्दर बसाना ही भक्ति है। सर्व में एक व्यापक तत्त्व या सत्य रूप ब्रह्म को पहचानना यह परे की भक्ति तक भी मनुष्य को पहुँचना है। इसके लिये किसी भी दूसरे व्यक्ति में यदि भगवान् का कोई वैराग्य आदि गुण या मैत्र्यादि किसी भी बल का दर्शन

साधक पुरुष को हो तो उस व्यक्ति के गुण को हर्ष या प्रसन्नता के साथ अपने मन में बसाना चाहिये। उस व्यक्ति की उस अच्छाई या श्रेष्ठता को मन में बसा कर उसकी मनोमन प्रशंसा करनी चाहिये; और उसके गुण या किसी के पुण्य कर्म को स्मरण करके मन प्रसन्न कर लेना चाहिये और यह समझने का प्रयास करना चाहिये कि उस गुण या मैत्री आदि बल के रूप में भगवान् ही उसमें बैठा है।

ऐसा करने से मनुष्य में अपनी बुराइयों वाली 'मैं' या अहंकार से मुक्ति पाने का मार्ग खुलेगा। अपनी ईर्षा छूटेगी, द्वेष भी घटेगा, अभिमान भी कम होगा; जब यह सब होने लगेगा तो 'मैं भाव' (खुदी) की समाप्ति पर केवल एक ही चेतन सब में दिखाई पड़ने लगेगा; इसी को ब्रह्म का प्रयाण या ब्रह्म को पाने का मार्ग कहते हैं। जब तक यह ईर्षा-द्रेष आदि के विकार और बन्धन नहीं छूटते तब तक ही जीव अपने में छोटा बना बैठा है। जब ये सब छूट गये तो इसका ज्ञान विस्तार रूप ब्रह्म को प्राप्त होगा। केवल अवगुण या विकारों वाली, जीव भाव वाली 'मैं' (अहंकार) ही सब मैल (गन्दगी) को लिये हुए होने से मिथ्या अभिमान में पड़ी है। जीव दूसरों की गुणों वाली अच्छाई अपनाने लग जाये तो यह मलिन 'मैं' नहीं रहेगी। पवित्र निर्मल ज्ञान ही अपने अन्दर और दूसरों में समान रूप से अनुभव में आयेगा। यही शान्त ब्रह्म का भाव है।

दुःख में न टिकोगे, पावोगे कैसे ज्ञान ?
सुख हेतु अधीर को, छले अज्ञान।
जल बिन मीन तड़फे, मन पाने को बोध,
हरें बन्धन, करें संस्कार मति अवरोध।। ।५१।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

पिछले पद्यों में भगवान् सत्य, शिव, सुन्दर रूप से बतलाया गया तथा जीव की अल्पता का भाव त्याग कर ब्रह्म में पहुँचने की चर्चा की गई। यह पद्य इस उत्तम फल की प्राप्ति के हेतु सामर्थ्य (शक्ति) लाभ करने के साधन में साधक को प्रेरित करता है।

यदि दुःख में अपने को स्थिर रखकर आसन, ध्यान का अभ्यास नहीं करोगे तो कैसे पुनः सर्व दुःख को अन्त करने वाला ज्ञान पा सकोगे ? वही पुरानी आदतों वाले सुख के लिए ही यदि मन अधीर रहेगा कि कब वही सुख मिले। उसका तो समय समाप्त हो चुका है, उसकी प्रतीक्षा या आशा वाले मन को तो अविद्या या अज्ञान ही शीघ्र छलेगा। अर्थात् जिन सुखों का समय निकल चुका है उनके बारे में यदि मन सोचों में खोया रहेगा तो उसे उनको पुनः पाने का तो कोई मार्ग (रास्ता) सूझेगा नहीं; परन्तु तृष्णा उनसे मुख फेरने नहीं देती; जीव उनके ही उपाय के लिये विचारों में खोया रहेगा; और उपाय कोई दीखेगा नहीं तो ज्ञान शून्य, अज्ञान (अविद्या) की दशा में ही मन भूला हुआ समय व्यतीत करेगा; जो यह जीव चाहता है वह उपाय का ज्ञान नहीं मिलता, और सुख की तृष्णा के कारण व्यर्थ की सोच मिटती नहीं। जो जानना चाहता है वह दीखता नहीं तो ऐसी अवस्था में मन अपने आप में ज्ञान की टूटती हुई धारा को महसूस करके दुःखी होता है। यही अविद्या का छल है। अटूट ज्ञान धारा ही आत्मा शब्द का अर्थ है। ऐसी स्थिति में ज्ञान का भूखा जीव यदि सही आत्मा या सत्य का ज्ञान रूप बोध न जगा सका तो पुनः पुराने संस्कारों के चक्र में ही पड़ेगा, और उनमें सब राग द्वेष आदि बन्धन पुनः उसकी मति को भ्रष्ट कर देंगे और सत्य आत्म

ज्ञान की दिशा में न जाने देंगे। मनुष्य को पुनः संसार में ही कहीं जगत् के प्राणी और पदार्थों के संग से मिथ्या आत्म लाभ (अपने आप में बने रहने का भाव का अनुभव) जन्म द्वारा करवायेगा। जैसे जल बिना मछली तड़फती है ऐसे ही अविद्या या अज्ञान की दशा में जीव बोध या ज्ञान रूप अपनी आत्मा को पाने के लिये छटपटाता है परन्तु वही पुरानी सुख की तृष्णा के कारण उसे व्यापक (सब में विद्यमान) ज्ञान तो दिखाई नहीं देता। जैसे नशे की आदत वाले व्यक्ति को नशे बिना जगत् शून्य प्रतीत होता है। जब तक उसको नशा प्राप्त न हो ले तब तक उसका अपना आपा खोया हुआ रहता है। वह अपने आप में प्रतीत नहीं होता। ऐसी अवस्था में उसको अपने आप के ज्ञान की शून्यता सी प्रतीत होती है। इस अवस्था में ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा का 'न रहना' या 'नाश' सा ही होने जा रहा है। परन्तु कोई भी नष्ट होना तो चाहता नहीं; इसीलिये अपने आपके बने रहने का ज्ञान जैसे तैसे भी उपजाता है, चाहे नशा प्राप्त कर लेने पर हो या अन्य प्रकार से। परन्तु तृष्णा पूर्ण करने पर जो अपना आपा या आत्मा मिलता है वह तो एक दिन खोया हुआ ही होगा, क्योंकि तृष्णा सदा पूर्ण करते रहना बनता नहीं। इस तृष्णा को पूर्ण करते रहने पर जब रोगों का दुःख सताने लगे तो पुनः दुःख के साथ भी तो सुख रूप आत्मा नहीं मिलता। इसलिये मनुष्य को अन्त में यही उत्तम मार्ग अपनाना उचित है कि इस तृष्णा वाली आत्मा या अपने आपे का मोह छोड़कर शुद्ध ज्ञान स्वरूप, दुःख में और सुख में समान रूप से बसी रहने वाली आत्मा, और सब में भी समान जो है वही अनुभव में आये।

जीव के अवगुणों के विपरीत, गुण का धाम,
दुर्बलता प्रतीप (विपरीत) उसके, सुमिरे बलों के नाम।
नाम द्वारा अर्थ चिन्तन, सुन्दर मन का योग;
अपने में जो धारण करले, कट जाये उसका रोग।।
।५२।

बिना किसी सहारे के एकान्त में आसन पर मन कैसे टिका सकेगा ? यह पद्य मन को टिकाने के लिये भगवान् के गुणों का सहारा लेने की ओर निर्देश (इशारा) करता है।

साधक मनुष्य को एकान्त में आसन पर स्थिर होकर कल्याण पक्ष के सर्व वैराग्य आदि गुणों वाले चेतन स्वरूप भगवान् का ही सहारा लेना चाहिए। इससे उसे भव सागर के पार जाने की सामर्थ्य (शक्ति) प्राप्त होगी।

जब मनुष्य एकान्त में आलस्य (सुस्ती) और निद्रा से रहित होकर आसन पर अपने को धारण करेगा तो मन में कई एक प्रकार के जीव के विकार उस जागते मन में घूमते दिखाई पड़ेंगे। नाना प्रकार के विषयों के और उन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों के चित्र, पुनः संशय, काम (इच्छा), क्रोध और चिढ़ आदि मनुष्य के मन को अपनी ही दिशा में ले जाना चाहेंगे। यही सब सांसारिक जीव के विकार या अवगुण हैं। और भगवान् इन विकारों से विपरीत वैराग्य, क्षमा, संतोष और संसार से परे के सुख का धाम है; सदा अपने में जाग्रत ज्ञान की ज्योति वाला सब संशयों से परे है। उसमें कोई भी स्वार्थमयी संसार की दृष्टि नहीं है।

वैसे ही मनुष्य की दुर्बलतायें हैं। इसको राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या और सब प्रकार की बाह्य जगत् की आसक्ति

बान्धने वाली है। इसलिये इसे बाहर जगत् में ही अपनी 'मैं' या आत्मा मिलती है। भगवान् सब मैत्री आदि बलों वाला है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, दान, शील, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा ये सब भगवान् के बल हैं। इनके सहारे से वह सदा अपने आप में पूर्ण है। अपने आप में ही रहता है। जगत् से परे सुख का धाम है। इंसलिये सत्य, शिव, सुन्दर रूप से कहा जाता है। यही सब जीव के अवगुण, विकार और दुर्बलता आदि के विपरीत उसके गुण और बल हैं।

इन सब के नाम मनुष्य को भली प्रकार से स्मरण करके इन्हीं नामों के अर्थ को मन में चिन्तन करना चाहिये। यह मन को जोड़ने का सुन्दर सहारा है। जैसे कि मैत्री का अर्थ है दूसरों के सुख में आप स्वयं भी सुखी होना; सब जन तो अपने और अपनों के सुख में सुखी होते हैं परन्तु भगवान् सब के सुख में सुखी है। इसलिये मैं भी यदि सब के सुख में सुखी होने का यत्न करूँ तो मेरे में भी भगवान् का मैत्री गुण धारण करने में आयेगा। इससे मेरी द्वेष आदि से मुक्ति होगी। इसी प्रकार भगवान् के एक-एक गुण का मन में अर्थ समझ-समझ कर मनुष्य ध्यान में अपने में धारण करने का यत्न करे तो उसको संसार में ही अपने को रखने की दासता या रोग से छुटकारा (मुक्ति) मिलेगा। इससे अपने आत्मा का सनातन सुख प्राप्त होगा और जीव भाव की तृष्णा और स्वार्थ से छुटकारा मिलने पर उसे अपने आप की व्यापकता का ज्ञान या अनुभव भी होगा। इसका यह तात्पर्य है कि वह शुद्ध हुई-हुई अपनी आत्मा को दूसरों की भी शुद्ध आत्मा से न्यारा नहीं देखेगा। यही सब में समभाव या आत्मा की व्यापकता का अनुभव है। जीव भाव

के तुच्छ स्वार्थ वाली आत्मा ही छोटी है। स्वार्थ से रहित तो ज्ञान स्वरूप आत्मा सब में समान ही है।

पृथक् असुन्दर कण-कण, जो निज में न भाये,
अन्तर्यामी उन सब को मेले और इक कर दिखाये।
एक ही चमक से देता, उन सब में अपनी लो,
और एक ही सूत्र में देता उन सब को ही पिरो।।
। ५३ ।

पीछे के पद्यों में भगवान् के स्वरूप, गुण और मैत्रादि बलों की चर्चा थी। जिन सब को जीव ने अपने कल्याण या भलाई के लिये अपने में यथाशक्ति यत्न से बसाना है। अब आगे के तीन पद्य भगवान् के ही अन्तरतम (अत्यन्त निकट अन्दर के) स्वरूप का ध्यान और उसका प्रकार सूचित करते हैं।

पद्यार्थ :- भगवान् के तप, त्याग, संतोष आदि गुणों को अपने में धारण करने से तथा मैत्री आदि बलों को भी मन में बसाने से जगत् के राग और द्वेष रूप बन्धन तथा उनसे ही उपजने वाले काम, क्रोध, लोभ, संशय आदि विकारों से भी पर्याप्त (काफी) फुरसत मनुष्य पा जायेगा। अब मन को तो खाली रहने की आदत नहीं, जो मन संसार में अधिक उलझा था उसका समय तो उसी उलझन की समस्याओं को निपटाने आदि के सोच विचार और कर्मों में व्यतीत होता था, परन्तु धर्म या अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले के लिये तो वे सब सहारे न होने पर मन को केवल अपने देह में ही भगवान् के ही परमात्म-स्वरूप में लगाना भलाई के लिए होगा। इस परमात्म-स्वरूप को अपने देह में ही दृष्टि एकत्रित करके ध्यान में लाना होगा। आरम्भ का प्रकार पद्य में सूचित किया गया है

कि मनुष्य को देह के स्वरूप का ध्यान करते-करते यही देखना है कि हमारा खाया हुआ अन्न या पीया हुआ जल अपने प्रत्येक कण में देखने आदि में भद्दा है परन्तु इसी देह में एक ज्ञान से युक्त ऐसी विद्युत तरंगों वाली शक्ति है कि वह उस प्रत्येक कण को जैसा कोई जीव है वैसा ही स्वरूप देती है; पशु, पक्षी, घास, वनस्पति और वैसे ही मनुष्य का रूप भी वही देती है; अपना-अपना आहार या अन्न तो सभी खाते हैं परन्तु वह अन्न देह; में पहुँचने पर जैसा कोई जीव है वैसे ही रूप में प्रकट हो जाता है। उन सब अलग-अलग कणों को एक रूप में बांध देती है और उन सब में वही अपनी ज्ञान की चमक से सभी के देहों में 'मैं भाव' को अनुभव करती है और एक ही 'मैं रूप' के सूत्र में अन्य सभी कणों को प्रकट करती है। सब उसे एक रूप (मैं रूप) ही मानते हैं। पृथक् कण-कण के स्वरूप में नहीं देखते। इसी ज्ञान युक्त शक्ति को क्षण-क्षण स्फुरित होते या स्पन्दन करते अपने में अनुभव करना है।

सब का अन्तर्यामी जो, निश्चय सब को बसाये,
क्षण-क्षण वह चमके फिर कहीं छुप भी जाये।
बस व्यक्ताव्यक्ति यह दोनों इसके खेल;
यही ! बसे वासुदेव तुम जाओ चुप्पी में हेल।।
। ५४ ।

जिस अन्तर्यामी की गत पद्य में चर्चा की गई थी उसी के ध्यान का प्रकार ही यह पद्य भी दर्शा रहा है।

पद्यार्थ : जैसे ही जन्म के उपरान्त जीव अपनी आँख खोलता है कि उसके ज्ञान में यह महान जीवन का सागर जो बाहर हम सब देखते हैं प्रवेश करता है। जिसमें पृथ्वी, जल,

तेज, वायु, महान् आकाश, सूर्य और चन्द्र यह सर्वत्र समान रूप से बसे होने से वसु कहे जाने वाले भी हैं; ज्ञान रूप आत्मा जो जीव में है वह आठवां वसु शास्त्रों में कहा गया है। यह इन्हीं आठों वसुओं में क्षण-क्षण, नव-नव रूप में झलकने वाला सर्वव्यापक जीवन का सागर वासुदेव है। यही सब को अपने में बसाने वाला है। इसी का ही प्रकाश शिशु, बालक, युवा और वृद्ध में सदा होता रहता है। जैसे जलाशय में तरंग उठती है और साथ ही मिटती हुई प्रतीत होती है परन्तु पुनः दूसरी तीसरी तरंग रूप में जलाशय सदा तरंग युक्त रहता है। इसी प्रकार इस व्यापक देव की क्षण-क्षण चमक ज्ञान रूप से सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय, मित्र, वैरी आदि अनन्त बुद्धि की तरंगों के रूप में बनी रहती है। जब एक ज्ञान हुआ तो वह शान्त भी होगा, तब नया व्यक्त (प्रकट) होगा। इस प्रकार क्या घास-फूस, क्या पशु पक्षी, क्या देव मनुष्य इत्यादि सब जीवों में यही आठों वसुओं में क्षण-क्षण नव-नव स्वरूप में प्रकट होता हुआ यही वासुदेव ही उन्हीं सब की काया को बढ़ाता है, पुनः जीर्ण करता है। वे कभी भी एक समान नहीं रहते। यही इस प्रभु की व्यक्ति (प्रकट होना) पुनः अव्यक्ति (छिप जाना) और छिपकर पुनः नये प्रकार से व्यक्त होना ही खेल या क्रीड़ा या लीला रूप में है। इसी वासुदेव को हमने सर्वत्र अपनी लीला करते देखना है। हमें यूँ ही भाव बनाना है या भावना करनी है कि सब में वास्तव में यही भगवान् सर्व रूप में है। हम, तुम, वह, ये सब मिथ्या इसी की एक जगत् व्यवहार चलाने के लिये तरंग ही है । ऐसा भाव बना कर इसी की लीला ध्यान में देखते हुए चुप या शान्त रहना है।

उसकी उच्छल तरंगों में, है जीवन का आनन्द;
और हर इक तरंग में भी है उसी का परिस्पन्द।
अधिक सुख में, व दुःख में फिर क्यों मन भरमाये;
और हानोपादान में, क्यों वृथा जीवन गंवाये ?
।५५।

यह पद्य भी उसी अन्तर्यामी को स्मरण करने के प्रकार को दर्शाता है।

पद्यार्थ :- इसी उस सर्वव्यापक की ज्ञान रूप में सब जीवों में जो नयी-नयी तरंगें उठती हैं उन्हीं में प्रत्येक जीव को आनन्द का अनुभव होता है। दिनों-दिन शिशु बढ़ता जाता है उसमें, नया-नया उसी शिशु का भाव प्रकट होकर दूसरों को आनन्दित करता है। एक समान, पत्थर जैसी कभी भी कोई वस्तु बसी रहने वाली क्षण-क्षण मन में सुख नहीं जगा सकती। जीवन में आनन्द का स्रोत केवल नवीनता ही है। यही नवीन-नवीन रूप में वही व्यापक देह, मन, बुद्धि आदि को नये-नये प्रकार से प्रकट करता हुआ सब जीवों को आनन्दित करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इसकी तरंग नहीं रही तो वह मर गया या नष्ट हो गया। आगे पुनः प्रत्येक तरंग में यही केवल ज्ञान रूप से बसा है। प्रत्येक इस अन्तर्यामी की ज्ञान रूप चमक में इसी का स्फुरण (परिस्पन्दन) है।

जब ऐसा सब में सर्वान्तर्यामी का ही दर्शन करना है या भाव बनाना है तो छोटे मोटे संसार के विषय संग के सुख या दुःख में मन को क्यों भ्रम में डालना ? अर्थात् सुख दुःख भी इसी अन्तर्यामी की ही एक चमक या ज्ञान-रूप तरंग है। इसलिये इन दोनों में समान भाव से इसी वासुदेव का दर्शन

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

करते हुए सुख-दुःख के साथ बसने वाले राग द्वेष से न्यारा ही रहे। जब सुख और दुःख में सम ही रहना है तो पुनः दुःख का हान (परित्याग) और उसके बाह्य उलझने वाले द्वेष और क्रोध के कर्मों को करते क्यों जीवन को व्यर्थ करना ? इसी प्रकार थोड़े से अल्पकाल के बाह्य विषय संग के सुख का उपादान (ग्रहण) करने के कई एक मिथ्या चक्रों में भी पंड़कर जीवन को क्यों व्यर्थ में गंवाना ? अर्थात् संयम, तप, त्याग का जीवन बना कर बाहर से अवकाश (फुरसत) प्राप्त करके इसी अन्तर्यामी को सर्वत्र पहचानना चाहिए।

ॐ इति श्रुत वर्ग ॐ



卐 अथ दुःख परिहार वर्ग 卐

दौर्मनस्य, सही दुःख में बुरी तरह छाये;
भाये न सन्मुख दुःख और छला भी न जाये।
सूझे न सम्यक् कुछ भी, करे अविद्या ही राज;
बीतेगा दुःख का चक्र, रहे सब वर्ज्यों से बाज।।
। ५६ ।

भगवान् के सत्य, शिव, सुन्दर स्वरूप के ज्ञान के लिये, व परम तत्व स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये मनुष्य को जगत् के मिथ्या सुखों से निवृत्त होना पड़ेगा; तथा उन बाहर के सुखों के बिछोड़े से होने वाले दुःख से अपने आप को धैर्य में रखकर आसन और ध्यान में समय व्यतीत करने का अभ्यास भी करना होगा। यह सब पिछले पद्यों में सूचित किया गया। अब आगे के पद्यों में बाहर के सब दुःखों से अत्यन्त (बिल्कुल) छुटकारा पाने के लिये दुःख में टिकने के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है, तथा दुःख को देखते-देखते ध्यान में अन्त करने की प्रेरणा दी गई है। इस पद्य में तो दुःख दर्शन में मन को स्थिर करने वाले के मार्ग में जो विघ्न (अड़चनें) उपस्थित होते हैं उन को दर्शा कर उनमें धैर्य बनाये रखने की प्रेरणा दी गई है। तथा उन अड़चनों से हार मान कर पुनः पूर्व के मिथ्या जीवन में न पड़ने पर बल (जोर) दिया गया है। वैसे ही इस दुःख का अन्त पाने के लिये बोध जगाने पर बल दिया गया है।

शब्दार्थ :- यह बात सही है कि जब मनुष्य आदतों के मिथ्या सुख को त्यागने पर दुःख का अनुभव करता है तो मन उसको (दुःख को) बुरा सा प्रतीत या महसूस करता है। इसे

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ही दौर्मनस्य शब्द से यहां कहा गया है। अर्थात् दुःख में मन बुरा-बुरा सा अपने में महसूस करता है। मुख (चेहरा) भी बुरा सा बना हुआ अपने को दीखता है और सामने पड़ा हुआ दुःख मन को अच्छा भी नहीं लगता है। इसीलिये उसमें दृष्टि जमा कर परिश्रम से उसमें टिकना या टिके रहना भी कठिन अवश्य प्रतीत होता है । और जैसे पहले बचप्न से खाने, पीने, मिथ्या बातचीत, हंसी मजाक आदि का सहारा लेकर दुःख भुलाया जाता था वैसे अब साधन करने वाला मनुष्य इस दुःख को छल भी नहीं सकता। परन्तु इन्हीं मिथ्या व अनर्थकारी सुखों को त्यागने के दुःख में टिके-टिके (स्थिर रह कर) केवल धैर्य से बुद्धि, स्मृति रख कर स्थिरता का अभ्यास बढ़ाने के लिये समय को व्यतीत करना पड़ता है, तभी साधन है। जब तक दुःख बना हुआ है तब तक मन तो दुःख ने जकड़ रखा है इसलिये कुछ ज्ञान भी सुझाई नहीं देता। इसलिये बिना ज्ञान के अविद्या की सी दशा होती है। यही अविद्या का ही राज्य है। परन्तु साधक को तो धैर्य से वैसी अवस्था में भी दुःख को देखते-देखते तथा बुद्धि और स्मृति को रख कर समय व्यतीत करने का अभ्यास बनाये रखना ही चाहिये। एक दिन यह दुःख देखते-देखते ही टलेगा और सब इसका राग द्वेषादि परिवार भी समाप्त होगा। सब वर्जन करने योग्य दुःख से बचने के लिये मिथ्या मन के योग [मिथ्या सुख को पाने के इरादे तथा मन में उसी सुख की मिथ्या कामना आदि के योग (सम्बन्ध)] का वर्जन या त्याग करता रहे। यह सब मिथ्या आगे कहे जायेंगे।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

दु:ख जाय, सौमनस्य पाये, पाया आत्मा का देश,
ज्ञान भाये, दुर्मति जाय, जाय अविद्या का लेश।
पर दु:ख में साजे स्मृति, रखे मन के तोल की चाह,
सतत् ध्यान को जाग्रत राखे, हो यत्न से बेपरवाह।।
। ५७।

इस पद्य में पिछले पद्य में कहे गये दु:ख दर्शन के विघ्न (अड़चनें) टलने की चर्चा की गई है। अर्थात् जो अड़चनें दु:ख को सन्मुख रख कर विचार द्वारा समझने के लिये ध्यान में स्थिर रहने पर आती हैं वे सदा बनी नहीं रहेंगी। इनका भी कुछ समय ही है। ये सब एक दिन दूर हो जायेंगी। परन्तु संयम (अपने को काबू रखना) के साथ रहना होगा। यहाँ बोध या सत्य ज्ञान के अंगों का निर्देश है।

पद्यार्थ :- प्रीति, प्रसाद, उपेक्षा के साथ साधन करने वाले मनुष्य का एक दिन वह भी आयेगा कि उसका दु:ख देखते-देखते ही मिटना आरम्भ होगा। जैसे कि खुजली किसी अंग पर होने से मनुष्य उस स्थान को नाखुन आदि से खुजला कर दूर करता है। परन्तु कोई-कोई धैर्य वाला जन यदि बिना खुजलाये धैर्य से अपने मन को सम्भाल कर उस खुजली के होने के दु:ख को देखते-देखते समय व्यतीत करे; बुद्धि और अपनी स्मृति को बनाये रखे जिससे कि खुजली का दु:ख उसे भुला कर झटपट खुजली मिटाने के लिये कुछ खुजलाने के कर्म में न लगादे तो वह धैर्य वाला मनुष्य देखेगा कि कुछ समय के खुजली के दु:ख को देखते-देखते व्यतीत करने से खुजली, अन्दर वाले मन ने या आत्मा ने स्वयं बलवान् होकर, बिना खुजलाये ही दूर कर दी, और खुजली के स्थान पर वह अंग बिना खुजलाये ही सुखी हो गया। तभी उसे अपने आप में

स्वयं इस खुजली मिटाने की विद्या की प्राप्ति हुई। वैसे ही एक दिन सब बाह्य सुखों के बिछोड़े का दुःख भी देखते-देखते टलेगा। इसके लिये बाहर या संसार के सहारे नहीं लेने पड़ेंगे। मन में दौर्मनस्य के स्थान पर सौमनस्य (सुन्दर मन का भाव) पाया जायेगा; और सुख रूप अपना आपा या आत्मा का देश भी बसने को मिलेगा। अर्थात् संसार की भटकना नहीं रहेगी और दुःख टलने पर, दुःख टलने की विद्या प्राप्ति रूप ज्ञान भी स्वयं प्राप्त होगा। अर्थात् सब दुःख टलने की विद्या प्रकट होगी। संसार में भटकने वाली दुर्मति (खोटे विषयों वाली बुद्धि) भी नहीं रहेगी। और विद्या आने से मन में अविद्या का थोड़ा भाव भी नहीं रहेगा। परन्तु दुःख में स्मृति (याद ठिकाने) बनी रहनी चाहिये। अपने मन का तोल (पहचान) बना रहने की इच्छा बनी रहे। ध्यान भी जागता रहे। यत्न से एक दिन सब शोक मिट जायेंगे।

यदि दुःख में गये बीते सुखों के कारण से आपकी बुद्धि की समझने की शक्ति रूप ज्ञान सोचों में ही खोया हुआ रहेगा तो ही ज्ञान से विपरीत अन्धकार रूप से ज्ञान को ढाँकने वाली शक्ति अविद्या से सत् अर्थात् होता हुआ भी आत्मा अर्थात् वर्तमान भी, चित् या ज्ञान स्वरूप आत्मा या अपना आपा आनन्द रूप होने पर भी ढका सा रहने से अप्राप्त सा ही दीखेगा। यदि दुःख में भी ज्ञान वर्तमान (सत्) रूप से टिका रह गया और किसी तृष्णा की वस्तु के पीछे-पीछे अन्त-रहित (बे-अन्त) सोचों में खोया नहीं रहा तो इसी ज्ञान के चेतन या समझने की शक्ति में जाग्रत रहने की शक्ति से तृष्णा भी मन से उतर ही जायेगी या नष्ट ही हो जायेगी। तब तृष्णा की खींच या तनाव न रहने से आनन्द भी अनुभव में आने लगेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यहाँ आनन्द या सुख है, वहीं मन का टिकाव होता है। यही सत् चित् आनन्द आत्मा की प्राप्ति हो गई। यहीं स्थायी रूप से (सदा के लिये) मनुष्य अपना ठिकाना पा जायेगा; इसीलिये इसे देश शब्द से कहा गया है।

सुख पाछे लागे को, बाहर दुःख कबहुँ सही आये,
कहाँ तक इसको छलेगा कोई, निजपन यह भी दिखलाये।
बुद्धिमान् सो जो इसको भी देखे, और देखे इसका मूल;
मूल सहित परिहृत कर, सम्यक् सकल मिटा दे शूल।।
।५८।

यह पद्य दुःख में मन को टिका हुआ रखकर (स्थिर करके) इसके (दुःख के) सत्य (अर्थात् दुःख का कारण या जड़ क्या है? पुनः इस दुःख की जड़ कैसे कटेगी ? जड़ को काटने का मार्ग या उपाय कौन-सा है ? यही सब ज्ञान दुःख के बारे में दुःख के सत्य का ज्ञान है) को ध्यान में पाकर इस सांसारिक बढ़े दुःख का अन्त करने के लिये प्रेरणा करता है, (चार भद्र सत्य)।

जन्म से ही मनुष्य अपने बालपन में पाये हुए बाह्य पदार्थों और प्राणियों के अल्प (थोड़े) सुख के पीछे लगा रहता है। परन्तु यह सुख स्थायी (सदा बना रहने वाला) नहीं है। अन्त में इन बाह्य सुखों पर भरोसा रखकर जो इन्हीं के पीछे धन, अधिकार और बान्धवों, मित्रों के बल के लिये सदा व्यस्त रहता है तो वह एक दिन देखेगा कि यह सब उसका साथ नहीं दे सकेंगे। उसके काम नहीं आने वाली स्थिति या अवस्था में पाये जायेंगे। इन के होने पर भी मनुष्य को इनका सुख नहीं रहेगा। खान-पान इच्छा के अनुसार न दे सकेगा। प्रियजनों की प्रीति भी समय के परिवर्तन के साथ-साथ वैसी नहीं रहेगी।

उनमें पाया हुआ प्रीति या प्रेम वाला अपना आपा या मान (मैं भाव) भी वैसा अपने में नहीं रहेगा। यही सब बाह्य सुख अनित्य और दुःख रूप में परिवर्तित (बदलता हुआ) हो जायेगा और सुख किंचित्मात्र (थोड़ा) भी न रहेगा। जो दुःख उन बाह्य सुखों के वियोग से प्राप्त हो रहा है उसको भूलने या भुलाने के साधन भी न बन पायेंगे। इसलिये इसको इधर-उधर दूसरी बातों या संगों में मन लगाकर भूला भी न जा सकेगा। यह दुःख जो कि संसार में सांसारिक प्राणी के भाग्य में बंधा है, यह भी अपनापन अवश्य ही दिखलायेगा।

अब ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् जन इस अपने समय के अनुसार जीवन में अनुभव में आने वाले दुःख से किनारा करना न चाहे; अर्थात् भयभीत या भीरु (डरपोक) होकर भागना न चाहे; वरन् इसको ध्यान में दृष्टि के सामने रखकर इस दुःख की जड़ (मूल) को खोजते-खोजते पहचाने और मूल (जड़) को पहचान कर उस मूल को अपने यत्न या उद्योग से उखाड़ कर इस अपने संसार के दुःख का शूल सदा के लिये ही मिटा दे।

मान्य सत्य है दुःख ही जग में; सुख की झूठी आश,
इसको भूल भुला के सुखिया होगा कबहुँ निराश।
जो हताश न होवे मन तब दुःख में जीवन पाये;
देह, बुद्धि मन वश में राखे करण न खोटे धायें।।
। ५६ ।

यह पद्य पीछे कहे गये जगत् में प्राप्त होने वाले दुःख के बारे में आदि के महर्षियों के सिद्धांत की चर्चा करता है कि

जैसे उन्होंने इस दुःख दर्शन की सरणि (मार्ग) द्वारा चल कर अपने दुःखों को समाप्त किया, वैसे ही प्रत्येक उद्योगी साधक को करना चाहिये। यह अटल सिद्धांत और सनातन मार्ग है।

उन्हीं पूर्व के ऋषियों ने अपने दर्शन शास्त्र के ग्रन्थों में मानने योग्य दुःख को ही जगत् के सत्य रूप में दर्शाया है। अर्थात् जगत् में जो कुछ सुख मनुष्य बचपन से अनुभव करता आ रहा है वह सत्य नहीं है। वह तो झूठा है, अनित्य है, बना रहने वाला नहीं। इसलिये सत्य नहीं है। सत्य वह है जो बना रहे। हां ! संसार में, जब तक संसार बना रहेगा तब तक दुःख ही सदा बना रहेगा; इसलिये जगत् के सत्य के रूप में पहले से ही विद्वानों ने दुःख को ही सत्य बतलाया है। यही दुःख हीं जीवन को आरम्भ करता है। मनुष्य इधर-उधर के बाह्य साधनों द्वारा थोड़ा इसे टाल कर सुख अनुभव भले करले; परन्तु वह सुख बना नहीं रहेगा। अंत में दुःख ही पल्ले पड़ेगा। इसीलिये जगत् के सत्य स्वरूप से मानने के योग्य तो दुःख ही सत्य है। इस सत्य को भूल भुलाकर, बाह्य साधनों पर विश्वास रखने वाला सुखों में पड़ा जन एक दिन हताश और उनसे निराश ही होगा। यह उनके पीछे भागेगा, वह इससे दूर भागेंगे।

जो कोई ऐसी बीते सुखों की भी अवस्था में अपने मन के साधन, और समझने की शक्ति रूप बुद्धि को भी न खोये वह हताश नहीं होगा। वह वैसे दुःख में भी सदा गये बीते सुखों को ही याद करता हुआ उनके मोह में पड़ा शोक करता हुआ ही समय न व्यतीत करके पूर्व महापुरुषों के समान दुःख में भी जीवन धारण करना सीखेगा; और जीवन पायेगा। जीवन पाने का अर्थ है कि देह, मन, बुद्धि को सुखों के पीछे न भागने देकर इन्द्रियों को भी चलायमान न होने देना। इन सब को

卐卐

वश में रखकर बाहर सब के साथ सही बर्ताव करेगा और अपने आप को खाने, पीने, सोने, जागने आदि में संयम में रखेगा। तब उसे दुःख में भी जीना आ जायेगा। जिससे कि वह जगत् के सत्यों के साथ-साथ अपनी आत्मा के भी सत्य को पहचान कर स्थायी (टिकाऊ) शान्ति पायेगा। यही मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य (मतलब) है। 'यही साधना चाहिए'। यही सब इस पद्य का तात्पर्य या निचोड़ है।

समय पाय बल पावें पूरा ले दुःख में जीना सीख;
दुःख हेतु सुख तृष्णा त्याग कर सत्य पड़ेगा दीख।
जो है जैसा वैसा ही दीखे, यही है सत्य प्रमाण;
स्मृति, ध्यान, वीर्य बल राखे, संग श्रद्धा का प्राण।।

। ९० ।

पिछले पद्यों में दुःख में मन को स्थिर (टिकाऊ) रखने की चर्चा की गई थी। उसके प्रसंग में यह पद्य दर्शा रहा है कि यदि इस प्रकार देह, बुद्धि, मन और इन्द्रियों को दुःख की दशा में सही मार्ग पर चलाते रहे तो यही दुःख में जीना सीखने की कला पूर्ण हो जायेगी। समय पाकर मन इसमें पूर्ण बल प्राप्त कर लेगा।

दुःख प्रतीत होने पर बुद्धि विपरीत (उल्टे) निश्चय बनाती है, मन विपरीत इरादे या भाव रचता है; वाणी आदि इन्द्रियां भी सब सही प्रकार से प्रवृत्त नहीं होतीं; देह भी हिंसा, चोरी आदि कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। यही सब मिथ्या जीवन हो जाता है या बल पकड़ जाता है। वैसे ही मिथ्या जीवन वाले लोगों की संगत में ही समय व्यतीत होता है। यह सब दुःख ही एक ऐसा सत्य है जो कि मनुष्य को डरा कर सुख के लिये सब प्रकार से मिथ्या व्यवहार वाले जीवन में ही ले जाकर

पटक देता है। यदि इन्हीं सब बुद्धि, मन, इन्द्रिय और देहादि से बाहर सब में सही प्रकार से दिन, मास, वर्ष व्यतीत करने आ गये तो यही सही जीवन हो जायेगा।

मनुष्य को जैसे बाहर सही जीवन के लिये बुद्धि की भी आवश्यकता है, वैसे ही मन, इन्द्रिय और देह की भी; इन्हीं सब के सहारे सब में रहा या बसा जाता है। यदि ये सब अपने स्वार्थ या केवल सुख के कारण से हीं काम करने वाले होंगे तो ये सब सभी प्रकार के मिथ्या निश्चय और विश्वासों में खोये रहेंगे; और विपरीत ही जीवन जीयेंगे। सब मिथ्या ही कर्म करेंगे या करवायेंगे। परन्तु यदि इन सब को सही चलाते हुए अथवा ठीक प्रकार से प्रेरित करते हुए सुख की तृष्णा को जीत कर कोई उद्योग से अपने को धारण करेगा अर्थात् खोटे मार्ग की ओर सरकने से अपने आप को बचाता रहेगा, तो उसे दुःख की जड़ यही सुख की तृष्णा ही दीखेगी। यह समझ में पड़ जाना भी एक सत्य का ज्ञान ही है। वैसे ही अन्त में मुक्ति पर्यन्त सब आत्मा परमात्मा के सत्य भी दिखाई पड़ जायेंगे। अपने समय पर उद्योग (यत्न) करने या बनाये रखने वाले व्यक्ति को प्रकट रूप से जानने में आयेंगे। सत्य ज्ञान शब्द का अर्थ है कि जो वस्तु जैसी है वैसे ही दीखे। यह नहीं कि है सीपी, परन्तु दीखे चाँदी। यह तो मिथ्या ज्ञान है। ऐसे ही जगत् और विषयों के सब सुख हैं तो दुःख रूप, परन्तु यदि सुख रूप ही इनको बुद्धि निश्चय करे तो यह सत्य नहीं मिथ्या ज्ञान ही है। जब यह दुःख की जड़ होने से दुःख रूप ही दीखे तभी यह सत्य प्रमाण है। अर्थात् विश्वास करने के योग्य है। परन्तु सांसारिक जीव को उल्टा ही दीखता है। ध्यान द्वारा ही महादुःख के कारण रूप से ये सब सुख, दुःख रूप दीखेंगे।

卐卐卐

इसके लिये पीछे कहे स्मृति, ध्यान, वीर्य को अवश्य रखना चाहिये और साथ-साथ श्रद्धा को भी रखना होगा क्योंकि इसके बिना कोई भी साधन नहीं बनेगा।

पद्य ५८, ५९, ६० का भाव यह है कि मनुष्य जगत् में दूसरों के संग से या वस्तुओं के संग से जो सुख पाता है वह एक दिन सब पूरा (इच्छा के अनुसार) न पाने पर उसे दुःख अवश्य होगा ही; क्योंकि सब सुख संसार में जीवन की बहती हुई नदी की धारा में समान रूप से कभी भी प्राप्त नहीं किये जा सकते; समय बदलता रहता है। रोग, दुर्बलता, वृद्धावस्था आदि के कारण से सुख लेने की योग्यता तक भी नहीं रहती। दुःख में बुद्धि और मन विचलित भी होंगे; बुद्धि और मन विचलित होने पर मनुष्य अपना भला बुरा कुछ भी नहीं सोच सकता। इसलिये मनुष्य का साधारण परन्तु मूल्यवान धन विवेक शक्ति रूप बुद्धि है और विचार के धन की रक्षा करना ही सर्वोत्तम कर्तव्य है। इसके लिये उसे साधारण दुःखों के आ पड़ने पर भी थोड़ा-थोड़ा दुःख को बनाये रखकर अपने मन को धैर्य में बनाए रखने का अभ्यास करना चाहिये। झटपट यदि कोई इच्छा हुई तो उसे पूरा करने से सुख तो थोड़ा अवश्य होगा परन्तु थोड़ा इच्छा को रोके रखने से जो दुःख होता है उसमें अधीर न होकर धैर्य को बनाये रखने का अभ्यास करने से मनुष्य का ज्ञान या निश्चय करने की शक्ति या विवेक शक्ति नहीं खोयेगी। यदि झटपट जब कोई सुख की इच्छा हुई उसे पूर्ण कर दिया गया तो यही मन इतना दुर्बल हो जायेगा कि जब कोई इच्छा थोड़ी देर भी अधूरी रहे तो यह क्रोध, द्वेष, संशय आदि का तूफान ला देगी तब बुद्धि और विचार-शक्ति खो जायेगी। और मनुष्य ऐसे विपरीत कर्म करने पर उतर सकता है जो इसके लिये भविष्य

卐卐

में रो-रो कर भुगतने पड़ें। परन्तु बिना बोध या बुद्धि के बचाये कौन ? बिना दुःख में धैर्य रखने के अभ्यास से बुद्धि भी कैसे बनी रह सकेगी ? इसलिये थोड़ा-थोड़ा प्रत्येक इच्छा या पुनः व्यर्थ की इच्छाओं को या इच्छापूर्ति के सुख को रोके रखने का अभ्यास, और उससे हुए दुःख को बुद्धि और विचार रख कर सहन करने का अभ्यास करते रहने से मनुष्य की आत्मा बलवान होगी। और एक दिन सारे जगत् के त्याग के दुःख को भी धैर्यपूर्वक सहन करने का बल प्राप्त कर लेगी जिससे कि उस आत्मा में संपूर्ण जगत् के त्याग का दुःख भी मनुष्य को व्याकुल या विह्वल न करेगा। तब दुःख में बुद्धि बने रहने से वह बुद्धि स्वयं विचार द्वारा इस सारे दुःख का मूल या जड़ सुखों की तृष्णा को स्वयं पहचान जायेगी। तृष्णा की पूर्ति कभी भी सदा एक जैसी हो नहीं सकती इसलिये सहन करने का दुःख तो सब को देखना ही पड़ता है। परन्तु जिस पुरुष ने इस दुःख का सहन बुद्धिपूर्वक ज्ञान को बनाये रख कर किया है वह तो पूर्ण ज्ञानवान् होगा; ज्ञान से तृष्णा के अधूरे रखने के दुःख को सह लेगा; दूसरा पुरुष उन गये बीते सुखों की स्मृति या याद में खो जायेगा यही अविद्या का पर्दा है। इससे आत्मा का अपना ज्ञान और सुख ढक जाने से मनुष्य को संसार में ही ज्ञान पाने के लिये आना पड़ेगा। जैसे अब भी अर्थात् जीवन काल में भी कोई मनुष्य अकेले में यदि कुछ अपने आप में समझता बूझता या विचार करता हुआ न टिक सका तो पत्थर जैसे ज्ञान के बिना, कहाँ तक अकेले में स्थिर रह सकेगा या समय व्यतीत कर सकेगा? वह तो पुनः दूसरों की संगत में ही आकर कुछ समझ-बूझ पाकर कुछ अपने आपे को पायेगा तभी सुखी होगा। यही संसार में होने की तृष्णा है। इसे ही भव (संसार में होने)

卐卐卐

की तृष्णा कहते हैं। क्योंकि आत्मा में या केवल अद्वैत (बिना दूसरे के) में तो रमण होगा नहीं। अकेले में तो ज्ञान रूप आत्मा तो मिलेगा नहीं। जिसने दुःखों में धैर्य रखकर अपने आप में टिकना या स्थिर रहना सीखा है या उसका अभ्यास किया है वह दुःख के ज्ञान से ही अकेले में भी बना रहेगा। दुःख को देखते-देखते उसमें स्थिर बुद्धि रखने पर उसको न पूर्ण होने वाली तृष्णा ही उन सब दुःखों की जड़ं दीखेगी। तब उसे (उस तृष्णा को) अधूरी रखने के भी दुःख को वह ज्ञानपूर्वक सहन कर लेगा। इस प्रकार सहन करते-करते वह तृष्णा स्वयं ही चल बसेगी। क्योंकि मन का या चित्त का यह स्वभाव है कि वह सदा एक जैसा नहीं रहता; क्षण-क्षण बदलता रहता है। दुःख वाला या दुःखी मन भी बदलते-बदलते धैर्यवान् पुरुष में प्रथम निद्रा लायेगा, निद्रा रूप में बदलेगा; तब यदि निद्रा के सुख को भी त्याग कर मनुष्य उसके दुःख में जागते रहकर धैर्य रख सका तो पुनः निद्रा से उत्तम सुख वाली समाधि का सुख और सब जगत् से मुक्ति का सुख मिलेगा; यह सुख सनातन अर्थात् स्थायी है क्योंकि केवल आत्मा में ही है। इसी प्रकार तृष्णा के सब दुःखों का परिहार (टाल) होने पर परमपद की प्राप्ति होगी।

तृष्णा विषयों की आये, याद सुख की दिलाये, बहु मन को लुभाय है,
अनास्था कराये सच्चे धर्म को भुलाये, और दुःख से डराये है।
वीर्य विघ्न हटाये, स्मृति ध्यान को बुलाये, या से सत्य को चमकाये है,
श्रद्धा ही बचाये, वीर्य विघ्न टलाये, स्मृति ध्यान को बुलाके,
सकल सत्य को सुझाये है।। ।६१।

जो पिछले अनेक पद्यों में दुःख में मन को स्थिर रखकर

उसका अन्त पाने के लिये उपाय बतलाया गया उस सब का उपसंहार (संग्रह करके कथन) इस पद्य में बतलाया गया है।

जब मनुष्य ध्यान द्वारा बुद्धि, विवेक को जगाने के यत्न में लगेगा और कुछ अनावश्यक जरूरतों और सुखों को त्यागने के दुःख को स्वीकार करके एकान्त में आसन पर कुछ समय व्यतीत करने का उद्योग आरम्भ करेगा तो उन विषयों की तृष्णा मन में अपना चक्र लगायेगी जो कि उस साधक मुमुक्षु पुरुष ने अनर्थकारी समझे हैं और उनके क्षणिक सुख की भी याद (स्मृति) मन में विद्युत के समान चमक कर निकल जाया करेगी; और इससे उसके मन को बहुत लुभायेगी; अर्थात् सुख पाने के लिये खींच करेगी। मोक्ष मार्ग में अश्रद्धा और अविश्वास को उत्पन्न करायेगी और सत्य मोक्ष के धर्म रूप संयम, ध्यान आदि को भुलाना चाहेगी और आदत के सुख के वियोग के दुःख से डरायेगी कि ऐसे दुःख में कैसे जिया जायेगा ? सुख में तो सब जीते हैं, दुःख में कौन जीयेगा ? पुनः मिथ्या वही असंयम या सब प्रकार से इन्द्रियों को मन की चाह के मिथ्या मार्ग पर ही वह तृष्णा ले जाना चाहेगी और वैसी खोटी ही संगत करवायेगी। क्योंकि अकेले से तो विषय सुख मिलता नहीं; उस मिथ्या सुख के अन्य साथी भी चाहिएं; इससे पुनः सब प्रकार के अन्त में बुरे या विपरीत परिणामों (नतीजों) में ही यह तृष्णा रुलायेगी। अर्थात् मनुष्य को उसमें उलझा देगी; वैर, विरोध, मिथ्या कर्म सब प्रकार के व्यर्थ के संघर्षों में पटक देगी। लोभादि से दुःखी करेगी। ऐसी अवस्था में यदि सन्मार्ग की श्रद्धा बनी रही तो वह ही बचायेगी; और मिथ्या सुख के काम (इच्छा), संशय, क्रोध आदि विकारों को

卐卐卐

वीर्य का बल ही हटायेगा। यही सब ध्यान के विघ्न रूप भी हैं। इन विघ्नों को वीर्य बल ही टाल सकेगा। स्मृति या मौके की बुद्धि या याद बनी रही तो ध्यान के समय ध्यान आदि में स्थित होकर सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा का भी लाभ हो सकेगा। उससे पुनः सब बन्धनों से और दुःखों से छुटकारा मिलेगा।

इस सब का यही तात्पर्य है कि हर समय मनुष्य श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान व प्रज्ञा का सहारा लेकर संसार में जीवन को धारण करे और दुःख का अन्त पाये।

ॐ इति दुःख परिहार वर्ग ॐ



卐 अथ दुःख कारण परिहार वर्ग 卐

क्यों सुखों का लादा इतना भार,
या से हुआ बहु दुःखों से भी ख्वार।
अब खोटी मतियाँ, जनावे हैं ये;
और इरादे मिथ्या उपजावे हैं वे।। । ६२ ।

पिछले कई एक पद्यों के संदर्भ द्वारा भगवान् की शरणागति रख कर उसके ही उत्तम धर्म मार्ग पर चलते-चलते अपने दुःख को कारण सहित जानकर उसका परिहार (त्याग) करने की चर्चा थी। अब अगले चार पद्यों में जो उस दुःख को त्यागने का मार्ग है उसको सही रूप से समझने के लिये प्रथम उस सन्मार्ग से विपरीत मार्ग का चित्र उपस्थित किया गया है, जो कि सांसारिक विषय सुखों के संग से प्रबल होकर सत्य मार्ग पर चलने नहीं देता। यही मन मिथ्या जीवन या दुःखदायी जीवन बनाता है।

पद्यार्थ :- ये सब बाह्य विषयों के सुखों का इतना भार क्यों लाद लिया गया ? जिससे कि अब मन इतना ख्वार हो रहा है कि व्यर्थ में इधर-उधर बिना सुख के भी और दुःख पाकर भी, भाग-दौड़ मचा रहा है। क्योंकि सुख तो कभी किसी समय थोड़ा सा हुआ होगा; परन्तु उनकी तृष्णा बढ़ने पर अब वह सुख भी रोग, चिन्ता, विरोधादि से इतना प्रतीत भी नहीं होता परन्तु मन उन सुखों की तृष्णा की शक्ति द्वारा व्यर्थ में ही उधर झुका रहता है और दूसरी ओर कोई शरण भी नहीं देखता; उसका अब उनके बिना समय भी व्यतीत नहीं होता; उनका संग यद्यपि सुखकारक नहीं रहा, अपितु दुःखदायी ही है तथापि बन्धन नहीं छूट पाता।

卐卐

अब वही सुखों का लादा हुआ भार कई एक प्रकार से क्लेश या कष्ट देता है, परेशान करता है। सब से प्रथम तो उसने बुद्धि या मति को बांध रखा है। वह मिथ्या मतियां ही जनाता है। मिथ्या मति वह है जो कि मनुष्य को भलाई के मार्ग को तो दर्शाये नहीं वरन् बुराई या दुःख के मार्ग पर चलने को ही ठीक समझे। यही सब मिथ्या या खोटी मतियां हैं जैसे कि 'बाह्य विषयों बिना जीवन ही नहीं', 'इन्हीं के सहारे से मनुष्य सदा सुखी रहेगा', 'इसी बाह्य सुख के साधन ही पाने उचित हैं चाहे वे वैर, विरोध, पापाचार झूठ आदि से कैसे भी प्राप्त हों' इत्यादि-इत्यादि बहुत प्रकार के मिथ्या विश्वास और निश्चय सब खोटी मतियों के ही स्वरूप के अन्तर्गत हैं। जब खोटी मतियां (निश्चय) होंगी तो पुनः उनसे मनुष्य के इरादे या संकल्प भी मिथ्या या खोटे ही होंगे। वह पुनः सब प्रकार की मिथ्या नीति को अपनाने का संकल्प करेगा या इरादा बनायेगा। इन सुखों को पाने के, पाप के इरादे भी रखेगा; दूसरे को दुःखी आदि करने का, बदला लेने का, विपरीत आचरण का सब प्रकार से संकल्प भी कर सकता है। तो इस पद्य में मिथ्या मति और मिथ्या संकल्प या इरादा बतलाया गया।

इस पद्य में मिथ्या मति तथा मिथ्या संकल्प (इरादा) आदि सब त्यागने के लिए सही मति और सही संकल्प बनाने से मन अपने आप में कार्य में लगा-लगा सब मिथ्या जीवन के अंगों से निवृत्ति को प्राप्त करेगा। मिथ्या मति तथा मिथ्या संकल्प तो इस पद्य के व्याख्यान में बतला दिया गया है। अब उसी प्रसंग से सही मति तथा सही संकल्प को उन मिथ्याओं से विपरीत समझ लेना चाहिये। जैसे कि जहाँ सांसारिक विषयों के सुख

में अच्छाई और भलाई दीखे और उन्हीं के संकल्प या प्राप्त करने के इरादे बनें वहाँ एकान्त में आसन पर स्थिर होकर या अन्य अवसरों पर भी ध्यान के साथ विचार में उन्हीं सुखों के दुष्परिणाम तथा अनित्यता (सदा बने न रहने का स्वभाव) को अपनी बुद्धि से निश्चय करके उनको दुःख रूप समझना; और भी, उनका परिणाम (नतीजे के रूप में) तृष्णा की अग्नि का बढ़ना, सदा पूर्ण न हो सकना, अधूरा रहने पर तीव्र दुःख तथा मन की भी अस्वस्थता का होना इत्यादि-इत्यादि सब निश्चय करना रूप शुभ या सही मति है। इसी प्रकार इनके त्यागने या नियम से सेवन करने के संकल्प या इरादे सब सही या शुभ संकल्प हैं। इन्हीं को अपनाना चाहिये।

शंका, भय से तर्दित तू हर दम,
काम क्रोध भी न होने दे शम।
ईर्ष्या, मत्सर, असूयादि विकार;
संग अधीरता पाने न दे पार।। । ६३ ।

पूर्व पद्य में दर्शाये गये मिथ्या मति और मिथ्या इरादा या संकल्प के साथ-साथ पुनः सांसारिक सुखों वाला जगत् में उलझा मन अपने अन्दर मिथ्या कर्म या पाप करवाने वाली कई एक प्रेरणायें या कृतियां (कर्म करवाने वाला मानसिक यत्न) भी अपने साथ रखता है। यही सब मानस विकार या उत्तेजनायें हैं।

जैसे कि कई एक प्रकार की शंकायें 'कहीं मुझे दुःख न आ पड़े ? मेरा सुख न बिगड़ जाये ? यह या वह व्यक्ति मेरा अनिष्ट न करदे, आगे आने वाले समय में मेरा क्या होगा' ? इत्यादि शंका या भय से मनुष्य सदा पीड़ित रहता है। इसीलिये कई एक प्रकार से काम, क्रोध भी उस मन में

उत्पन्न होकर कई एक प्रकार से उस मन को प्रेरित करते रहते हैं; वह सब उनकी प्रेरणा के कर्म करने भी कठिन या दुष्कर होते हैं और करने पर भारी दुःख या आपत्ति भी पड़ सकती है। परन्तु सुख का कामी मन इन सब को न तो सोच ही सकता है और न इनकी चिन्ता (परवाह) ही रखता है। वह बार-बार प्रेरित हो कर करने न करने के चक्र में कभी भी शान्ति नहीं पाता।

पुनः जगत् में दूसरे के सुख की जलती हुई इच्छा रूप ईर्षा; वैसे ही दूसरे के सुख को देख जलन रूप मत्सर; और दूसरों के गुणों में दोष बुद्धि या दोषों को निकालना, और किन्हीं दूसरों के सन्मुख दूसरों के दोषों को प्रकट करने का भाव रूप असूया आदि विकार, और इन्हीं दोषों के संग से सुख के लिये अधीरता (बेसबरापन) और दुःख में दुःख टालने को भी अधीर (धैर्य रहित) होना, ये सब जीव को सारे जगत् के दुःखों से पार जाने नहीं देते। प्रत्युत (वरन्) जो कुछ बाह्य सुख थोड़ा बहुत है भी, उसे भी नष्ट करके व्यर्थ की उलझन में मुनष्य को उलझाये रखते हैं । वह अनावश्यक दूसरों के अच्छे बुरे को सोचता-सोचता जीवन खोता जाता है। अपनी भलाई (कल्याण) के मार्ग पर इन सब को रोक कर या नष्ट करके चलने का उत्साह नहीं कर पाता।

और भी बहु मन में पेलें दण्ड,
अलौकिक भले को समझे पाखण्ड।
जग में किसी की शर्म न लाज;
स्वहित ही करावे सारे काज।। । ६४ ।

जैसे ये सब पिछले पद्य में कई एक प्रकार की मन की मिथ्या कृति (कर्म करवाने वाली शक्ति) बतलाई गई उसके

साथ और भी मिथ्या कृति को यह पद्य दर्शाता है।

जैसे शंका, भय आदि विकारों से मन अशान्त रहता है; वे सब मन में अपना चक्र लगाते रहते हैं; ऐसे ही और भी बहुत से विकार या भाव मन में व्यायाम (कसरत) करते रहते हैं। जो भी भाव या विकार मन में अधिक समय तक बैठा-बैठा अपनी विचारधारा बहाता रहेगा; उसकी कसरत मन में हो जायेगी। वह पुनः मन में सहज स्वाभाविक रीति से बैठा हुआ बल पकड़ जायेगा; इसी से ही वैसी खोटी आदत बन जाती है। वही उसके भाव या विकार, बिना यत्न के मनुष्य के मन में प्रकट होकर उसे विपरीत दिशा में सरलता से (आसानी से) ही ले जाते हैं। पुनः इनका सुधार भी अति दुःखदायी हो जाता है। इससे ही कहा गया कि वे सब मन में डण्ड पेलते रहते हैं। जैसे कि कोई मल्ल (पहलवान) डण्ड पेलता है, ऐसे ही ये सब मन में बने या पड़े-पड़े अधिक चिर तक बसे रहने से बलवान हो जाते हैं। इसलिए इन्हें अधिक चिर तक मन में टिके नहीं रहने देना चाहिये। यही इससे सूचित किया है।

ये सब पुनः अलौकिक भले को पाखण्ड समझते हैं। अलौकिक भले का अर्थ है कि लोक से परे या मृत्यु के पश्चात् होने वाला तथा सदा बने रहने वाला सुख और शान्ति रूप मनुष्य का कल्याण । यह विकार वाले मन के लिये असम्भव दीखता है। न होने की वस्तु जैसी दिखाई देती है। उन्हें अपने सांसारिक स्वार्थ पूरा करने में किसी की भी शर्म (या लज्जा) नहीं रहती। वे दुष्कर्म करते भी नहीं झिझकते। उन्हें कोई संकोच भी नहीं; अपने अन्दर बुरा कर्म करने का दुःख भी नहीं मानते। बस बाह्य (सांसारिक) जैसा कुछ उनका स्वार्थ रूप हित है वही सब प्रकार के पाप और दुष्कर्म तक भी करवाता

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

है। और इस लोक से परे की कुछ भी बात सूझती तक नहीं। वह सब तो पाखण्ड जैसा ही सूझता है।

धर्म कर्म की आने न दे याद,
ध्यान पथ को यह करदे बरबाद।
मिथ्या यादों में रुला रहे मन;
ध्यान विचरे केवल कामों के वन।। । ६५ ।

और भी संन्मार्ग के विपरीत जो मिथ्या जीवन के अंग हैं उनकी चर्चा यह पद्य करता है।

अपने को संयम में रखना रूप धर्म; पापों से बचना; अच्छे भले कर्मों में लगना; मन को वश में या पवित्रता में ले जाना रूप धर्म की स्मृति (याद) तक भी ये सब पीछे कहे गये मिथ्या जीवन के अंग या विकार आने नहीं देते। मिथ्या भोगों के कर्मों में ही ले जाते हैं। जिन सब का अन्त भी भला नहीं है; वैसे ही मिथ्या वाणी बुलवाने के कर्म भी ये सब करवायेंगे। उत्तम या सही धर्म की और देह या वाणी आदि के कर्मों की तो स्मृति (याद) तक भी नहीं आने देते। इस पद्य में यही सब उन बाह्य सुखों के लादे हुए भार के दुष्परिणामों (बुरे नतीजों) की ही चर्चा है, जो कि उत्तम या सही जीवन के विपरीत मिथ्या जीवन के अंगों में ले जाकर पटकते हैं। पुनः मिथ्या विषयों के या विषय सुख के सम्बन्ध रखने वाले प्राणियों के ध्यान तो आयेंगे। दूसरे के भले बुरे के भी ध्यान तो आते रहेंगे। परन्तु भगवान् और सत्य का ध्यान नहीं हो पायेगा; न ही अपने भले को पहचानने के लिये सही रूप से दुःख का और उसके सही (ठीक) कारण का ही ध्यान बन सकेगा। उसको तो यह नष्टप्रायः (बरबाद जैसा) ही कर देते हैं।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

और भी, मिथ्या सांसारिक उलझनों की स्मृतियां (यादें) तो हर समय मन में घूमती रहेंगी; परन्तु उत्तम धर्म, कर्म या महापुरुष और उनके जीवन या मार्ग की स्मृतियां न के तुल्य ही होंगी। इन्हीं सब में उलझा या खोया (रुला) मन का ध्यान सदा केवल काम या लौकिक सुखों की इच्छा के वन में ही विचरता रहेगा। भगवान् या दुःखों से छुटकारा पाने के क्षेत्र में नहीं पहुँचेगा। यही सब मिथ्या सुख के लिये मिथ्या जीवन के अंग यहाँ (इस पद्य में) बतलाये गये हैं। इनसे विपरीत सही धर्म का मार्ग है। 'यहाँ लौकिक कामों या सुखों के वन' कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे वन में भटका मनुष्य, निकलने का मार्ग भी आसानी से नहीं पाता ऐसे ही काम सुखों में खोया मनुष्य इनसे मुक्ति का मार्ग सहज में नहीं पा सकता।

लहरी माला के समान, बहता जाय विज्ञान,
क्षण क्षण टलता जाये स्वयं अज्ञान।
क्षण से परे टिके नहीं बन्धन व भाव;
आसन पै ही, धीर देखे दुःख का अभाव।। ।६६।

यदि मनुष्य अपने आप में रहे या अपने आप को ज्ञान रूप से पहचानता रहे तो संसार में होने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। परन्तु जब बाह्य सुखों के लादे भार के कारण से मन जगत् में ही पीछे कहे गये खोटे जीवन के अंगों (पद्य ६२-६५ तक) से ही जुड़ा रहेगा तो उसका दुःख तो कैसे टलेगा; परन्तु यदि उन खोटे सब जीवन के अंगों के स्थान पर सही सब आध्यात्मिक जीवन के अंगों का संग बनाये रखेगा तो एक दिन उसे पवित्रता का बल प्राप्त होगा। पीछे कहे गये खोटी मति, खोटा इरादा आदि सब मिथ्या अंगों को सही मति, सही इरादा आदि सब उत्तम अंगों द्वारा निवृत्त करते रहने से

मन खाली रहने या अभाव में (टोटे में) पड़ जाने की व्यथा से भी मुक्त रहेगा। खाली मन अपने में दुःखी होता है। यदि वह कहीं भी लगा रहे तो खाली मन रखने की व्यथा से भी बच जाता है और अन्त में खोटे सब मति, इरादे आदि टल जाने पर केवल प्रकट शुद्ध ज्ञान में सुख या आनन्द रूप में भी टिकाव पा जाता है। तब दीर्घ काल तक आसन पर जाग्रत रहने पर मनुष्य को विषयों के संस्कार क्षीण होते हुए भी प्रतीत होंगे। विषयों की आवश्यकता या कामना भी नहीं के समान ही हो जायेगी। परन्तु ज्ञान विज्ञान की बहती हुई धारा तो समाप्त नहीं होगी। भले वह विज्ञान की धारा किसी भी रूप में हो।

यदि इस अन्दर या अपने आप में बहती विज्ञान की धारा को केवल ज्ञान रूप में या उसके नये-नये प्रत्येक क्षण को ही समझने में मन लगा रहा तो सब दुःख क्षण-झण टलता जायेगा। इसी तात्पर्य को यह पद्य व्यक्त (प्रकट) करता है।

पद्यार्थ :- जैसे किसी महान् जलाशय (तालाब या सागर) में पड़ने वाली छोटी मोटी तरंगें क्षण-क्षण में उत्पन्न होती और मिटती दिखाई पड़ती हैं, इसी प्रकार जीव के अन्दर भी सदा बुद्धि विज्ञान जो कि खोटी या खरी (उत्तम) मति, तथा खोटे इरादे या भाव आदि के रूप में प्रकट होता रहता है; वे सब साथ ही साथ अपने आप क्षण-क्षण में ही मिटते भी जाते हैं; और कभी भी ज्ञान का अभाव (टोटा) न होने से, या ज्ञान रूप से सदा कुछ न कुछ जानने में आता रहने के कारण से अज्ञान भी राज्य नहीं करता; सभी दृष्टि, संशय, राग-द्वेष आदि बन्धन भी क्षण-क्षण में टलते जाते हैं; कोई भी क्षण से परे टिक नहीं पाता; टिकते तो यह बन्धन वहीं हैं जहाँ इनमें बाह्य स्वार्थ

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

के कारण मन का भाव बन्धा रहे। बाह्य स्वार्थ का तात्पर्य है संसार में ही होना।

यदि धीर पुरुष आसन पर स्थिर रह कर मन को स्थिर रखकर विवेक के साथ स्मृति में बना रहे तो दुःख भी क्षण-क्षण स्वयं ही टलता जायेगा, क्षण-क्षण मन के बदलते-बदलते दुःख अपने समय पर स्वयं ही समाप्त हो जायेगा। तब दुःख का अभाव या न रहना (न होना) भी प्रत्यक्ष या प्रकट अनुभव में आयेगा। दुःख दिखलाने वाला मन भी कैसे टिका रह सकता है जब कि मन का तो क्षण-क्षण बदलते रहने का ही स्वभाव है। जब पुनः दुःख वाला मन बदलते-बदलते मिट गया तो दुःख तो नहीं रहेगा; यदि दुःख को बनाये रखने के लिए स्वयं जीव ने अपने ऊपर संसार की तृष्णा न लाद रखी हो तो ऐसी अवस्था में दुःख के स्थान पर जीव का वास्तविक (असली) स्वरूप ज्ञान और सुख रूप ही प्रकट हो जायेगा। यह नित्य, सनातन, एक रस सब दुःखों से छुटकारा रूप परमपद के स्वरूप में प्राप्त होगा। केवल मुख्य कर्तव्य यही है कि मन में से संसार के मिथ्या सुख का राग और बाहर संसार में ही कुछ बने रहने की तृष्णा से विचार विवेक द्वारा मुख फेर लिया जाना चाहिये। नहीं तो यही तृष्णा दुःख को बनाये रखेगी। या तो बाहर कुछ सत्ता देकर और काम क्रोध रूप रजोगुण प्रकट करके भव तृष्णा के रूप में बांधेगी या पुनः उधर से थके हारे मन को निद्रा या मृत्यु की गोद में ले जाकर तमोगुण स्वरूप विभव तृष्णा में बांधे रखेगी। सत्त्व और रजोगुण रूप 'भव तृष्णा' और तमोगुण स्वरूप 'विभव या विनाश की तृष्णा' से विवेक द्वारा अपना पीछा छुड़ाने पर अपना सच्चा स्वरूप या पुनः परमात्मा तो प्राप्त हुआ ही मिलेगा।

卐卐

बाह्य सुखों के त्यागने पर होने वाले सब दुःखों के अभाव को (दुःख के न रहने को) मनुष्य, अपने मन को अपने आसन पर स्थिर करके, स्वयं ही देखे। स्थिरता के हेतु मन को टिकाने के लिये उसे अपने अन्दर की ही विद्या (जानकारी) की प्राप्ति करनी चाहिये और इसी विद्या या जानकारी के निमित्त अपना सही स्वरूप ही पहचानना चाहिये। उसी सही अपने स्वरूप को पहचानने के मार्ग या दिशा का निर्देश (इशारा) यह पद्य करता है। जीव के सही स्वरूप से विपरीत (उल्टा) मिथ्या स्वरूप वह है जो सांसारिक कामना या बाहर के सुखों वाला है। इसी मिथ्या स्वरूप को ही जो अपना आपा जानता है उसे कभी भी परमात्मा, मुक्ति या सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं प्राप्त हो सकता। सही जीव का स्वरूप है केवल ज्ञान ही ज्ञान, भले वह ज्ञान दुःख का हो या सुख का कैसा भी हो। सब में समभाव होने पर केवल ज्ञान ही ज्ञान दिखाई पड़ेगा।

बाह्य सुखों के वियोग से होने वाले दुःख में मन को स्थिर रखने के लिये खोटी या मिथ्या मति, मिथ्या संकल्प या इरादा, मिथ्या मन के विकारों को सही मति आदि उपजा कर निवृत्त करते-करते अपने अन्तरात्मा का निकट से ज्ञान या साक्षात्कार पाने की दिशा का निर्देश भी यह पद्य करता है।

दिव्य वरदान जो यह, विज्ञप्ति स्वभाव,
ध्यान की स्थिरता के संग, इसका पर प्रभाव।
पड़े भँवर माँहि यदि स्मृति जाये चूक;
तृष्णा परिवार व्यापे, विषयों की ही भूक।। ।६७।

यह पद्य जीव के वास्तविक (असली) स्वरूप ज्ञान (विज्ञप्ति) को बतलाता हुआ, इसे ही परमानन्द रूप से

वरदान के स्वरूप में पाने के लिये ध्यान तथा सर्व बन्धनों से छुटकारा रूप मुक्ति की परम आवश्यकता को दर्शाता है।

पद्यार्थ :- यह जो कि जीव का अपना वास्तव (असल) या सही स्वभाव है वह ज्ञान या विज्ञान रूप ही है। यदि सादे शब्दों में कहा जाये तो इसका तात्पर्य यह है कि जीव के स्वभाव में ज्ञान कभी भी नहीं उच्छिन्न (टूटा हुआ) होता। अर्थात् अटूट रूप से ज्ञान सदा बना रहता है। इसके ऐसा (इस प्रकार) अर्थात् साक्षात्कार होने पर केवल अटूट ज्ञान रूप से अनुभव में आने पर यह अज्ञान इसमें कभी भी दिखाई नहीं पड़ेगा। यही आत्मा शब्द का अर्थ है कि सदा एक रस, ज्ञान स्वरूप से प्रकाशित होते रहना। जब इसका यही ज्ञान स्वरूप ढक गया अर्थात् सुख, दुःख या तेरी, मेरी या 'मैं', 'तू' आदि का संसार इसी के प्रकाश में सूझने लगा तो यही अज्ञान छा गया। इसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अपने ज्ञान स्वरूप में नहीं दीखा। वह ज्ञान स्वरूप तो ढक गया और उस ज्ञान में संसार दीखने लगा। यही सब दुःख की जड़ या कारण है। विषयों के सुख के ज्ञान में आसक्ति होने के कारण उसका इतना बन्धन हो गया है कि जब बाहर जगत् का कोई ज्ञान नहीं रहता तो जागता हुआ मनुष्य भी अपने में ज्ञान के न होने को ही महसूस करता है, यही अज्ञान की दशा है। तब उसका ज्ञान टूटता सा दिखाई पड़ता है। जीव इसमें क्लेश या परेशानी मानकर पुनः उसी बाहर के सुख के ज्ञान को पाने के लिये संसार में ही भागता है, अर्थात् जन्मता है। यदि यह जीव अपने में विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप (विज्ञप्ति रूप) को ध्यान द्वारा सर्व बन्धनों को छेद कर, अपने में पा ले अर्थात् साक्षात्कार कर ले तो यही सर्व बन्धन विमुक्त परमानन्द स्वरूप वरदान रूप

अपना स्वरूप प्राप्त ही मिलता है।

परन्तु बिना ध्यान की स्थिरता के यह अटूट ज्ञान आत्मा मिलता नहीं। केवल ध्यान द्वारा ही ज्ञान स्वरूप आत्मा का उत्तम प्रभाव प्रकट होता है। जब कभी बाह्य सुख में मनुष्य की स्मृति या याद खो गई तभी वह मनुष्य काम, क्रोध और कर्मों के भँवर या चक्कर में पड़ जाता है। यही सब तृष्णा का परिवार है। और उसमें विषयों की क्षुधा (भूख) उसे सताती रहती है। जब वह पूर्ण हो गई तो मन अल्प काल के लिए प्रसन्न हो जाता है; थोड़े समय के पश्चात् पुनः उसका ज्ञान या आत्मा खोया सा ही प्रतीत होने लगता है। क्योंकि साधारण जीव तो बाहर के सुख में या सुख के ज्ञान में ही अपने आपे या आत्मा को पहचानता है या पुनः बाहर के या विषयों के ही सुख के संघर्ष करने में उसे अपना आपा (आत्मा) प्रतीत पड़ता है। इनके बिना केवल या शुद्ध ज्ञान स्वरूप से जो अपना आपा है वह नहीं दीखता। इसी प्रकार सब में सम स्वरूप से या दुःख या सुख में भी वही केवल ज्ञान रूप से, तो केवल उसे अपना आपा खोया हुआ सा ही दृष्टि या समझ में पड़ता है। यह सब बाहर संसार की तृष्णा का प्रभाव है। यही अविद्या या अज्ञान की दशा में आत्मा पर ढक्कन सा डाले हुए है जो कि शुद्ध या केवल अपने स्वरूप में आत्मा को प्रकाशित होने ही नहीं देता। जब बाहर की या संसार के सुखों की तृष्णा खूब जगे मन से विचार करने पर तथा वैराग्य उपजने पर टले तथा निद्रा को भी उचित मात्रा में अपने वश में करके अपने आप में टिकने का अभ्यास किया जाये तो जागते मन में एक दिन शुद्ध या केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा अपने आप में सुख

स्वरूप से अनुभव में आयेगा। यह नित्य सुख जब प्राप्त हो गया तो पुनः संसार में जन्मने या मरने से अत्यन्त छुटकारा या मुक्ति प्राप्त होगी। इसी सब के लिये ही सब साधन हैं।

तृष्णा का मन दूजी दिशा को धाये,
जब जन न देवे साथ तो पुनः दुःख उपजाये।
समति स्मृति दुःख सहे, जाये विषय भूल;
आसन पै समाधि सुख, खो दे सकल शूल।।६८।

पिछले पद्य में कहा गया कि यदि स्मृति या मौके पर बसी रहने वाली याद चूक गई, अर्थात् यह होश न रही कि इच्छा या काम सुख के तनाव होने पर कैसे अपने को संभालना चाहिए तो ही विषयों की सुखमयी दृष्टि का भँवर पड़ कर मन उसी में लट्टू होकर विषयों की भूख से संसार में कई प्रकार के विषयों के कुसँग के चक्कर में पड़ जायेगा।

अब इस पद्य में उस कुचक्र से बचने के लिये पुनः स्मृति के साथ-साथ मति या सत्य की बुद्धि भी बनाये रखने की प्रेरणा की गई है, इससे शुद्ध ज्ञान रूप आत्मा में समाधि की प्राप्ति होने लगेगी और सब दुःख से मुक्ति प्राप्त होगी। यही उपाय दर्शाया गया है।

पद्यार्थ :- जब मनुष्य भली स्मृति अर्थात् अपने को पुरानी आदतों के मार्ग से बचाने वाली याद अपने में बसी नहीं रख सकेगा तभी तृष्णा का काम, क्रोध, लोभ के साथ-साथ खोटा सब बाह्य विषयों के संग का चक्कर या परिवार व्यापेगा; तृष्णा का मन तो सदा परमार्थ की दिशा से दूसरी ओर ही जायेगा। चाहे जिधर मन तृष्णा से जाता है उसका समय समाप्त ही क्यों न हो गया हो, परन्तु मन तो उधर सुख समझे बैठा है।

इसीलिए उधर ही भाग रहा है, उधर का ही झुकाव है। परन्तु थोड़ा विवेक या सही ज्ञान के संस्कार से यदि मनुष्य उस तृष्णा वाले मन का साथ नहीं देता, अर्थात् उसे पूरा करने में संकोच करता है तो वही तृष्णा वाला मन दुःख को उपजाकर मनुष्य को अधिक परेशान करता है। उन विषयों की याद से अज्ञान में भी खोया रहता है। मिथ्या सुख की दृष्टि उसे उत्तम मति, अर्थात् सत्य की बुद्धि भी जगाने नहीं देती।

ऐसी अवस्था में साधक मनुष्य मिथ्या दृष्टि आदि को काटने के लिये सत्य का ज्ञान उपजाकर विषयों के दुःख को दृष्टि में रखकर स्मृति से सँभलकर सब विषयों को दूर रखने का दुःख सह ले। और दुःख सहने में इतना तल्लीन रहे कि सुख वाले सारे विषयों को यही संभाला हुआ दुःख में मन का टिकाव क्रम से शनैः-शनैः भुला ही दे। जैसे ही विषयों की तृष्णा मन से उतरी तो उस व्यक्ति को मन के टिकाव रूप समाधि का सुख होगा, सब शूल मिट जायेगा।

बहुचिर मन कबहुँ दुःख में न थाये (रहे),
दुःख शूल बाड़े, नींद मूर्च्छा बुलाये।
ऐसे धीर दुःख सहले, मन का हो परिणाम;
निद्रा रूप जो न रोचा, समाधि सुख धाम।। ।६६।

पिछले (गत) पद्य में कहा गया था कि मति और स्मृति के साथ तृष्णा के विषयों को दूर रखने के दुःख को साधक पुरुष सहले, और उस दुःख के सहन करने में तल्लीन मन द्वारा विषयों को भुला दे। मन एक समय एक ओर ही रहेगा; यदि दुःख को सहन करने या देखने में ही तल्लीन हो गया तो सब विषय स्वयं ही मन से भूल जायेंगे। तब मन हल्का होकर अन्तरात्मा के सुख को एकाग्र अवस्था रूप समाधि में प्रकट करेगा।

अब इस पद्य में, विधि के विधान के अनुसार या अन्तरात्मा के अधिनियमों (कायदे) के अनुसार जैसे परमेश्वर की शक्ति कार्य करती है उस सत्य को दर्शाया गया है। उसके अनुसार दुःख को जीतने की प्रेरणा की गई है।

पद्यार्थ :- विधि या ब्रह्मा के नियम के अनुसार कभी भी मन दुःख में अधिक चिरकाल तक बना नहीं रह सकता। यदि दुःख या मन का शूल बढ़ जाये तो विधाता (विधि) के नियमानुसार निद्रा आने लगेगी जिससे वह दुःख निद्रा में ही समाप्त हो जायेगा। यदि दुःख अतीव तीव्र हो जैसे भयंकर चोट आदि का, तो मूर्च्छा भी उस दुःख को विधाता के नियमानुसार भुलाने या दबाने के लिये प्रकट होती है। इसी प्रकार यदि धीर पुरुष साधना के उत्साह से अन्त में विषयों के सुख के दुःख रूप होने की मति उपस्थित रख कर तथा स्मृति या याद को ठिकाने रखकर विषयों के दूर रखने के, वियोग के दुःख को आसन पर सहन करता जाये, तथा असमय अर्थात् बिना अवसर (बेमौके) की निद्रा को रोकने के दुःख में भी मन की उपस्थिति रख कर उस के भी दुःख को सहता जाये तो अधिक समय तक तृष्णा का मन नहीं छल सकेगा। तब जैसे दुःख हटाने के लिये विधि के नियमानुसार निद्रा या मूर्च्छा आ जाती है, वैसे ही ऐसे साधक पुरुष के लिये मन समाधि की दशा रूप परिणाम (तबदीली) को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् समाधि रूप में बदल जायेगा और बहुत बड़े सुख को प्राप्त होगा।

ॐ 'इति दुःख कारण परिहार वर्ग'। ॐ

卐 अथ दुःख हेतु बन्धन वर्ग 卐

पराक्रम कर जन बन्धन परखे, जिनको दुःख बुलाये,
इनके सम्यक् ज्ञान के हेतु, ध्यान में मन को रमाये।
ज्यों-ज्यों परखे, त्यों-त्यों छूटे, प्रीत प्रसन्न हो मन;
कभी भी जो न बिछुड़े, पावे ऐसे सुख का धन।।
। ७० ।

पिछले पद्यों में दुःख में स्थिर रह कर दुःख को ध्यान में देखते-देखते निवृत्त करके उससे मुक्ति रूप फल को पाने और उसी से अपनी आत्मा की नित्य शान्ति या सुख को अनुभव करने की चर्चा की गई थी।

अब इस पद्य में जिस दुःख पर विजय प्राप्त करके आत्मा का नित्य या स्थायी सुख पाना है उस दुःख की जड़ (मूल) सर्व बन्धनों को अपने आप में ध्यान द्वारा पहचान कर उनसे मुक्ति पाने (छूटने) की चर्चा है। जब तक यह बन्धन मन की बारीकी में उतर कर नहीं पहचाने जाते तब तक उनसे अत्यन्त छुटकारा (मुक्ति) दुष्कर (मुश्किल) है। और मुक्ति बिना आत्मा का आनन्द असम्भव है। इसलिये ये आगे कई एक पद्यों में इन्हीं बन्धनों की ही चर्चा की गई है।

पद्यार्थ :- मनुष्य पराक्रम (हिम्मत और मेहनत) करके उन सब बन्धनों को पहचाने जिन को कि दुःख अपने जीव स्वभाव में लिये बैठा है। जब मनुष्य अपने आप में सुख का अनुभव नहीं करता और उसे दुःख प्रतीत होता है, और वह मन को बुरा लगता है तब वह उस दुःख को टालने के लिये केवल जगत् का ही सहारा लेता है, तो वह इस जगत् के प्राणी और पदार्थों में कई एक प्रकार से बन्ध जाता है। कहीं

राग से, कहीं द्वेष से, और वैसे ही मान, मोह, अविद्या से भी बन्धता है। बहुत प्रकार से दुःख से बचने के उपायों की सोच में भी बन्ध जाता है। जब कुछ नहीं सूझता तो अविद्या में ही खोया रहता है। यही सब बन्धनों का जाल है। इन्हीं सब बन्धनों से बंधा जीव या मन भली प्रकार से श्वास प्रश्वास भी नहीं ले पाता। हृदय आदि देह के अंग भली प्रकार से अपना काम भी नहीं कर पाते। खाया हुआ अन्न सही रूप से पाचन में नहीं आता। सत्य कहा जाये, तो सब रोग शोक आदि की सृष्टि इन्हीं बन्धनों के कारण से ही होती है। अन्त में दुःखमयी मृत्यु भी, पुनर्जन्म भी यही सब बन्धन ही करते हैं। इन सब को मनुष्य पहचानने का यत्न करे। यह मनुष्य को झटपट बाहर जगत् में ही दुःख मिटाने के लिये पटकते रहते हैं, परन्तु अन्दर के सत्यों में आँख खुलने नहीं देते। इसलिये इनके सही ज्ञान के हेतु ध्यान की एकाग्रता में मन को लगाये। यह दुःख तो मनुष्य को जगत् में धकेलेगा, परन्तु मनुष्य अपने अन्दर ध्यान में रहकर इनकी चाल को समझे। ज्यों-ज्यों इनकी दुःख टालने की बजाये दुःखों को बढ़ाने की चालों का ध्यान में पता चलेगा त्यों-त्यों यह स्वयं ही छूटने लगेंगे। और इनके छूटते ही मन में प्रीति और प्रसन्नता होगी। यही सदा बने रहने वाली विमुक्ति के सुख का धन है।

दुःखों में बड़ा दुःख मिला, आशा का न मान,
जैसा है सम्मानित उलटा पाया अपमान।
ऐसे में जो छाये तीव्र दुःख का मरोड़;
अस्त व्यस्त बुद्धि करदे काया भी दे तोड़।।
। ७१ ।

गत पद्य में तो यह कहा गया था कि दुःख अपनी निवृत्ति के लिये सब जगत् के बन्धनों और काम, क्रोधादि विकारों को बुलाता है। इस पद्य में अब यह सत्य दर्शाया जा रहा है कि जो दुःख को टालने या दुःख से बचने के लिये अपनाये जाने वाले जगत् के मान, मोह, राग, द्वेष आदि बन्धन या काम, क्रोध आदि विकार हैं वे मनुष्य को और भी अधिक उलझन में डालकर उसको दुःखी ही करते हैं। सुख तो उनसे क्या ही होगा ? केवल अल्प मात्र सुख दिखलाकर उस बहाने से संसार में ही बने रहने के लिये छलते हैं।

पद्यार्थ :- मनुष्य को जन्म से बाहर जगत् में पाया हुआ मान मीठा लगता है, सुख रूप समझ में या अनुभव में आता है। परन्तु जब मनुष्य आगे से आगे इस मान की, मान वाली 'मैं' की अधिक तृष्णा करता है, और इसके सदा पाने की आशा बनाये रखता है तो जब कभी समय पाकर इसका मिलना असम्भव हो जाता है तो मनुष्य को बड़ा कष्ट या दुःख प्रतीत होता है। सब समय मनुष्य इतनी शक्ति में नहीं रहता कि दूसरों का स्वार्थ पूरा कर सके, दूसरों को स्वार्थ सुख दिये बिना मान भी नहीं मिलता। विपरीत इसके बाहर कई एक प्रकार के स्वार्थों के संघर्ष के कारण वैर, विरोध बढ़ने पर उल्टा सम्मान के स्थान पर अपमान भी मिलता है; जैसे कि वृद्धावस्था में हर कोई पाता है। तो ऐसी अवस्था में मन में मान या सम्मान के स्थान पर अपमान पाने से तीव्र दुःख का मरोड़ या ऐंठन बड़ी बुरी प्रकार से अनुभव में आती है। उस अवस्था में जो अपने को स्मृति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा के साथ-साथ श्रद्धा के बल के साथ नहीं रखता उसकी बुद्धि या समझने पहचानने की शक्ति

अस्त-व्यस्त हो जाती है अर्थात् मनुष्य को छोड़ बैठती है। और उस अवस्था में दुःखी मन प्राण शक्ति को भी खिन्न करके काया को भी तोड़ने जैसा दुःखी कर देता है।

ऐसा जो भी मरोड़ हो उसे शून्य में बिताये,
दृष्टि भी कोई दुःख दाता की न होने पाये।
दुःख में तो कुछ भी बूझे नहीं हो अबोध अपार;
दीखे प्रवाहित्त दुःख तो हो बोध-ध्यान सार।।
। ७२ ।

गत पद्य में मान के बन्धन का दुःख दर्शाया गया था। अब इस पद्य में उस मान बन्धन से तथा उसके दुःख से मुक्त होने का तात्कालिक (दुःख के काल में होने वाला) उपाय सुझाया जा रहा है।

पद्यार्थ :- जब मान या सम्मान का सुख न मिलने पर, या अपमान का भयंकर दुःख आ पड़ने पर मनुष्य की बुद्धि उसमें खिन्न होने लगे, तो वह अविद्या में खोया हुआ सुख की या मान की सोच में ही न पड़ा रह कर स्मृतिपूर्वक (याद को ठिकाने रख कर) स्वयं व्यर्थ के विचारों और भावों से शून्य रहकर उसी शून्य में स्थिर (टिका) रहता हुआ, दुःख से चलायमान न होता हुआ उस दुःख की ऐंठन या मरोड़ को शान्त भाव से व्यतीत करने का वीर्य बल (हिम्मत) करे। तब खाली (बिना किसी सूझबूझ के) मन तो शून्य में नहीं टिकना चाहेगा। इसीलिए इस मन को दुःख के देखने या अनुभव करने में लगाये रखे। जैसे खुंजली को मिटाने के लिए बिना खुजलाये खुजली के दुःख को कोई देखता-देखता सहन करके और उसके दुःख में स्थिर रह कर खुजली के स्थान पर ही उसे समाप्त कर देता है। ऐसे ही

卐卐卐

मान बन्धन के दुःख के मरोड़ को देखता-देखता या अनुभव करता-करता ही समाप्त कर दे और उसे अपने मन में ही मिटा हुआ अनुभव करे।

तब दुःख से चलायमान मन यद्यपि दुःख देने वाले या मान को भंग करने वाले की दृष्टि (नज़र) पुनः अपने में उत्पन्न या खड़ी करके द्वेष और क्रोध की अग्नि जलाकर संसार में ही मनुष्य को मिथ्या कर्मों में धकेलना चाहेगा परन्तु (समति स्मृति दुःख सहे - पद्य ६८) इस पीछे कहे के अनुसार बुद्धि और स्मृति (याद) ठिकाने रखकर दुःख सहन ही करे। उस दुःख में 'उस पुरुष ने मुझे दुःखी किया है' ऐसी दृष्टि भी न बनने दे। बुद्धि रखे कि कौन किस को दुःख देता है ? यह दुःख परस्पर के संयोग से अपने समय पर सब को ही होता है। इस प्रकार बुद्धि को स्थिर रखे। अन्त में दुःख देने वाला व्यक्ति भी साधारण दूसरों के समान ही दीख पड़े यद्यपि उस दुःख में ज्ञान ध्यान शीघ्र कुछ भी नहीं सूझते केवल बोध या सत्य ज्ञान के विपरीत अपार अबोध (ज्ञानशून्यता) या अन्धकार (ज्ञान न उपजने की अवस्था) ही सूझता है। परन्तु यदि दुःख में मन ठिकाना या स्थिर करना आ जाये तो वह दुःख ही बोध (सत्य ज्ञान) दे देगा। परन्तु इसमें ध्यान ही सार की वस्तु है अर्थात् ध्यान बना रहना चाहिये। जब अबोध या ज्ञान से शून्यपना मन में भारी जचे और मन इस खालीपन में तंगी सी माने तो खुजली के दुःख के समान ही दुःख की जलती अग्नि को क्षण-क्षण मनुष्य अनुभव करता हुआ कुछ समय व्यतीत करे और जगत् के इसी दुःख वाले सत्य को समझने के लिये मन में ध्यान और खोजने के लिए जागता रहे

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

या खोज के लिए झुका रहे तो समय व्यतीत होते की खबर तक भी नहीं रहेगी और जगत् के सब सत्यों का ज्ञान होगा। मिथ्या संसार की उलझन शान्त होगी। दुःख में मन को सम्भाले रखने से तथा दुःख का अनुभव बनाये रखने से ज्ञान शून्यता का क्लेश भी टलता रहेगा।

निश्चय टलेगा दुःख चाहे नींद क्यों न आये,
दे नींद को बिसार मुक्ति सुख, समाधि पाये।
घटने पै दुःख के चीन ले कारण निचय का योग;
दीखे यही सर्वत्र तो मिटे भव का दुःख रोग।
। ७३ ।

पिछले दो पद्यों में मान बन्धन का दुःख और उससे निवृत्ति की चर्चा की गई। ऐसे ही सब बन्धनों के दुःख उत्पन्न होने पर उनसे छूटने के लिये उनके दुःख के तनाव को स्मृति और सुमति (सत्य की बुद्धि) रख कर सहन कर लेना चाहिये। तब सब बन्धनों से मुक्ति होने पर अपने अन्दर का स्थायी सुख प्रकट हो जाता है। गत दो पद्यों में मान का बन्धन केवल एक उदाहरण रूप था, वैसे ही प्रत्येक राग, द्वेष, संशय, मोह और कर्त्तव्य सम्बन्धी व्यर्थ की सोच आदि सब बन्धनों के दुःख को देखते-देखते बिता देने से अपने आप में मुक्ति का सुख प्राप्त होता है और जीवन की सफलता का अपने आप में ही निश्चय भी प्राप्त होता है। अब इस पद्य में बन्धनों के दुःख के निवृत्त होने पर पुनः इस सकल दुःख के कारण के ज्ञान के बारे में चर्चा है।

पद्यार्थ :- यदि कोई धैर्यवान उद्योगी साधक उन सब बन्धनों के दुःख की ऐंठन को सहता जायेगा तो यह सहन करना ऐसा नहीं कि सदा ही बना रहे। किन्तु सहन

करते-करते तीक्ष्ण हुए मन में मन का देव अवश्य ही उस दुःख के मरोड़ को शान्त करने के लिये अपनी शक्ति प्रकट करेगा। प्रथम निद्रा को फैला कर दुःख को भुलाना चाहेगा। यह निद्रा लेटे बिना भी आसन पर बैठे-बैठे ही आनी आरम्भ होगी। यदि इस निद्रा को आप ठुकरा कर इसी निद्रा के सुख को क्षण-क्षण मन से टालने के लिये जागते ही रहे तो उसी अवस्था में निद्रा जैसा ही शान्त सुख मन की एकाग्रता रूप समाधि अवस्था का प्राप्त होता है।

जब दुःख टल गया तो उस समय मन तो जाग ही रहा है। ऐसी अवस्था में वह उस समाधि सुख में भी मोहित न हो, तब बुद्धि को जगाकर पहले हुए दुःख के सब कारणों के निचय (समुदाय) को पहचानने के लिये मन को जोड़े। तब उस साधक को अपने आप के सकल दुःख का कारण या जड़ स्वयं प्रत्यक्ष दीखने लगेगा जो कि संसार की केवल तृष्णा ही होगी जिसने कि कई प्रकार से अपनी शाखायें फैला रखी होंगी। कई एकों से मेल का दुःख, कई एकों से वैर विरोध का दुःख; पुनः इसी कारण से शंकायें, भय और संघर्ष आदि ये सब दुःख को बढ़ाने वाले दुःख के कारण हैं । इन सब को ध्यान दृष्टि से पहचाने। यदि इसी को सब जीवों के दुःख का कारण अन्य सब जीवों में भी पहचानने में आ गया तो उसे संसार भर से वैराग्य हो जायेगा। जिससे कि संसार चक्र में पड़ने या संसार में होने का रोग ही कट जायेगा। अर्थात् संसार में ही पुनः जन्मते रह कर अपने आप के बने या बसे रहने के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। दुःख के टले बिना सुख स्वरूप अपना आत्मा नहीं मिलता। इसीलिये दुःख टाल कर अर्थात् सुख में अपनी 'मैं' पाने के लिये दूसरों का

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

सम्बन्ध किया जाता है। यदि दुःख अपने आप में ही सहन करके दूसरे के सम्बन्ध बिना भी टल गया, जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दुःख में मन को स्थिर रख कर मन की शक्ति प्रकट करके दुःख पर विजय पाना, यह दुःख संसार में हुए या आये बिना भी केवल आत्मा में या अपने आप में ही टल जाये तो दुःख के टलने पर आत्मा में ही सुख भी प्राप्त होगा; सुख रूप आत्मा भी प्रकट होगा; तब संसार से अत्यन्त (बिल्कुल) मुक्ति होगी।

प्रबोध का अवसर यही जब बन्धनों का जोश,
स्मृति, वीर्य, ध्यान योग से खोने न पाये होश।
बना रहे विवेक तो उत्तम प्रबोध पाये;
खोया विकार धार में भव पार कैसे जाये ?
। ७४ ।

प्रबोध अर्थात् सही सत्य के ज्ञान का अवसर (मौका) तो यही है कि जब सांसारिक सुखों में बान्धने वाले बन्धन उत्तेजना (जोश) में हों; बल कर रहे हों, उस समय यदि कोई उद्योगी पुरुष अपनी स्मृति (याद), वीर्य (हिम्मत) और ध्यान का योग (जोड़) रख कर अपनी मन की उपस्थिति और समझने पहचानने की शक्ति (होश) खोने न दे तो भले बुरे का ज्ञान रूप विवेक बना रहेगा। और मनुष्य अपने आप को सांसारिक सुखों की खींच रूप तृष्णा के सब राग, द्वेष, मोह, मानादि बन्धनों से बचा रख सकेगा। और पुनः वैसे बचे रहने की दशा में बुद्धि विवेक जाग्रत रहने पर वास्तविकता (असलीयत) क्या है उस सब का ज्ञान रूप प्रबोध वह मनुष्य स्वयं अपने में पायेगा। और यदि उस सांसारिक सुख की तृष्णा के तनाव होने पर काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों की धारा में ही बह

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

गया तो पुनः संसार में ही उसे होना पड़ेगा। यह होना (भव) कोई भी एक जैसा तो है नहीं; होने के पीछे पुनः कुछ और होना; कहीं मित्र होना; कहीं वैरी; कहीं प्रेमी; कहीं द्वेषी इत्यादि-इत्यादि समय के अनुसार यह होने-होने (भव) या होते बनते रहने का संसार इतना विशाल है कि इसको बिना प्रबोध के पार करना असम्भव हो जाता है।

तात्पर्यार्थ :- इस पद्य का यह भाव है कि जब मनुष्य अपनी आयु में शनैः-शनैः सांसारिक सुखों से दूर होने लगता है तो उन सुखों के सहारे समय व्यतीत करने वाला मन उन्हीं सुखों के बिना समय व्यतीत करने में दुःख मानता है। यदि इस दुःख को तपस्या रूप में मनुष्य स्वीकार कर ले; और इस दुःख में भी दुःख के तनाव से काम, क्रोध, लोभादि विकारों में न बह कर अपने को इन से विचार द्वारा धारण करने में वीर्य (हिम्मत) बनाये रखे, और मन को एकाग्र रख कर अपने आप की बहती (गुजरती) हुई अवस्थाओं को ध्यान स्थिर रख कर पहचानता रहे तथा उनमें अपने आप को विपरीत संसार की दिशा में भी न सरकने दे, तो मनुष्य को अन्दर का या अपने आप का और संसार जाल का सही पूर्ण ज्ञान रूप प्रबोध प्रकट होकर उसे संसार जाल से मुक्त करके आत्मा की स्थायी शान्ति में प्रतिष्ठित कर देगा।

कुछ भी यहाँ के दुःख से, जो बन गया सो भव,
जो कुछ बना न स्थिर रहे, मिटे जो सो विभव।
बार-बार होके मिट जाना, न सुख कभी;
निकल सके पर कोई, शान्त बोध हो जभी।।
। ७५ ।

गत पद्य के अन्त में कहा था कि विकारों की धारा में यदि

बुद्धि और स्मृति खो गई तो भवसागर के पार नहीं पहुँचा जा सकेगा। इसी भव सागर का संक्षेप से यहाँ पद्य में विवरण (खुलासा) बतलाया गया है और उसके साथ-साथ इसकी दुःख रूपता भी सूचित की गई है। और इससे पार जाने का मार्ग केवल सत्य का ज्ञान (बोध) ही है। इसी पर बल दिया गया है कि इसे अवश्य अपने में उत्पन्न करके सर्व दुःखों से मनुष्य मुक्त हो जाये।

शब्दार्थ :- जब सांसारिक सुखों की तृष्णा के बन्धन राग, द्वेष आदि सब सूक्ष्म मन या अन्तःकरण में बहते हुए मनुष्य को पुनः अपने आप में न रहने देकर संसार की ओर ही ले जाने के लिये काम, क्रोधादि विकारों को उत्पन्न करते हैं, तब इनके तनाव से मनुष्य की स्मृति, वीर्य, ध्यान टिकने नहीं पाते; और मनुष्य के लिये अपने आप में अल्प भी समय व्यतीत करने में विघ्न डालते हैं तो दुर्बल मन वाला जन उस दुःख में अपने को अपने आप में या एकान्त में धारण करने में असमर्थ होने पर दूसरों का अवलम्बन (सहारा) चाहता है। जब उसने किसी भी दूसरे का सहारा मन से ले लिया तो वह अपने में या आत्मा में न रह सका, तब वह संसार में ही कुछ हो गया। इसी होने को शास्त्रकार (शास्त्र के रचने वाले) भव के नाम से कहते हैं। अब जो भी वह संसार में एक बार हुआ या बना, वह तो बदलते संसार में उसी समय का ही था, टिका तो वह रहेगा नहीं। इसलिये वह पुनः मिटेगा। बाहर जगत् में कुछ होने से जो जीव शक्ति बाहर भटकती है वह वहाँ पुनः उस भटकना के दुःख को प्रतीत (महसूस) करके संसार में

'होने' के विपरीत मिटना ही चाहती है। संसार में बने रहने का कारण तो केवल सुख का ही अनुभव है। जब वह पिता, पुत्र या प्रिय बन्धु बनने का सुख समय या काल ने निगल लिया अर्थात् दूसरों में वह प्रेम या आदर का भाव न रहने से उल्टा दुःख रूप ही हो गया तो अब संसार में पहले के प्रेम, मान आदि के सुख के विपरीत अपमान और विरोध आदि की अग्नि के दुःख को देखने के लिये कौन बना रहना चाहेगा ? यही 'संसार में न बने रहने की तृष्णा' ही विभव तृष्णा है। इसी से निद्रा और मृत्यु भी अच्छी लगने लगती है। यह उसकी होने से विपरीत मिटने की तृष्णा है। निद्रा या मौत इसी का नमूना है। तब संसार में भटकने वाला दुःखी मन संसार से टलने में भी सुख मानता है। जहाँ सुख समझ में पड़ता है वहीं जीव की तृष्णा बनी रहती है। तो इस प्रकार जीव 'होने' या जन्मने तथा मरने में सदा ही बहता रहता है। बार-बार होकर मिटना किसी के लिये भी सुख नहीं है। परन्तु इससे निकला तभी जायेगा जब किसी को इस सब सत्य का ज्ञान रूप बोध हो। और उस बोध से प्रेरणा पा कर पार जाने के धर्म को धारण करने में स्थिर रहे और उसके दुःख को स्वीकार करे। अर्थात् मन की लग्न के साथ दुःख में भी तंगी न मानता हुआ दुःख के समय को भी व्यतीत करने में स्थिर रहे। न कि थोड़ा भी दुःख पड़ने पर या अनुभव में आने पर बाहर प्राणियों या पदार्थों में ही मन को भटकाये तथा उन्हीं के संग की तृष्णा को और भी अधिक बल वाली बना कर पुनः उसी के कारण संसार में ही जन्मता रहने की ओर भागे।

करे कोप मान,'मारा गया' वेदना विशाल,
राग रोये सुख न दीखे, हो रहा बेहाल।
भड़का जो दुःख में द्वेष तो, विष ताप को फैलाये;
हुये हुये के ताप शोक में भी मोह धँसाये।।
। ७६ ।

सकल दुःख का मूल (जड़) सांसारिक सुखों की तृष्णा ही है। यह वार्ता कही जा चुकी है। इसी तृष्णा के ही बन्धन (मान, राग, द्वेषादि) जो जीव को जगत् में ही बांधे रखते हैं और जिनके परिहार या अत्यन्त टाल देने पर जीव संसार से मुक्ति पाकर अपनी ही आत्मा में सदा तृप्त रहता है, अब इस पद्य से उन्हीं बन्धनों का वृत्तान्त आरम्भ होता है। इन सब बन्धनों को प्रत्यक्ष, निकट से अपने अन्तःकरण या मन में पहचान लेने पर, इन से पूर्ण परिचित हुआ-हुआ मन और बुद्धि इनका संग कभी भी नहीं रखना चाहेगा। इसलिये इनके प्रकट या प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतु मनुष्य को अपनी ज्ञान (जानने की) शक्ति या बुद्धि अपने आप को पहचानने में इस प्रकार चेतन या जाग्रत करनी है कि जैसे वह संसार में जन्म कर बाहर जगत् की हर एक वस्तु तथा व्यक्ति के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उनमें अपने भले या सुख के लिये वैसी ही नीति या मार्ग अपनाता है जिससे कि उसको दुःख की प्राप्ति न हो। इसी प्रकार मनुष्य को वह बाहर वाली दृष्टि (नजर) शनैः-शनैः बाहर से समेट कर अन्दर अपनी ही आत्मा में खोलनी है। इससे बाहर के समान उसे अपने आप में होने वाला बन्धनों का जगत् या जाल भी वैसे ही दीखेगा जैसे बाहर का जगत्। तब वह अपना भला बुरा पहचान कर इनको यत्न और कष्ट से भी त्याग कर

卐卐卐

अपना सनातन (सदा बना रहने वाला) भला साधेगा तथा अन्दर की अविद्या नष्ट होगी। अन्दर या अपनी आत्मा के ज्ञान बिना मनुष्य अज्ञानी या अन्धा ही शास्त्रों में समझा जाता है। घर, बाल-बच्चे, धन और सम्पत्ति आदि भी जीव को बांधनें वाले हैं। ये सब तो असमर्थ, शक्तिहीन तथा रोग और वृद्धावस्था में पड़ जाने पर मनुष्य के अपने आप भी छूट जाते हैं। परन्तु राग, द्वेष, मान, मोह और अविद्या आदि का परिवार बहुत सूक्ष्मता (बारीकी) में भी मन में छिपा और पड़ा रहता है। घर, धन, पुत्रादि सब को तो मृत्यु एक साथ ही छीन लेगी; परन्तु ये जो उनकी तृष्णा के राग द्वेषादि बन्धन बतलाये गये हैं, इन्हें मृत्यु भी नहीं छुड़ा सकती। ये केवल ज्ञान उत्पन्न करके स्वयं दुःख रूप दीखने पर छूटेंगे।

तात्पर्यार्थ : पद्यार्थ : जैसे मनुष्य संसार में जीवों की काम, क्रोध वाली लीला को देखता है ऐसे ही मनुष्य को अपने बाह्य जगत् में फैली अपनी 'मैं' (खुदी) की लीला भी देखनी चाहिये। जो कुछ भी अपने आप को जगत् में मान लिया है वह आप का मानं रूप बन्धन ही है। और भी जैसे-जैसे दूसरों को उनके व्यवहार से मित्र, वैरी, प्रिय, अप्रिय मान लिया है या सुखदाता, दुःखदाता मान लिया है इत्यादि यह सब 'मान' का ही बन्धन है। अपने सुख हेतु ही यह मानना है और यह मानना केवल बाह्य जगत् में ही है। जब अपने आप में या मनुष्य कैवल्य भाव में होगा तो इस मानने या मान का कोई महत्त्व या कीमत नहीं। 'कैवल्य भाव' का यह तात्पर्य है कि सब संसार के बन्धनों से मुक्त हो कर जहाँ संसार का भी पता न पड़े, ऐसे अपने आप या आत्मा के आनन्द में स्थिर रहना। यही

बाहर का सुख वाला मन सदा अपने को बाहर जगत् में ही इसका सुख देखता हुआ बनाये रखना चाहता है। यद्यपि सदा इसने बदलते हुए संसार में रहना है नहीं। यही झूठी तृष्णा है। इसे ध्यान द्वारा ही पहचाना जा सकता है। नहीं तो यह झूठी तृष्णा मनुष्य को इसी दुःख वाले जगत् में धकेलती रहती है।

यही मान, जब मन के विपरीत कुछ भी होता है या कोई दुःख ही आन पड़ता है तो क्रोध उत्पन्न करता है और अपने सुखी रूप के मान के मरने की वेदना (पीड़ा) या दुःख प्रतीत (महसूस) करता है और मनुष्य को अन्धेरे (सही ज्ञान से विहीन अवस्था) में पुनः उसी 'मान या मैं' को पाने के लिये प्रेरित करता है।

दूसरा एक बन्धन राग नाम वाला है। यह बन्धन जिस वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध से सुख हुआ है उसी के लिये प्रीति स्वरूप से मन या अन्तःकरण में छुप कर बसा बैठा रहता है और उसी की पुनः-पुनः स्मृति या याद रूप से चित्त या उसे ही पाने के लिये चिन्तन की धारा बनाये रखता है। यदि कोई दूसरा मन को उलझाने वाला आवश्यक कारण जैसे कि भयादि नहीं तो यह उसी प्रेम के पदार्थ की स्मृति उत्पन्न करके, उसमें काम या इच्छा उत्पन्न करके मनुष्य को दीन हीन बनाये रखता है। मनुष्य उस राग की वस्तु को पाने में ही सुख या मान समझता है। इसलिये जब इस जीव को सुख अपने में नहीं दीखता तो यही राग, सुख बिना, बेहाल या खिन्न दुःखी होकर अपने में रोता है। अर्थात् इसी सुख को पाने के लिये दुःख मानता है।

इसी प्रकार एक बन्धन द्वेष रूप है जो कि सुख के स्थान

卐卐卐

पर दुःख पाने वाले मन में भड़क उठता है। और मन में आग जैसी सुलगा देता है और दुःख के प्रति या दुःख के कारण या दुःख दाता के लिये मन में विष (ज़हर) को फैला देता है, जिससे मनुष्य दुःख के कारण को बिना विचारे नष्ट करने पर तुल जाता है। चाहे वह स्वयं इस मनुष्य के लिये अन्त में हानिकारक ही क्यों न हो। यही द्वेष का बन्धन दुःख देने वाले प्राणी या वस्तु की स्मृति (याद) मन में धारा रूप से बनाये रखता है और पुनः-पुनः क्रोध को उत्पन्न करके दुःख के कारण को नष्ट करने के लिये प्राणी को उकसाता रहता है।

इसी प्रकार एक मोह नाम वाला बन्धन भी है जो कि सुख दुःख के कारण से ही व्यर्थ की सोचो में खोया-खोया शोक और चिन्ता में पड़ा समय व्यतीत करता रहता है; चाहे अपने पाने की वस्तु अपनी शक्ति से बाहर ही क्यों न हो, परन्तु उसका पीछा नहीं छोड़ता। व्यर्थ के विचार या चिन्तन में बसा यह शोक करता रहता है। यही मोह का स्वरूप है। यह मोह नाम वाला बन्धन बीते सुख या न प्राप्त होने योग्य सुख के लिये भी व्यर्थ की सोच या चिन्ता में जीव को रुलाये रखता है। वैसे ही आ पड़े दुःख या जो आगे पड़ने जा रहा है उसकी भी व्यर्थ की चिन्ता या शोक में जीव को लपेटे रखता है। जितना कुछ अपने से उपाय बन सके उतना सोचना तो सही भी है। परन्तु उपाय के बिना, शक्ति से बाहर की वस्तु में दुःख और शोक युक्त चिन्तन या चिन्ता में धंसे या पड़े-पड़े समय व्यतीत करना यही मोह का कीचड़ है जो कि बहुत सूक्ष्म दृष्टि वाले मनुष्य द्वारा ही टाला जाने के योग्य है। यह क्यों हो गया ? ऐसा क्यों नहीं हुआ? इस प्रकार की व्यर्थ की

चिन्ता या शोक में खोये रहना ही मोह का स्वरूप है। मोह युक्त व्यक्ति में समय की या मौके की स्मृति या याद भी ठिकाने पर बनी नहीं रहती। इसी कारण से जो कर्म जैसे उचित ढंग से होना चाहिये वैसे हो नहीं पाता। इसी से यह व्यक्ति अपनी बुद्धि या निर्णय करने की शक्ति भी क्षीण कर बैठता है। तृष्णा के चार-बन्धनों का संक्षेप से वृत्तान्त इस पद्य में बतलाया गया। मान, राग, द्वेष और मोह इन्हीं को अपने में पहचाने;ये सब बारीकी में संसार लिये बैठे हैं।

क्या क्या कर्तव्य सोचे, संशयों का जाल,
जो न जग में कोई, दृष्टि देखे उनकी चाल।
चाहा सब मिलता नहीं, क्यों सोच को दौड़ाये,
अविद्या की गहरी रात में, दुःख जन को जा बसाये।।
। ७७ ।

इस पद्य में भी दूसरे और बन्धनों के बारे में विवरण (व्याख्यान) है या स्पष्ट व्याख्यान (विशद विवरण) है।

तात्पर्यार्थ :- अपने सुख के कारण मनुष्य अपने कर्तव्य के बारे में इतना सोचता रहता है कि वह सारा सोचना मनुष्य की भलाई या सुख के लिये भी नहीं होता। प्रत्युत (बल्कि) अधिक सोचने से मन की और प्राण की भटकी शक्ति जीव के श्वास को भी विकृत (बिगाड़) करके मनुष्य के देह के अन्नपाचन, रक्त संचार आदि क्रियाओं को भी बिगाड़ कर बिना समय के भी रोग का कारण बन जाती है। पुनः अपने सुख-दुःख हेतु कुछ जल्दबाजी में अनुचित भी मनुष्य कर बैठता है। पुनः उसी से अपने पर कष्ट या दुःख की शंका से भी, पुनः उस किये कराये के लिये व्यर्थ की सोच करता हुआ मिथ्या कुछ का कुछ निश्चय करने में लगा रहता है। यही सब

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

कर्तव्य सम्बन्धी न समाप्त होने वाले विचारों का तान्ता या श्रृन्खला भी मनुष्य को बांधे रखती है। सब कुछ संसार में चाहा हुआ मनुष्य के वश में तो है नहीं; परन्तु सुख लिप्सु (सुख चाहने वाला) और दुःख भीरु (दुःख से डरने वाला) दुःख-सुख के कारण करने कराने में, खाते, पीते, चलते, फिरते, नहाते, धोते भी इन्हीं व्यर्थ के कर्तव्यों को सोचने में अपनी शक्ति क्षीण करता रहता है। इसी प्रकार सुख दुःख के बारे में, हित अहित के लिये भी प्रिय अप्रिय के सम्बन्ध में कितने एक प्रकार से संशयों या शंकाओं में भी मनुष्य उलझा रहता है। यह संशय बन्धन सब में प्रकट दिखाई देता है। इसी संशय के बन्धन की दशा में श्वास भी सुख से नहीं लिया जा सकता; तथा जीव सब कुछ बाहर की विभूति रखता हुआ भी दुःखी ही होता है। इसी प्रकार एक दृष्टि बन्धन है। किसी एक देहधारी का कोई एक समय के अनुसार व्यवहार को देखकर उसमें एक ऐसी दृष्टि (नज़र) बना लेना कि जैसे वह सदा ही वैसा बना रहने वाला हो। जैसे कि किसी एक मनुष्य के मन के अनुकूल व्यवहार न होने पर तथा प्रतिकूल बर्ताव होने से क्रोध आ जाने पर वैसा व्यवहार करने वाले प्राणी को कोई वैरी या मूर्ख ही अपने में समझ बैठे तो यह वैरी या मूर्ख की केवल इसी एक में ही दृष्टि या नज़र ही है। यह वैरी या मूर्ख इसी एक के लिये ही है। वह सब के लिये वैसा नहीं है। देहों में ज्ञान तो कुछ न कुछ जीवन पर्यन्त दीखता ही है। यही ज्ञान रूप होने से ही ज्ञान या चेतन रूप आत्मा तो कभी भी लुप्त नहीं होता। ज्ञान की धारा तो कभी भी नहीं टूटती। यही आत्मा शब्द का अर्थ है कि अटूट ज्ञान की धार। परन्तु उस देह में किसी निमित्त से या समय के अनुसार जो कुछ भी कभी दिखाई पड़ा उसी को

दृष्टि (नज़र) में बसाकर यदि उसको सत् करके समझ लिया तो यह मिथ्या दृष्टि ही है और वहाँ वैसा कोई सत् अर्थात् बना रहने वाला तो कोई है नहीं। वह तो बदलते संसार में चल ही बसेगा, परन्तु मिथ्या दृष्टि वाला प्राणी तो उसे अपने में बनाये रखकर विविध प्रकार से अपने सुख-दुःख के कारण (हेतु से) जगत् में ही उलझा रहेगा। यही देहात्म दृष्टि नाम से भी शास्त्र में चर्चित है। कहीं मित्र है तो कहीं वैरी है, कहीं प्रिय और कहीं अप्रिय है। ये सब किसी देह में किसी समय के बर्ताव के अनुसार केवल दृष्टियां या नजरें ही उत्पन्न होती हैं। परन्तु साधारण जन इन्हीं दृष्टियों में जिन-जिन की सत्ता या हस्ती देखता है वे सब तो केवल इसी एक की कल्पना में ही हैं। सब में वैसे वे हस्तियां समान रूप से नहीं हैं। यदि कोई सुख और दुःख में सम रहने का अभ्यास करे तो उसको केवल एक ही ज्ञान या चेतन रूप आत्मा की ही हस्ती या सत्ता सर्वत्र भासेगी; न कि शत्रु, मित्र, प्रिय, अप्रिय या मूर्ख इत्यादि कोई अन्य की सत्ता या हस्ती। 'है' नाम है सत् का; अर्थात् मित्र-वैरी, प्रिय-अप्रिय यह सब सत् है; ऐसा जीव को मिथ्या भासता है। सत् करके यहाँ कुछ भी नहीं; परन्तु सुख-दुःख के स्वार्थ के कारण उनकी दृष्टि अवश्य बनी है। दृष्टि ने भिन्न-भिन्न देहों में सत्त्व (है पना) बनाया है। यही सब दृष्टि का बन्धन अनन्त शाखाओं वाला है। एकान्त में आसन-ध्यान द्वारा ही यह दृष्टि का बन्धन पूर्ण रूप से अपने तथा दूसरों में परखने में आयेगा। जो कोई भी मित्र, वैरी इत्यादि सत् करके कहने योग्य नहीं है, उस सब की चालों को दृष्टि नाम वाला बन्धन दिखाता है।

卐卐

परन्तु अविद्या का बन्धन सब बन्धनों से ऊपर वाला है। अविद्या शब्द का अर्थ है विद्या से विपरीत जो कोई भी शक्ति जीव स्वभाव में समझने में आती है। ज्ञानी और ध्यान में चतुर ऋषियों ने उसे समझा है। यह सत्य को ढाँकने वाली और सत्य के सही स्वरूप को न दिखा कर दूसरा कुछ का कुछ उसे प्रकट करती है।

जब हम यह देखते हैं कि मन में कभी यह दशा भी समझने में आती है कि मनुष्य का मन ऐसा कुछ प्रतीत या महसूस करता है कि पता नहीं वहाँ क्या है ? ख़बर नहीं वहाँ क्या हो रहा है ?' इसी प्रकार उचट-उचट कर मन बाहर इन्द्रियों को उन-उन पदार्थों को विशेष करके समझने या जानने के लिये प्रेरित करता है या उसी दिशा में विचारों को लगाये रखता है तो यही अज्ञान या अविद्या की दशा (हालत) भी बन्धन रूप है। क्योंकि उसमें मन बन्धा-बन्धा जानने या ज्ञान या उस पदार्थ या वस्तु की विद्या (जानकारी) पाने के लिये अन्दर ही अन्दर लपका हुआ क्लेशपूर्वक जब तक कुछ निश्चय नहीं कर पाता या समझ नहीं लेता तब तक ज्ञान शून्य या अन्धकार में पड़ा हुआ सा अपने स्वस्थ स्वभाव आत्मा या ज्ञान को नहीं पाता। इसीलिये वह अविद्या की दशा में अन्धा सा या खोया सा उसी में कुछ ज्ञान का प्रकाश खोजता है। यह अविद्या भी अपनी अनन्त शाखाओं सहित बिना सूक्ष्म ध्यान के समझ में नहीं आती। परन्तु यदि मनुष्य अपने में स्मृति वाला रहे तो उसे क्षण-क्षण में यह अविद्या जगत् में सब जीवों को चलाती हुई देखने में आयेगी। यही अविद्या सब देहों में कोई न कोई दृष्टि उत्पन्न करके उसी दृष्टि के अनुसार मनुष्य से इच्छा द्वारा कर्म करवाने का कारण बनती है। ध्यान

में बैठे प्राणी के मन को भी 'बाहर क्या हो रहा है', ऐसा जानने समझने के लिये यही अविद्या का बन्धन ही बार-बार चलायमान करता है। जिसने एक सर्वव्यापक सत्य, पुरुष स्वरूप, ब्रह्म भाव से सब में समान, हित्त सुख रूप से पहचान लिया, उसे पुनः बाहर किस वस्तु को जानने के लिये मन या इन्द्रियां दौड़ानी पड़ेंगी ? जब तक मनुष्य ने पुरुष के जगत् को सब स्वार्थ रहित होकर नहीं समझा तब तक के ही ये सब बन्धन हैं। मिथ्या स्वार्थ तथा अन्याय से रहित प्राणी को पुरुष के जगत् से कोई भय नहीं। चाहा हुआ और स्वार्थ का सब कुछ तो मिलता भी नहीं; पुनः इसके लिये क्यों अपनी सोच या चिन्तन को भटकाया जाये।

इसका तात्पर्य यही है कि जब हम संसार में ही अपनी चाह या मिथ्या स्वार्थ को पूरा करना चाहेंगे तो मन जब कोई स्वार्थ पूरा करने का रास्ता तो देखेगा नहीं और प्राणी चिन्तनधारा को जगाये रखेगा, वैसा चित्त (चिन्तन की धारा) बिना कुछ अपने अनुकूल निश्चय के या अपने मतलब की समझ के उस सोच में खोई हुई दशा में दुःखी होता रहेगा। यही अविद्या की गहरी (गम्भीर) रात्रि है। आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है। यहाँ अज्ञान में ज्ञान रूप आत्मा न मिलने से आत्म विनाश की शंका उपस्थित हो जाती है। इसलिये प्राणी पुनः ज्ञान का भूखा न जाने किस-किस संस्कार को जगाकर मिथ्या जगत् जाल में खो जाता है। अपने बन्धन-शून्य सहज ज्ञान स्वरूप आत्मा को नहीं पाता। जगत् के बन्धन से रहित यदि ज्ञान बसा रहे तभी आत्मा आनन्द रूप से प्रकट झलकता है। तब अपना आपा खोया हुआ सा नहीं दीखता। जब जगत् की

卐卐

कोई तृष्णा या भूख है और भूख मिटी नहीं तो ऐसी अवस्था में आनन्द रूप आत्मा खोया हुआ या छुपा हुआ कई एक प्रकार से पुराने संस्कार जगा-जगा कर अपने में केवल पुरानी याद रूप ज्ञान का दीपक जलाकर अपने में बसा रहने की थोड़ी बहुत तृप्ति पाता है; नहीं तो नाश को प्राप्त हुआ सा दीखता है। यही सब बन्धनों की सृष्टि है। यह सब आत्म विद्या बिना शुद्ध मन के और ध्यान की स्थिरता के प्राप्त नहीं होती। इसलिये मनुष्य थोड़ा बहुत अपने आप को समझने का यत्न बनाये रखे।

करणों को स्व-स्व विषय राखने की लाग,
इससे परे अनन्त में बसने का भी है राग।
जग से विरक्त मन कभी इनमें भी जा रमाय;
इससे परे उठा जो मन तो सत्व से छुड़ाय।।
। ७८ ।

पद्यार्थ :- गत दो पद्यों में आठ बन्धनों को दर्शाया गया था। यह पद्य शेष दो बन्धनों की चर्चा करता है। इन्द्रिय रूप ज्ञान के साधन करण शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा सुनना, देखना, छूना, चखना और सूंघना, इन ज्ञानों की उत्पत्ति होती है। यही पाँच ज्ञान-इन्द्रियां यहाँ करण शब्द से सूचित की गई हैं। इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से स्वभाव से ही प्रीति है। यही इन्द्रियों के विषयों का अपने-अपने विषय से राग रूप (विषय) राग वाला बन्धन है। अपने विषयों का संग इन्द्रियां, शरीर त्याग के उपरान्त (बाद) भी नहीं छोड़तीं। सूक्ष्म, उत्तम तथा दिव्य विषयों का संग वहाँ भी बनाये रखती हैं। यह भी मोक्ष मार्ग में एक बन्धन ही है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

मुक्ति की अवस्था में इन्द्रियों के सूक्ष्म दिव्य विषयों का राग तक भी नहीं रहता। जगत् में तो स्थूल विषयों का ही राग बन्धन है। धन, परिवार, सम्पत्ति आदि-आदि से ही यह होता है। परन्तु इनमें दोष दर्शन करने से वैराग्य होने पर इन से तो मन हट जाता है परन्तु सूक्ष्म रूप से देखने, सुनने इत्यादि से यह नहीं टल पाता क्योंकि कोई भी सदा बना रहना चाहता है। जब स्थूल विषयों से उसे अपनी 'मैं' नहीं मिलती तो केवल कुछ भी बच्चे के समान देखने या सुनने में भी उसे अपने आप के बने या बसे रहने का अनुभव होने से इनमें भी राग बना रहता है। तो इसी प्रकार इन्द्रियों से परे मन या अन्तःकरण है। यह भी एक ज्ञान उत्पन्न करने का करण है अर्थात् साधन है। यही मन इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान से खिन्न होकर शून्य या अनन्त आकाश में विचरने के सुख से इसी से एक भाव को प्राप्त होने पर उसके सुख में रंग जाता है। यह एक प्रकार का अनन्त का बिना रूप का या अरूप का राग बन्धन है क्योंकि आकाश का कोई रूप नहीं है।

संक्षेप से इस पद्य में बतलाये गये दोनों बन्धनों का भाव यह है कि जब संसार के सब सुखों में और परिवार, अधिकार या ऐश्वर्य आदि में कहीं भी मन नहीं रमता, इन सब में दुःख दर्शन करता हुआ पूर्ण वैराग्य को प्राप्त होता है तब वह संसार के ऊपर के स्तर की उलझन से रहित हो कर अपना मन पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, सूर्य, चन्द्र और आत्मा रूप, इन आठ वसुदेवों के स्वरूप में लगाता है; खाली मन का तो समय भी व्यतीत नहीं होता। वह साधक वैराग्य-युक्त हुआ साधारण जन सम्पर्क (सम्बन्ध) से भी दूर, वन या एकान्त में

बहुत सा समय इन्हीं वसुदेवों के ध्यान में व्यतीत करता हुआ इन सब को शिशु या बालक के समान, शुद्ध मन में पहचानता है। तब इसी पुरुष को दिव्य शब्द, दिव्य देव तुल्य रूप, वैसे ही अति श्रेष्ठ रस, शुभ गन्धें और दिव्य स्पर्श ध्यान में अनुभव में आते हैं। उसे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है। इनके अनुभव का बड़ा मान होता है। ये सब दिव्य इन्द्रियों के विषयों में राग भी हो जाता है। यही दिव्य-रूपों का राग बन्धन है। ऐसी अवस्था में उसे देव तुल्य अपना स्वरूप भी बड़ा सुन्दर दृष्टि में आने लगता है। यही सब रूप राग बन्धन है।

इसी प्रकार जैसे इन्द्रियां अपने विषय खोजती हैं वैसे ही मन भी तो कुछ अपनी समझ बनाकर आनन्द मानना चाहता है। ऐसी अवस्था में ध्यान में मग्न रहने वाला पुरुष इस मृत्यु लोक से टल कर अन्य मन के स्तरों की भी खोज करता है। जब वह ब्रह्मा के समान सब के सुख में सुख वाला, सब के या किसी के भी दुःख में दया युक्त मन वाला होता है; वैसे ही अल्प ज्ञान वाले जीवों में किसी के भी पुण्य कर्म में प्रशंसा युक्त मन वाला होता है तथा उन प्रकृति तथा अज्ञान (नासमझी) वाले जीवों के स्वार्थ की बाध्यता (लाचारी) के वश जो अपराध या पाप हैं उनमें क्षमा तथा उपेक्षा (बेखबरी) का भाव रखता है तो यह सब संसार में उत्तम तथा श्रेष्ठ भाव वाला मन ब्रह्मा या जगत् के पितामह के समान होता हुआ ब्रह्मलोकवासी ही समझा जाता है। मैत्री, दया, गुणों या पुण्यों की प्रशंसा और अपराधों और पापों में क्षमा तथा बेखबरी रखना यह सब पिता या पितामह तुल्य व्यक्ति ही कर सकता है। ऐसे भाव वाला व्यक्ति ही ब्रह्मलोकवासी होता है।

इससे परे जो अपने ज्ञान में बसे रहने वाले पुरुष हैं वे यूँ जानते हैं कि जिसको हमने पिता समझा उसी से पिता तुल्य पूज्य बर्ताव होता है। जिस देह में पुत्र, मित्र, वैरी आदि की समझ हमें हुई उनके साथ भी उन्हीं-उन्हीं के सदृश ही बर्ताव होता है। यह सब संसार समझ में ही है; समझ कहो या बुद्धि का विज्ञान कहो यह एक ही तात्पर्य को बतलाता है। तो ऐसे साधक, ध्यान में रत पुरुष, जगत् को केवल समझ या बुद्धि का विज्ञान रूप ही मानते हैं। यही भगवान् विष्णु जो कि विराट सत्त्व गुण स्वरूप वाला चेतन पुरुष है, उसी का लोक है। ऐसी समझ को धारण करने वाले इसी अनन्त लोक में बसते हैं।

जो कोई यहाँ तक ज्ञान को या ऊपर कहे भावों को ध्यान में नहीं जगा पाते, परन्तु अपने में या अपने प्रकृति स्वभाव में जप आदि द्वारा बिना कुछ भी भाव बनाये या ज्ञान उपजाये रहते हैं वे प्रकृति में लीन हुए रहते हैं।

सही मार्ग पर रहा, तभी विवेक है सुहाय,
विपरीत जो गया, तो कुछ होता ही होता जाये।
भव की यह बहती धार, फिर विभव को सुख बताये;
विनाश देख फिर वही भव धार में बहाये।।

। ७६ ।

बन्धनों की चर्चा वाले पद्य में अन्त में यह कहा गया था कि जो इन बन्धनों से ऊपर उठेगा, तो वह संसार में अपनी हस्ती मिटा कर आत्मा में परम शान्ति पायेगा। गत पद्य की अन्तिम पंक्ति है, 'इससे परे उठा जो मन तो सत्त्व से छुड़ाये', इसमें सत्त्व नाम संसार में होने वाली उलझनों में पड़ी सत्ता या हस्ती का ही है। अनेक रूपों वाले संसार में जीव का मन आनन्द या सुख तो मानता है; क्योंकि अकेलेपन में तो उसे

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

कुछ भी ज्ञान न होने से या कुछ भी जानने में न आने से उसका मन ही अपने आप में नहीं लगता; उसे कुछ न कुछ जानने समझने की भूख रूप अविद्या बनी ही रहती है। वह उसे अपने आप में टिका रहने नहीं देती। बहुतों के संग में जो अपना आपा समझ में पड़ा था उसे ही याद में बसाये हुए जीव बहुत जन वाले संसार की ही तृष्णा मन में लिये बैठा रहता है और संसार में ही उन बहुजनों में कुछ अपने आप को भी पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। अकेले का मन अविद्या से खिन्न और दुःखी ही रहता है। यही संसार में होने या बने रहने की तृष्णा को 'भव तृष्णा' कहते हैं। संग वाला संसार ही जीव को सुख देने वाला याद में आता है; उसी की ही लपक रहती है। जो कोई भी जीव बहुत जन वाले संसार में पुत्र, मित्र, वैरी आदि स्वार्थवश बनेगा या होगा वही उसकी 'सत्ता' या 'हस्ती' इस संसार में होगी। इससे उसकी ज्ञान और प्राण शक्ति बाहर की बाहर संसार में ही भटकती हुई अकेलेपन के खेद और दुःख से भी कहीं अधिक खिन्न और दुःखी होकर पुनः इसी संसार में ही कुछ भी बनने या होने के कष्ट से बचने के लिये निद्रा और अन्त में मृत्यु की भी कामना या तृष्णा अपने में रखेगी। यही दूसरी 'विभव की तृष्णा' तमोगुण रूप से जीव को बांधने वाली है। यही सदा बना रहने वाला जन्म मरण का चक्र है। जो संसार में अपनी आत्मा को ज्ञान और आनन्द रूप से पहचान कर इसी में ही टिकाव प्राप्त कर लेगा उसे पुनः संसार में क्यों भटकना पड़ेगा। वह पहली संसार की भटकना के दुःखों को ही स्मरण करके अपनी आत्मा में ही बसा रह कर संसार की सत्ता से मुक्त रहेगा। यही सब संसार में अपनी सत्ता या हस्ती मिटाने का तात्पर्य है। जब बाहर या संसार में

'सत्ता' या 'हस्ती' पाने की लगन या भूख नहीं रही तो अपना आपा ही आनन्द रूप से प्रकट हो जायेगा और अपने आप के 'विनाश' या 'न रहने' की शंका तक भी नहीं होगी। संसार की लपक या तृष्णा और उसी के जानने समझने की तड़पन अविद्या रूप से बनी रहने के कारण सदा प्रकाश और आनन्द रूप भी आत्मा या अपना आपा प्रकट रूप से सुख या आनन्द स्वरूप जानने में नहीं आता। विवेक द्वारा संसार के दुःख को समझ कर इस की तृष्णा मिटाने पर आत्मा में स्थायी वास मिलेगा।

अब इस पद्य में इसी सत्त्व से छुड़ाने के मार्ग का संक्षेप से साधन स्मरण करवाया जा रहा है।

शब्दार्थ :- य़दि सही मार्ग पर कोई पुरुष रहा तभी उसे ध्यान विचार द्वारा विवेक (सही ज्ञान) प्रत्यक्ष रूप से मन में प्रकट होकर उसे बन्धनों से छुड़ायेगा और उसे आत्मा के आनन्द की प्राप्ति करवायेगा। तभी आनन्द का कारण होने से यही विवेक सुहावना भी लगेगा।

यदि इसके विपरीत (उल्टा) प्रकृति के मार्ग में गया तो यह प्रकृति का मार्ग तो संसार में ही स्वार्थ बनाये रखने का है जो कि कीट-पतंग, पशु-पक्षी सब जीवों में समान है। यही संसार है जहाँ कि स्वार्थों का द्वन्द्व, संघर्ष और राग-द्वेष, मान-मोह आदि बन्धनों से मनुष्य को कुछ का कुछ मित्र, वैरी, पापी, कपटी, उग्र कई प्रकार से अपने बाह्य स्वार्थ के कारण होना ही पड़ता है। अर्थात् एक बार कुछ बनने या होने से तो काम चलेगा नहीं, पुनः दूसरों की भी अपनी स्वार्थ की भक्ति है; उनमें भी पुनः मनुष्य को आगे से आगे कुछ और का और ही संघर्ष में होना पड़ेगा। ऐसे यह संसार की धारा बहती जाती

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

है। अन्त में इससे खिन्न, दुःखी, अशान्त होकर वह इसी भव (संसार में होने) की बहती धारा से टलना भी चाहेगा; इस भव धारा को मिटाकर तमोगुण रूप विभव (न होने) को भी सुख मानेगा। तो यही भव (संसार में होना) ही विभव (न होने) को भी सुख रूप से जतायेगा अर्थात् दर्शायेगा। तब इसकी भी तृष्णा मनुष्य को आलस्य, निद्रा और मृत्यु रूप से चिपकी रहेगी और जब सोये-सोये तमोगुण का सुख लेने पर पहले भव (होने) का दुःख भूल गया तो अब तमोगुण के अन्धकार या अज्ञान में अकेला पड़ा मन पुनः अपनी संसार वाली 'मैं' के विनाश की शंका मान कर पुनः संसार में ही कुछ न कुछ होने को सुख बतायेगा। तब उसे पुनः वहाँ से संसार में ही आना पड़ेगा और उसी भव (होने) की धारा में बहना पड़ेगा, तो यह चक्र ऐसे कभी भी शान्त न होगा। इसलिये प्रकृति के बन्धनों वाले 'संसार में ही होने' के मार्ग रूप विपरीत मार्ग से टल कर उस प्रकृति से टलने के सही मार्ग पर चलना ही उचित होगा। ये सब बन्धन संसार में ही होने की खींच या तृष्णा के हैं। इसी भव तृष्णा से मुक्त जन अपनी आत्मा में ही सदा बसा रहने वाला आनन्द पाता है।

इस सारे बन्धन वर्ग (७०-७६) के पद्यों का यह आशय या भाव है कि मनुष्य के चारों ओर लहरें मार रहा जो भव सागर है वह एकान्त में अपने आप में साधना में तथा ध्यान में लगे जन को कई एक प्रकार से अपनी ओर ही खींचता है। प्रथम साधना की अवस्था में जब तक कि मनुष्य को ध्यान या आत्मा के साक्षात्कार का अभी सुख या आनन्द प्राप्त नहीं हुआ तो उस एकान्तवासी साधक का मन उछल-उछल कर संसार में

ही अपनी इन्द्रियों को दौड़ाता हुआ बाहर जगत् में लोगों को खुशी-खुशी हँसते और आनन्द मनाते देखता हुआ अपने आप में अकेलेपन के दुःख को अनुभव करके उन्हीं की ओर उन्हीं में ही होने की सोचता है। यही भव सागर की खींच है या तृष्णा है। ऐसी स्थिति होने पर यदि वह साधक पुरुष अनन्त जीवों के एक दूसरे में होने की खुशी या आनन्द को प्रबोध के कहे गये ध्यान तथा खोज आदि अंगों को जगा कर सत्य को समझ जाये तो दूसरों में या संसार में होने का सही स्वरूप प्रकट हो जायेगा। संसार या बाहर जगत् में होने का दुःख भी दीख जाये तो मन उधर से स्वयं ही टल जायेगा, परन्तु यदि केवल दूसरों में प्रकट छोटी मोटी मन की तृप्ति या खुशी ही मस्तक में धंसी रही तो वह साधक पुरुष को अधिक समय तक एकान्त में स्थिर नहीं रहने देगी । इसलिये मनुष्य को अपना मन जैसे वस्तुओं को बाहर समझने में चतुर है, वैसे ही अन्दर के सत्यों को समझने में जगाना चाहिए। जगा-जगाया मन, जहाँ-जहाँ भी जीव संसार में होने या बने रहने के चक्र में है, वहीं-वही से सत्य प्रकट करके इसका मुख मुड़वा देगा। जब संसार में रुचि नहीं रही तो अपने आप में आत्मा का सुख भी प्रकट होगा।

ॐ इति दुःख हेतु बन्धन वर्ग ॐ



卐卐卐

卐 अथ साधना पथ्य वर्ग 卐

अद्वैत में ही शान्त होवे, आसन पै सुहाय,
सुमति उपजाता जाय, दुःख सहता जाय।
बाहर का उपाय और दुःख में धँसाये,
तत्क्षण के सुख को देखे जो सो पाछे पछताये।।
। ८० ।

भव (संसार में होने) की तृष्णा से टलकर तथा विभव (न होने) की भी तृष्णा से टलकर अपने मन को कहाँ शान्त करना ? ऐसा प्रश्न होने पर यह पद्य उसका उत्तर स्वरूप है।

संसार या प्रकृति के दुःखपूर्ण काम क्रोधादि विकार युक्त तथा राग द्वेषादि बन्धनों वाले बहु संघर्ष और उग्र कर्मों वाले विपरीत मार्ग से अपने मन को हटाकर अद्वैत में शान्त करे। अद्वैत नाम उसका है जहाँ कि अपनी आत्मा को छोड़ दूसरा कुछ भी नहीं; और कोई भी नहीं। इससे उल्टा द्वैत (दोपने या दूई) का जाल है, जहाँ कि विरोधी कई एक अपने-अपने स्वार्थ के कारण अपनी-अपनी दिशा में ही एक दूसरे को खींचते तथा तनाते हैं। इसमें कहीं शान्ति का अवकाश नहीं। जहाँ कोई भी दूसरा है वहाँ शान्ति सुख सदा एक रस, एक जैसा कभी भी बना नहीं रह सकता। इसलिये इसी अनन्त जीव के द्वैत वाले संसार में कुछ भी न होकर अपनी आत्मा के अद्वैत (एकपने) में ही शान्ति खोजे।

इसी के लिये दृढ़ आसन का अभ्यास करे और उस

आसन को दुःख से भी बढ़ाते-बढ़ाते एक दिन उसी को सुहावना बनाये; अर्थात् उस आसन को स्थिर तथा सुखमय बनाये। जब संसार की तृष्णा या लपक मन में जागेगी तो मिथ्या या विपरीत रूप या प्रकार से प्राण शक्ति भी देह आदि में दुःख प्रकट करके साधक का उत्साह भंग करके उसके आसन ध्यान आदि को चलायमान करेगी। तब साधक पुरुष अपने को आसन पर सम्भाल रखने के लिये सुमति उपजाता जाये; अर्थात् सही ज्ञान बनाये रखे कि आसन ध्यानादि के अल्प दुःख सहन करने से यदि संसार बन्धन का महान् दुःख टलता हो तो यह दुःख सहन करना कोई हित के प्रतिकूल या पाप नहीं है। इसलिये दुःख को भी सहता ही जाये। चलायमान होकर अपने को मिथ्या ढंग से सुखी बनाने के लिये बाहर के वही संसार में ही होने के दूसरों के संग आदि उपायों को न याद करे। क्योंकि उनसे तो पुनः तृष्णा और बढ़ेगी तथा भड़केगी और बाहर की दासता और भी पक्की होगी। यदि मन उस आसन के थोड़े दुःख से बचने के लिये उसी दुःख वाले क्षण से छुड़ाने वाले जैसे तैसे उपाय के एक क्षण भर के सुख को ही मन में बसाये रखे तो उसे भी पीछे पश्चात्ताप में पड़ना पड़ेगा। क्योंकि क्षण भर के सुख के पश्चात् पुनः वही तृष्णा को ही सिर पर चढ़ी हुई देखेगा और जब वह पूरी करने योग्य भी नहीं रहेगी तो इस प्रकार सदा तृष्णा और संसार की अग्नि में जलता ही रहेगा और पश्चात्ताप करेगा। तृष्णा पूरी करने का सुख क्षण भर का ही है। इस कथन का यह तात्पर्य है कि किसी भी विषय के संग का सुख लम्बे समय तक बनाये

卐卐

रखना असम्भव है, भले ही वह सुख खाने पीने या प्रिय व्यक्तियों के संग का ही हो; क्योंकि मन अल्प समय के एक सुख के पश्चात् किसी दूसरे विषय में सुख देखता है। सदा किसी विषय के सुख के साथ आठों पहर जुड़ा तो रह सकता नहीं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न सुखों में पुनः सदा बने रहने वाला जन कभी किसी एक विषय का तो कभी पुनः दूसरे विषय का संग करता हुआ इन्हीं के संग वाला जीवन रच कर इन्हीं विषयों के संग बिना रह भी नहीं सकता। इसी को यूँ भी कह सकते हैं कि उस व्यक्ति की इन विषयों की तृष्णा बहुत बढ़ गई है। आयु के अनुसार यही तृष्णा दिनों दिन बढ़ती-बढ़ती रोग आदि उत्पन्न करेगी और तब तृष्णा पूरी भी नहीं की जा सकेगी। तब तृष्णा वाले का समय भी व्यतीत करना असम्भव होगा। तभी वह धर्म नियम आदि न रख सकने के कारण पश्चात्ताप की अग्नि में भी जलेगा।

'है' करके कुछ वस्तु नहीं, है ज्ञान का ही स्पन्द,
फिर भी इसी में धँस रहा, 'है-है' का बड़ा फन्द।
सब बन्धनों के जाल बन्धे, दुःख में अधीर;
प्रबोध से हो मुक्त, धीर वेदना में वीर।। ।८१।

यह पद्य गत पद्य में चर्चित अद्वैत की बुद्धि रूप सुमति की पुष्टि के एक प्रकार को दर्शा रहा है और उसी सुमति को पुष्ट करने के उपाय को दर्शाता है।

मुमुक्षु साधक पुरुष को ऐसा सत्य अपने मन में समझना तथा ध्यान द्वारा पहचानना है कि जो इस जगत् में 'मेरा मित्र है' या 'मेरा वैरी, प्रिय-अप्रिय आदि कोई भी है',

यह सब 'है करके' कुछ भी सत्य वस्तु नहीं है। केवल यह ज्ञान की ही स्फुरण (स्पन्द, फुरना) है। जैसे कि किसी के बर्ताव से यदि दुःख हुआ तो उस व्यक्ति में बुद्धि का विज्ञान यूँ स्फुरित होता (फुरता) है कि 'यह मुझे दुःख देने वाला है'। यहाँ दुःख पाने वाले की अपनी ही एक 'है' है। दुःख पाने से पहले केवल पुरुष रूप तो उसकी मति में एक सत्य था; परन्तु दुःख देने वाला या 'वैरी' करके कुछ भी नहीं था। इसी प्रकार दुःख में धीर पुरुष दुःख को यदि सह ले तो पुनः 'वैरी' भी कोई नहीं रहा; केवल एक ही ज्ञान स्वरूप अपने जैसा पुरुष ही पुरुष रहा। इसी प्रकार मित्र आदि भी ऐसे कुछ भी नहीं रहते। सब संसार की दूसरी वस्तुएं भी तभी तक ही सत् (है रूप) हैं जब तक कि उनमें स्वार्थ टिका बैठा है। सुख देने वाली वस्तु को ग्रहण करने का स्वार्थ, दुःख देने वाली वस्तु को टालने का स्वार्थ होने से ही जगत् की सब वस्तुयें 'है है' करके समझ में पड़ती हैं और सारा जगत् भी 'है' स्वरूप से ही दीख पड़ता है। यदि यही स्वार्थ ध्यान तथा ज्ञान आदि में तुच्छ पहचान लिया गया तो सारा जगत् सत् (है स्वरूप) नहीं रहेगा। इस प्रकार जगत् के सब प्राणी और पदार्थ केवल ज्ञान का ही स्फुरण रूप सिद्ध होंगे। अपने आप में वे कभी भी सत्य प्रमाणित नहीं होंगे। ऐसा होने पर भी अज्ञान या सत्य का सही ज्ञान न होने के कारण इसी मिथ्या बुद्धि में जीव धँस रहा है। यह सब 'है है' का पाश (फन्दा) है।

पीछे कहे बन्धनों के इस पाश (फन्दे) में वही प्राणी अधिक उलझे रहते हैं जो दुःख में अधीर होकर झट दुःख

से निकलने या बचने के लिये कोई मित्र, वैरी आदि की दृष्टि (नज़र) बना कर कर्म करके दुःख टालना चाहते हैं।

यदि सुमति या सब प्रकार से विवेक रख कर बोध का दीपक मन में जलता रहे और दुःख या सुख की वेदनाओं में (महसूस करने में) कोई वीर रहे, अर्थात् झटपट इनके प्रभाव में बह न जाये; और बह कर कोई मिथ्या कर्म करने को तत्पर न हो तो वह इन सब बन्धनों के जाल से मुक्त हो जायेगा और सब में एक ही चेतन पुरुष को देखेगा। मिथ्या जगत् की दृष्टियों (नज़रों) का बन्धन नहीं रचेगा। और उससे मिथ्या कर्म आदि के चक्र में भी नहीं पड़ेगा।

दृष्टि की विशुद्धि हित आत्मा पहचान,
आत्मा परमात्मा सर्वत्र वही जान।
शुद्ध हुए पै दृष्टि तासे उपजे शुद्ध ही मन;
द्वेष, राग, क्रोध, काम, छीजे काम का वन।।

। ८२ ।

गत पद्य में दर्शाया गया कि 'है करके' या 'सत् करके' कोई वस्तु नहीं; केवल ज्ञान का ही स्फुरण सत्य है। वस्तु सब मित्र, वैरी आदि बुद्धि की समझ से ही प्रतीत पड़ती है। इसलिये दृष्टि शुद्ध हो तो जगत् का बन्धन भी नहीं रहे। अब इस पद्य में दृष्टि (नज़र) की शुद्धि का उपाय जताया जा रहा है।

पद्य की संगति :- पिछले पद्य में अद्वैत में शान्त होने की चर्चा थी तथा सुमति उपजाकर दुःख को सहन करने के लिये बल प्राप्त करने की युक्ति सुझाई गई थी। अब यह

卐卐

पद्य (बन्धनों से छुड़ाने वाली मति अर्थात् बुद्धि) सब प्रकार की सुमति (सुन्दर एवं पवित्र मति) तथा अद्वैत मति (दूई या भेदभाव से रहित करने वाली मति) रूप सुमति इसी की शरण लेने के लिये विचार को जगाता है। बिना भेदभाव मिटे राग-द्वेष पूर्णतया नहीं मिटते। बन्धन भेदभाव के साथ ही हैं।

दृष्टि या अपनी नज़र (जिससे संसार को देखना है) की शुद्धि के निमित्त अपने आप (आत्मा) को पहचानना चाहिये; अर्थात् अपने आप को बहुत निकट रूप से समझना पहचानना चाहिये। मैं 'क्या करता हूँ', 'कैसे रहता हूँ' 'कैसे बोलता, देखता, कर्म आदि करता हूँ', इस प्रकार समीप से अपने आप को समझना चाहिये। भला कर रहा हूँ तो भले करते को पहचानना, बुरा करता हूँ तो उससे भी आँख बन्द नहीं रखना या करना; नहीं तो शुद्धि कैसे होगी ?

जब आप अपने आप को निकट से समझने लग गये और आपकी अपने आप में आँख खुल गई और अन्दर के सत्य जो कि आप को चला रहे हैं वे सब प्रकट भासने लग गये तो यही सब आत्मा की प्रथम पहचान है। तब आप आत्मा और सर्वव्यापक जीवन के सागर रूप परमात्मा को भी सर्वत्र एक रूप ही समझ या पहचान लेंगे। जो राग, द्वेष, देहात्म दृष्टि, संशय आदि आप को बल से चलाते हैं वही तो दूसरों में भी समान ही हैं। तब भेद किस बात का? सब में एक ही ब्रह्म परमात्मा अपनी बुद्धि, विज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति द्वारा चारों ओर छाया हुआ दीखेगा, भेद

卐卐

नहीं रहेगा। जैसे कि हमें सुख का ज्ञान होने पर हँसी या प्रसन्नता की लहर रूप क्रिया मुख पर छा जाती है और दुःख का ज्ञान होने पर रोने की क्रिया होती है। जैसी-जैसी चेतन रूप परमात्मा की झाँकी होती है अर्थात् जैसा ज्ञान वैसी ही उसके पीछे-पीछे चलने वाली क्रिया शक्ति रूप प्रकृति उसके साथ सर्वत्र समान ही तो है। सब जीव जन्तुओं में उसी की ही लीला है। ऐसा आत्मा और परमात्मा का स्वरूप पहचानना चाहिये। ज्ञानपूर्वक ही सब जग का व्यवहार है। कोई भी कर्म बुद्धिपूर्वक ही होता है। इस प्रकार ज्ञान विज्ञान रूप से परमात्मा अपनी क्रिया की शक्ति रूप प्रकृति के द्वारा सब कर्म करवा रहा है। भेद केवल व्यवहार तक ही है।

जब ऐसी दृष्टि, अद्वैत भाव वाली उपज गई तो इससे मन के संकल्प और भाव आदि भी सब शुद्ध ही उपजेंगे। तब पुनः राग, द्वेष आदि बन्धन और काम, क्रोध आदि विकार वाला सब विषयों का वन छिन्न-भिन्न हो जायेगा और आत्मा के अद्वैत (एकपने) में स्थिरता प्राप्त होगी।

शुद्ध मन कर्म करे, भले के अनुकूल,
बन्ध व विकार टारे, करे नहीं भूल।
संग थोड़ी जरूरतों के जीवन की हो साध;
दे दुःख का ध्यान, ज्ञान हरन को व्याध।।

। ८३ ।

गत पद्य में कहा गया कि शुद्ध दृष्टि से शुद्ध मन ही उपजेगा। अर्थात् यदि सर्वत्र परमात्मा की ही दृष्टि हुई तो राग, द्वेष, काम, क्रोध और मिथ्या विकारों वाला स्वार्थी

कठोर मन नहीं रहेगा। यही अशुद्ध होता है, परमात्मा की अद्वैत भाव वाली दृष्टि का मन तो शुद्ध ही होगा।

यह पद्य शुद्ध मन की चर्या बतलाता है कि यदि विकार रहित शुद्ध मन मनुष्य में प्रतिष्ठा (टिकाव) पा गया तो उससे भले के अनुकूल ही सब कर्म होंगे। मनुष्य का भला तो सब जगत् से मुक्त होकर आत्मा में शान्ति पाना रूप ही है। देह से, इन्द्रियों तथा मन से भी मिथ्या कोई भी कर्म नहीं होंगे जिससे बाहर मनुष्य दूसरों की उलझन और संघर्ष में पड़े। वाणी भी भली प्रकार होगी। आत्मा का संयम भी होगा। यही सब पुनः ध्यान के अनुकूल जीवन बन जायेगा। ध्यान से विचार द्वारा सत्य का ज्ञान या विवेक उपजेगा। यही भले के अनुकूल सब कर्म हैं।

यही शुद्ध मन केवल आसन पर ध्यान में बैठकर तो सब रागादि बन्धनों और काम, क्रोधादि विकारों को तो टालता ही है; परन्तु सब में रहते हुए भी, बाह्य देह निमित्त कर्म करते हुए भी स्मृति और मन की उपस्थिति रख कर सब प्रकार के मिथ्या कर्मों को तथा बन्धन विकारों को भी टालता रहता है। भूल नहीं करता, चूकता नहीं। दुःख ही भले के विपरीत सब कर्म करवाता है, परन्तु ऐसा शुद्ध मन वाला जन दुःख में भी धीर रहकर चूक नहीं होने देता। भले के अनुकूल ही सब कर्म करता है। और भी, भले के विपरीत कर्मों को बाह्य सुख की बढ़ी जरूरतें ही करवाती हैं। परन्तु मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखने वाला), शुद्ध मन वाला व्यक्ति देह धारण के लिये थोड़ी जरूरतों के साथ ही जीने का अभ्यास या साधना करता है। जब पहले की

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

अधिक आवश्यकताओं (जरूरतों) के न पूर्ण करने पर उसे दुःख होता है तो इसी दुःख का ध्यान करके वह सब जगत् की व्याधि (रोग, पीड़ा) को हरने वाला ज्ञान पाता है। अर्थात् दुःख का ध्यान करने से दुःख के कारण की खोज करने पर जगत् के सुखों की बढ़ी हुई तृष्णा ही सब दुःखों की जड़ प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। यही भारी व्याधि रूप से समझ पड़ेगी। इसी को पुनः ध्यान ज्ञान के बल द्वारा छोड़ कर मनुष्य जगत् से मुक्ति पा सकेगा। जैसे कि अधिक मीठा खाने वाले को यही आदत व्याधि रूप से इतना दुःखी करे कि मीठा खाने का सुख भी सुख के स्थान पर दुःख ही दिखाई पड़ने लगे तो ध्यान द्वारा अपने मन की मीठा खाने की प्रवृत्ति दुःखदायी, शत्रु रूप से समझ कर टालनी ही पड़ेगी। इसी प्रकार सारे जगत् के सुखों की तृष्णा ध्यान द्वारा दुःख की जड़ दीखने पर मन द्वारा ही टालने योग्य दीखेगी। तभी जगत् के सब बन्धनों से मुक्ति जीवन काल में ही अनुभव में आने पर आत्मा में नित्य सुख और शान्ति भी प्राप्त होगी। यही सब जगत् की व्याधि को हरने के लिये महा औषध है।

सुख जो हुआ क्षीण, मन ला देगा तूफान,
उसमें राखे स्मृति, नहीं खोये आत्म ज्ञान।
खोया जो आत्म ज्ञान, होगा खोटा व्यवहार,
जो धर्म की न नाव होने देगा भव से पार।।

। ८४ ।

अधिक बाह्य सुखों की तृष्णा और उसको पूरा करने के लिये अधिक बाह्य आवश्यकता (जरूरत) का होना ही भले

के विपरीत है। यही सब भले के मार्ग को रोकने वाली है। इसलिये इस पद्य में यही सत्य युक्तिपूर्वक दर्शाया गया है तथा इसमें सचेत रहने का सुझाव है। यदि बाह्य सुख पूर्वाभ्यास (आदत) के अनुसार थोड़ा भी न्यून (कम) रह गया तो अधिक सुखों में रहने वाला सुखी मन आत्मा में क्रोध, चिढ़ आदि का तूफान ला देगा। जैसे धूल आदि से युक्त तीक्ष्ण वेग वाली आँधी दृष्टि को निरोध करके मार्ग चलने में अड़चन डालती है, ऐसे ही अधिक बाह्य सुख वाला मन थोड़ा भी कम तृप्त होने पर अपने ज्ञान को खो बैठता है।

ऐसी परिस्थिति में उस तूफान या विकारों की आँधी में अपनी मौके की सुध या स्मृति (याद) बनाये रखे और अपने आप (आत्मा) का ज्ञान न खोये। क्रोध व चिढ़ में हो तो उसे भी समझता रहे, मिथ्या कर्म करने के भाव विकार को भी दृष्टि में (निगाह में) रखे। यदि ऐसा नहीं होगा तो झटपट वे विकार स्मृति भंग करके बुद्धि पर पर्दा डाल कर भले की याद तो भुला देंगे और उसी तुच्छ बाह्य सुख के लिये यत्नबद्ध मनुष्य के मन को रचेंगे। सो यही बात इस पद्य में दर्शायी गई है कि यदि अपने आप में मन की उपस्थिति (हाज़री) और भले की स्मृति तथा कर्तव्य की स्मृति न रही तो भी आत्मा का (अपने आप का) ज्ञान तो खो जायेगा और बाहर जगत् में अधिक उलझन वाला खोटा ही व्यवहार होगा। देह से विपरीत या असंयम के मिथ्या कर्म, वाणी से भी खोटा व्यवहार आदि सब उस व्यक्ति से होंगे; जो कि पुनः मनुष्य की धर्म की नाव को

भवसागर से पार नहीं होने देंगे। प्रथम धर्म की साधना वाला देह, पुनः अल्प जरूरतों वाला तथा दुःख में भी धैर्य को न खोने वाला या बनाये रखने वाला मन, इन्हीं के साथ-साथ आसन ध्यान में स्थिर होकर जगत् बन्धन से मुक्त करने वाले ज्ञान को पाने का यत्न करता हुआ, मनुष्य की श्रद्धा और विश्वास ही धर्म की नाव रूप से यहाँ कही गई है। यही सब संसार में होने की(भव की) तृष्णा के सागर से पार करेगा।

खान पान में विचार शून्य का उपजे शिथिल मन,
हीन वीर्य, अर्थ न सोचे, सुस्त रहे तन।
युक्त तो कुछ हो न सके, (तब) काल ही टाला (काटा) जाये;
व्यर्थ की संगत व सोचों में जीवन गंवाये।। ।८५ ।

गत दो पद्यों में यह बतलाया गया था कि मनुष्य अपनी मनोविनोद के रास्ते से बढ़ी जरूरतों को कम करे और उससे जो दुःख हो उस दुःख के झंझावात(तूफान) में अपने आत्म ज्ञान और स्मृति को न खोये, तभी यह धर्म की नाव भवसागर से पार पहुँचेगी।

अब यह पद्य आवश्यकताओं को देह धारण तक ही सीमित रखने के साथ-साथ खाने-पीने में भी मनुष्य को विवेकी और संयमी (काबू में रहने वाला) होने के लिये निर्देश (इशारा) करता है।

नित्य प्रति मनुष्य देह रक्षा के लिये जो खान-पान करता है उसमें भी उसे पूर्ण विचार रखने की आवश्यकता है। आवश्यकता से अधिक न खाया जाये, और वैसे भारी या रजोगुणी भोजन का सेवन अधिक मात्रा में न किया जाये। बार-बार न खाया जाये। जब मन चाहा, खाने पीने

की वस्तु सम्मुख उपस्थित हुई कि मुख में डाल ली। ऐसा करने पर उसका मन काम, लोभ आदि दोषों का तथा आलस्य, तन्द्रा (सोयी हुई सी अवस्था) या निद्रा आदि तमोगुण की अवस्थाओं को जीतने में हीन वीर्य रहेगा, अर्थात् उन विकारों पर विजय पाने के लिये बल या हिम्मत न कर सकेगा। और पुनः जो कि संसार-बन्धन से मुक्ति रूप अर्थ (प्रयोजन) है उसके बारे में भी नहीं सोच सकेगा, करना तो दूर रहा। और शरीर भी आलस्यादि या रोग आदि के कारण आसन-ध्यान आदि करने में ढ़ीला या उत्साह हीन ही रहेगा। और जो कुछ युक्ति या बुद्धियुक्त उत्तम कल्याण के मार्ग के लिये करने का है वह कुछ भी नहीं हो सकेगा। केवल यह व्यक्ति अपने जीवन का समय ही ऐसे ढ़िलाई (प्रमाद) में व्यतीत करेगा। मैत्री आदि बलों का संग्रह करना; अपने व्यवहार को शुद्ध करना; इन्द्रियों और शरीर को वश में करके अपना कल्याण का मार्ग शोधना इत्यादि कुछ भी नहीं बन पायेगा। ऐसा व्यक्ति पुनः दुःख पड़ने पर व्यर्थ की सोचों में पड़ा-पड़ा शोक ही करेगा; और ऐसे ही सारा जीवन गँवायेगा क्योंकि थोड़ी सी व्यर्थ की इच्छाओं को पूरा करने के सुख के लोभ से कल्याण का उत्तम मार्ग तो चल न सकेगा।

आसन पै बैठे कुत्सित स्थिति से देह बचाय,
उसमें जो होवे दुःख तो, इसी में भी मन जमाये।
न चाहने पर भी मन के, दे कुछ तो समय निकाल,
मन की पहचान खुल गई, तो होगा नौनिहाल।।

। ८६ ।

卐卐

गत पद्य में खान-पान में विचारवान् होने की आवश्यकता बतलाई गई। अब इस पद्य में एकान्त में दृढ़ आसन पर स्थिर होने का निर्देश (इशारा) है।

जो मनुष्य अल्प भी दुःख में भीरु (डरने वाला) है, उसको मन यत्न से होने वाले साधन में नहीं लगने देता। मनुष्य को अपने बचपन या बालपन के आरामों का राग है। जैसे उसे अच्छा लगता है वह पीठ टेक कर भी बैठता है; स्थान अनुकूल मिले तो लेट भी जाता है। इस प्रकार अपनी कार्यव्यस्तता (काम करने की दशा) से अन्य समय में भी ढीले ढाले रह कर आराम में ही समय व्यतीत करता है। वैसी ही उसे आदत पड़ गई है। निद्रा के घण्टों को छोड़ कर मनुष्य को ऐसी ढीले-ढाले रहने की कुत्सित (खोटी) स्थिति से अपने को बचा कर रीढ़ की हड्डी सीधी रख कर बैठने की आदत डालनी चाहिये। अन्य सभी आलस्य और आराम की ढीली-ढाली स्थितियों से अपनी देह को बचाये रखना चाहिये।

यह सही है कि लम्बे समय की ढीली स्थिति की आदत उसे अपने आप को कस करके दृढ़ आसन पर एकदम तो बैठने नहीं देगी क्योंकि वह ढीली स्थिति वाला मन उसमें दुःख मानेगा। ऐसी अवस्था में बीमार या रोगी पुरुष के समान उस दृढ़ आसन पर बैठने के दुःख को ही देखता-देखता उसी में मन जमाये। उस दुःख को स्मृति और मन की उपस्थिति रख कर देखता जाये। रोग से पीड़ित जन भी तो अपनी पीड़ा को सहन करते हुए ही अपना समय व्यतीत करता है। यद्यपि दुःख का क्षण भी

व्यतीत करने में लम्बा होता है परन्तु साधना के महत्त्व से कुछ समय तो दुःख को देखते-देखते व्यतीत कर ही दे।

यदि यह अपना दुःख देखना किसी को आ गया अर्थात् बाहर जगत् को जानने के लिये लपका मन अपने अन्दर के दुःख जैसे सत्यों को समझने में जाग गया तो ध्यान बाहर से हट कर अन्दर आने पर अपनी आत्मा पर पड़ा पर्दा हटने लग जायेगा। अन्दर की ओर समझ मुड़ने पर मन बाहर से मुक्त भी हो जायेगा। मन एक समय एक ओर ही रह सकता है; चाहे अन्दर की जाने या बाहर की। बाहर से समझ हटा लेने पर इसे एक दिन सुख-स्वरूप आत्मा का भी पूर्ण ज्ञान हो जायेगा। यही नौनिहाल होना है। इससे सब प्रकार का उत्तम फल प्राप्त होगा। परन्तु पहले दुःख में ही ध्यान डटाना पड़ेगा; इसी में आँखें खोलनी पड़ेंगी।

मन की तरंग है क्षणिक, क्षण-क्षण बदलती जाय,
दुःख में अधीर जन, न दृष्टि परन्तु इसकी पाय।
इसकी पहचान, शब्द ज्ञान बूझे, मन का खेल,
रम जाये ध्यान इसमें, सीखे दुःख जाना झेल।।

। ८७ ।

गत पद्य में आसन ध्यान में बैठने के दुःख को सहन करने के बारे में बतलाया गया। इस पद्य में दुःख में स्थिर रहने के लिये थोड़ा मन के स्वभाव को भी विचार में रखने का विचार प्रकट किया गया है जिससे कि दुःख में भी स्थिर रहने का धैर्य रूप बल प्राप्त होता है।

पद्यार्थ :- मन की प्रत्येक तरंग जल में लहर के समान केवल एक क्षण भर ही टिकने वाली होती है । यदि यह

卐卐

तरंग बहती हुई पर्याप्त (काफी) समय तक दीखती है तो उसके समान वह दूसरी तरंग होगी, पहली नहीं; पहली जो उत्पन्न हुई वह नष्ट हो गई; दूसरी भी वैसे ही। इस प्रकार उन तरंगों की परम्परा (एक के बाद दूसरी) थोड़ा समय वह कर अन्त में जैसे जल शान्त होता है वैसे ही मन भी शान्त हो जाता है।

दुःख की भी ऐसे ही तंरग के पश्चात् तरंग मन में उठती रहती है। दुःख में भीरु (डरपोक) मनुष्य दुःख में धैर्य न रख सकने के कारण इस प्रकार दुःख की प्रत्येक क्षण बदलती हुई अवस्था को नहीं पहचान सकता। उसका तो यही भाव रहता है कि कब दुःख मिटे। केवल कामना से ग्रसित हुआ दुर्बल मन दुःख में बुद्धि या विचार शक्ति खो जाने के कारण दुःख को झटपट टालने के लिये आदत के मार्ग को ही अपना बैठता है। यदि धैर्य से मन के क्षणिक स्वभाव को समझ कर इस दुःख के वेदन् (महसूस करने) में समझने की शक्ति रूप बुद्धि बनाये रखे तो उसे मन की क्षण-क्षण में बदलने के स्वभाव की पहचान हो जायेगी। वह स्वयं समझेगा कि दुःख तो अपने आप क्षण-क्षण में टलता जा रहा है। थोड़ा शब्द बोल-बोल कर अपने मन में विचार उत्पन्न करके मन को समझाता जाये कि इस दुःख का क्या कारण है ? यह क्यों हो रहा है ? तो उसे स्वयं अपने सारे मन का खेल या लीला बूझने या जानने में आ जायेगी। कहीं कोई राग की वस्तु के न प्राप्त होने का दुःख होगा; कहीं मान आदर न मिलने का दुःख होगा; कहीं किसी से दुःख का व्यवहार हो जाने से दुःख होगा और मन

गाँठ बनाये बैठा होगा। और मन की तृष्णा भी अपने ही ढंग की होगी। यही सब शब्द बोल-बोल कर अपने मन में विचार जगाने से मन का खेल समझ में आयेगा।

यदि इस प्रकार मन का क्षणिक स्वभाव देखने तथा पहचानने में बुद्धि एकाग्र हो गई और वैसे ही शब्द द्वारा बोल-बोल कर मन का खेल अपने आप में कोई मुमुक्षु पुरुष समझने लग गया तो इस प्रकार एक ओर विवेक जाग कर और दूसरी ओर ध्यान की एकाग्रता में मन लग जाने से दुःख के समय को आराम के साथ व्यतीत करने में सहायता या सुविधा होगी जिससे कि ध्यान में सारा भव जाल कट जाने का मार्ग विशुद्ध होगा।

प्रत्यक्ष इच्छा को थोड़ी देर रोके रखने से जो दुःख होगा उससे मन अधीर होगा। इस दुःख को थोड़ा-थोड़ा सहने का अभ्यास बनाये रखने से दुःख में धैर्य बनाये रखने का अभ्यास होगा। इसी से दुःख में मन का टिकाव रहेगा, बुद्धि बनी रहेगी तथा ज्ञान उत्पन्न होगा। इसलिये इच्छा को भी रोक-रोक कर युक्ति युक्त या उचित मात्रा में ही पूर्ण करना चाहिये। इससे अनुचित इच्छा के रोकने से जो दुःख होता है उसे सहन करने का अभ्यास या आदत बन जायेगी। इससे मन शनैः-शनैः बड़े-बड़े दुःखों को सहन करने का भी बल समय पाकर प्राप्त कर जायेगा। उनमें भी स्मृति या बुद्धि बनी रहेगी। स्मृति या मनुष्यत्व बुद्धि का बना रहना ही मानवता का धन है। यही दुर्गति से बचाने वाली है।

कैसे-कैसे खाने खाये,
मन वहीं का वहीं।
भोगों की बीमारी देखो;
है कितनी घनी।। । ८८ ।

पिछले कई एक पद्यों का तात्पर्य इसी में था कि मनुष्य जैसे अपने सांसारिक धन्धे की सफलता के लिये, या भोगों को पाने के लिये ध्यान करता है और बाह्य शब्द (आवाज़) का कितना भी विक्षेप हो वह अपना ध्यान हर अवस्था में बनाये रखता है। इसी प्रकार मोक्ष मार्ग पर चलने वाले मनुष्य को दुःख का ध्यान करना चाहिये। दुःख के ध्यान से यहाँ यह तात्पर्य है कि जब मन अपने में दुःख का अनुभव करे तो उसी दुःख को समझने तथा उसी दुःख के कारण को पहचानने के लिए दुःख की टिकी हुई अवस्था में मन को जमा कर समझने का प्रयास किया जाये कि दुःख किस कारण से है ? तथा जिस प्रकार दुःख से बचने के लिये आदत वाला मन जिधर ले जाता है उससे कहीं अधिक दुःख तो नहीं बढ़ेगा ? इत्यादि सब अन्दर के सत्य समझने के लिये दुःख को मन की दृष्टि (नज़र) के सामने रखे। मन यदि निद्रा, आलस्य में खोना चाहे तो उसे भी उचित मात्रा में रोक कर मन को जागता रखे और दुःख के बारे में सब कुछ समझने के लिये दुःख में दृष्टि जमाये रखे और समझने का भी यत्न बनाये रखे। यही सब दुःख का ध्यान है। इसी तात्पर्य से दुःख में ध्यान बतलाया है। आवश्यकताओं को कम करके जीवन की नाव खेवने में एकान्त में जब मनुष्य अपने आप को दुःखी देखे, तब आसन पर बैठ कर इस दुःख को देखने या इसमें दृष्टि

जमाने से उसे परमार्थ का पूर्ण ज्ञान पाने का मार्ग खुलेगा। निद्रा का थोड़ा बन्धन भी त्याग कर उसके सुख को क्षण-क्षण त्यागता हुआ अपने मन को पूर्ण जाग्रत करके दु:ख को देखने में लगाये रखे। यदि दु:ख में मन धैर्य खोने लगे और पुनः सुख के स्थानों की या उपायों की याद लाकर दु:ख में दृष्टि जमाये रखने में विघ्न करे तो वही भाव बनाये जो पिछले पद्य में दर्शाया गया था कि दु:ख से मैं परेशान (क्लेश-युक्त) क्यों होऊँ ? दु:ख तो क्षण-क्षण अपने आप टलता जा रहा है; क्योंकि चञ्चल मन क्षण-क्षण बदलता जाता है। जैसा एक क्षण में दीखता है वैसा अगले क्षण नहीं रहता। इस प्रकार क्षण-क्षण दु:ख भी अपने आप ही टलता जा रहा है; मैं केवल तीक्ष्ण दृष्टि (नज़र) खोल कर इस क्षण-क्षण बदलते मन को पहचानूं। जब इस भाव से मन ध्यान में रम गया तो संसार भूल जायेगा। मन एक तरफ ही रहेगा। जब मन दु:ख-दर्शन में लग गया तो संसार दर्शन बन्द हो गया। इस प्रकार जब मन की समझ अन्दर के सत्यों को पहचानने लगेगी तब इस दु:ख के कारण खोज करने पर सुख का राग, दु:ख से द्वेष और मान, मोह, संशय आदि ही दीखेंगे। यह सब बन्धन जगत् की तृष्णा के या संसार में ही होने के हैं; अपने आप में या आत्मा में होने के नहीं। जब यह सत्य मनुष्य पहचानेगा तब भव की तृष्णा को ही छोड़ना चाहेगा। इसी संसार की तृष्णा के त्यागने के लिये आगे के तीन पद्य प्रेरणा देते हैं। इसी से ही संसार में होने या बने रहने की तृष्णा से विमुक्ति होगी। तभी आत्म सुख प्राप्त होगा।

卐卐卐

शब्दार्थ :- कैसे-कैसे संसार में खाने खाये; खाने का तात्पर्य यहाँ यह है कि क्या-क्या इन्द्रियों के भोग भोगे परन्तु उनकी भूख नहीं मिटी। मन वहीं का वहीं रहा अर्थात् इन्हीं की तृष्णा वाला भूखा का भूखा ही रहा। हे मुमुक्षु ! तुम इस भोगों की व्याधि को अपने ध्यान में पहचानो कि यह कितनी घनी है, कितनी बल वाली है कि शीघ्र मिटने की नहीं। और ज्यों-ज्यों इस भूख रूपी व्याधि को उसके भोग या तृष्णा के भोग दे-दे कर कुछ समय के लिये मिटाते रहोगे तो यह और भी तीक्ष्ण होकर यहाँ तक भोगों का दास मनुष्य को बना देगी कि एक दिन रोगों की उत्पत्ति हो जायेगी और उससे अधिक भोगों का सेवन और उनका सुख तो दूर रहा प्रत्युत् (विपरीत इसके) थोड़ा सा भोगों का सुख भी रोगों की पीड़ा से बचने के लिये त्यागना पड़ेगा। ऐसा सब ज्ञान दुःख के ध्यान द्वारा मनुष्य को अपने में उपजा कर अपने आप को अपनी ही समझ में प्रेरित करना है; और अपने आप को उत्साहित करके सब असंयम (बेकाबूपन) को छोड़कर पूर्णतया संयम (काबू में रहने) का दुःख देखने तथा समझने के लिये तैयार करना है। भलाई अपनी, वह भी जो सदा बनी रहने वाली है, उसी पर दृष्टि रखनी है और अपने आप को सही रूप से प्रेरित तथा उत्साहित (उत्साह-युक्त) करते रहना है।

कितना अधिक खाना खाया,
भूख फिर भी है तनी।
तृष्णा की व्याधि परखो;
है कैसी सुघनी।। ! ८६ ।

पिछले पद्य में यह दर्शाया गया था कि कितने प्रकार के भोग भोगने पर भी उनकी भूख या तृष्णा की भूखी देवी तृप्त नहीं हुई। अब इस पद्य में यह बतलाया जा रहा है कि वे भोग भोगे भी मन भर कर, अर्थात् मात्रा में भी बहुत अधिक, तब भी तृष्णा भरी नहीं, तृप्त नहीं हुई जैसे कि कई एक प्रकार के भोजन भी हों, और पुनः प्रत्येक भोजन की वस्तु मन भर खाई भी जाये, तब भी भूख की बीमारी न टले तो इसी प्रकार इन दो पद्यों में दर्शाया गया है कि भोग भी जगत के बहुत प्रकार के, और भोगे भी गये खूब बढ़-चढ़ कर; तब भी तृष्णा भूखी की भूखी ही रही। तो यही है संसार में होने की तृष्णा की बीमारी जो बहुत बल पकड़ गई है। इसको ध्यान में दुःख उत्पन्न करती देखकर इसको और इसके रोकने के दुःख को विवेक विचार द्वारा सहन करते-करते ही क्षण-क्षण टालने का अभ्यास करना चाहिये, न कि जब-जब तृष्णा भोग की इच्छा उत्पन्न करे तब-तब भोगों के पदार्थों को मन भर सेवन करने से इसे (तृष्णा को) थोड़ी देर के लिये टालने की नीति अपनाये। ऐसा करने से यह भूखी देवी (तृष्णा) और भी भड़केगी। जल्दी रोगों को बुलायेगी। धैर्य को धारण करने का प्रकार या रास्ता यही है कि यह परमात्मा का विधान ऐसा कृपा पूर्ण है कि मन की एक जैसी दशा कभी भी लम्बे समय तक नहीं रहती, बस धैर्य की आवश्यकता है। मन अवश्य बदलते-बदलते दुःख के स्थान पर सुख रूप में भी समय पाकर आ ही जायेगा और जब दुःख की जड़ या कारण यही बढ़ी तृष्णा की बीमारी, दृष्टि (निगाह या नज़र) में आ

जायेगी अर्थात् पहचानी जायेगी तो इसकी भी बदलती हुई हालतों को देखते-देखते टाल कर इससे मुक्ति के सुख को अनुभव किया जायेगा। बदलते-बदलते जब मन निद्रा से इस तृष्णा के दुःख को मिटाना चाहे तो दोष वाली उस निद्रा के सुख का लोभ भी त्यागते हुए क्षण-क्षण जागते रहने पर सुख समाधि प्राप्त होगी, परन्तु तृष्णा की बीमारी परखनी चाहिये। तब तृष्णा को त्यागने की पूर्ण प्रेरणा मनुष्य को मिलती है और उत्साह भी होता है।

पद्यार्थ :- कितना भी मन भर कर अधिक भोजन खाया, अर्थात् प्रत्येक भोग भोगा परन्तु उसकी भूख फिर वैसे ही तनाव उत्पन्न करती रहती है। हे मुमुक्षु पुरुष ! इसलिये तुम इन भोगों की संसार में होने की तृष्णा रूपी बीमारी को अपने दुःख के ध्यान के मार्ग से ही परखो अर्थात् पहचानो कि यह कितनी सुघनी है; कितनी बढ़ी है, कितना दुःख दे रही है। केवल सुख का तो इसका बहाना ही है। परिणाम में दुःख शोक ही मनुष्य के हाथ लगते हैं। पीछे तो इसका थोड़ा सुख भी नहीं रहता। संसार में वैर, विरोध इत्यादि सब ध्यान में पहचाने कि सब संघर्ष के दुःख इसके साथ हैं और मरने के पश्चात् दुर्गति तथा नरक यही दिलाती है।

स्थिर जो न रहने का कभी,
उसको बनाने से क्या।
जैसे भी जो दिन बीत गया;
उसे याद में लाने से क्या।। । ६० ।

अब इस पद्य में जिस बहाने से तृष्णा अपने सुखों में

भटका कर मनुष्य को छलती है वह बहाना केवल सुख की दृष्टि का ही है। ऐसी दृष्टि या नज़र बन जाती है कि किसी वस्तु का संग करने से सुख मिलेगा, केवल इस दृष्टि से ही मनुष्य प्रेरित होकर मिथ्या विश्वास से उधर ही चल पड़ता है। परिणाम (नतीजा) उसकी दृष्टि (निगाह) में नहीं होता, वह अज्ञान से ढका रहता है। यदि उसकी समझ हो जाये तो मनुष्य कभी भी उधर जाना नहीं चाहेगा।

थोड़े दुःख से भी बचने वाला मन अपनी इसी दुःख-भीरुता (डरपोकपन) से चलायमान होकर झट दूसरी दिशा में झाँकता है कि वहाँ दुःख से छुटकारा मिलेगा और सुख होगा। यह उसकी कल्पना में ही होता है। परन्तु उस समय उसे यह ज्ञान नहीं जागता कि जिधर तूँ दुःख टालने की आशा बांधे बैठा है वहाँ जाकर आगे क्या मिलेगा ? यदि वहाँ का ध्यान करे और पहचाने तो विवेक जागकर उसे उधर के भारी दुःख को दिखला देगा तब इधर अल्प दुःख समझ कर इसी त्यागने के दुःख में ही बना रहना चाहेगा। और यदि उधर दूसरी दिशा के सुख की लपक न रहे तो यह दुःख भी नहीं रहेगा। दुःख केवल अविद्या का ही है। यदि दुःख देखने में अर्थात् तृष्णा के दुःख को झाँकने में ज्ञान जाग गया अर्थात् दृष्टि (नज़र) खुल गई तो अब यही देखना ही समय पाकर सुख रूप भी हो जायेगा और अपने आप का ज्ञान अपने आप में ही प्रकट हो जायेगा। ज्ञान प्रकट नज़र आने लगेगा। इसका साक्षात्कार हो गया तो अविद्या या अज्ञान भी टल गया। इस प्रकार संसार में भागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और संसार के सब

भोग इकट्ठे करने में जीवन गँवाना न पड़ेगा। भव तृष्णा भी मिट जायेगी।

पद्यार्थ :- जो संसार के भोग और तृष्णा की वस्तुएं हैं उनका सुख क्षणिक ही है, बना रहने वाला तो है नहीं। जब ऐसा ही सत्य है तो उसको पुनः मिथ्या यत्न से बनाये रखने का प्रयास क्यों किया जाये। क्योंकि वह बना रह ही नहीं सकता। जब ऐसा ही सत्य है तो जो दिन जैसे भी व्यतीत हो गया सो ही ठीक है। उसको भी क्यों याद में बसाना, चाहे दुःख में बीता या सुख में। जैसे कि किसी के मन में यह विचार उठे कि मेरे पास धन नहीं था, मैने उसके बिना दुःख से ही दिन व्यतीत किये हैं; या कि किसी अन्य सांसारिक सुख के साधन के बिना दुःख में ही जीवन व्यतीत किया है और इसी का उसे शोक हो तो यह सही नहीं है। क्योंकि जिनके पास सब संसार की विभूति और सुखों का धन आदि सामग्री थी भी, तो उन्होंने भी तृष्णा का रोग ही बढ़ाया और दूसरे भोगों से रोग, शोक ही उनके हाथ लगे तो इससे उस बाह्य साधन विहीन और सांसारिक धन आदि साधनों वाले में क्या अन्तर हुआ। क्योंकि संसार में तो अन्त में दोनों एक ही जैसे दुःखी हैं।

इस सारे साधना पथ्य वर्ग का यही आशय या तात्पर्य है कि यदि आप बढ़ी-चढ़ी तृष्णा को नहीं रोक सकते तथा रोकने के दुःख से डरते हैं तो आप को इस तृष्णा के सब भोग देकर तथा इसे तृप्त करके तो दूसरों में ही बसे रहना पड़ेगा। एकान्त में तो पुनः आप जैसे के लिये रहना असम्भव होगा। दूसरों के संग में व्यर्थ की बातेंचीतें या

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

संसार के ही हालचालों की चर्चा होगी। एक दूसरे में सब अपने को मानी अधिक समझते हैं तब दूसरे को अपमान युक्त भी होना पड़ेगा। संघर्ष, वैर और द्वेष आदि की अग्नि में जलना भी पड़ेगा। मतलब कुछ है नहीं। एकान्त में अपने आप में समय व्यतीत करने की युक्ति न हो सकने के कारण दूसरों की शरण लेनी पड़ती है और उनमें क्या का क्या कुछ होना पड़ता है। रागी, द्वेषी, मानी, मूर्ख, बुद्धिमान इत्यादि क्या-क्या भी होने का कहीं अन्त ही नहीं मिलता। जैसे आप कुछ का कुछ होवोगे दूसरे भी वैसे ही होने के चक्र में हैं; तो यही सब होने का समुद्र भव-सागर के नाम से शास्त्रों में बतलाया गया है। मरने के साथ-साथ दूसरे बिछुड़ जाने पर यह समझ का होना तो रुक जायेगा। तब जीव दुःख और मोह की निद्रा में खोया-खोया पुनः स्वप्न जैसे कर्मानुसार पुनः दूसरा जगत् देखेगा। यह सब बड़ा दुःख है जो मनुष्य को स्वयं परखना है। इसका सरल उपाय यही है कि बढ़ी हुई तृष्णा को थोड़ा कम तृप्त करके एकान्त में बैठकर उसके दुःख को देखता-देखता समय व्यतीत करना सीखे। इससे दूसरों के बन्धन और उनमें होने के दुःख से छुटकारा मिलने का मार्ग खुलेगा।

ॐ इति साधना पथ्य वर्ग ॐ


ध्यानोपासना काण्ड

卐卐

卐 अथ सम्यक् दृष्टि वर्ग 卐

आत्मा है आपो आपा, करो न देह में मान,
नहीं करण, मन, बुद्धि आदि, इसे अनन्त पहचान।
फिर कर्मों को अपने देखे; शुभाशुभ कौन कराये ;
उसी को अन्य सभी में देखे, सद्‌गुरु मन में बसाये।।
। ६१ ।

पिछले पद्यों में यही सूचित किया गया था कि सब दुःखों की जड़ (मूल) संसार में होने की तृष्णा ही है। जगत् में ही बने रहने का या होने का भाव और खींच ही इस तृष्णा का स्वरूप है। जगत् के प्राणी व पदार्थों का सम्बन्ध छूटते ही मनुष्य अपने को अपने आप में मृतक जैसा पाता है। जब संसार की वस्तुओं का संग मिलता है तो वह अपने आपको बसा पाता है। जैसे कि इच्छा की वस्तु मिल गई तो मनुष्य उस वस्तु के सम्बन्ध का सुख पाकर कहता है कि 'अब मेरा मन ठिकाने हुआ' और 'अब मैं अपने आप में आया', नहीं तो खोया-खोया ही अपने आप में संवेदित (महसूस) करता है; तो इस प्रकार वह संसार में ही होने के साथ बंधा है। कभी भी कोई अपने आप के न होने को सहन नहीं करता; मिटना कोई भी नहीं चाहता। यही सब संसार की तृष्णा 'भव तृष्णा' के नाम से कही गई है। इस सब तृष्णा से छूटे बिना दुःखों से मुक्ति पाना असम्भव है। तृष्णा की वस्तुएं न मिलने का ही दुःख है और न मिलना ही एक रह जायेगा। मिलने की योग्यता दिनों-दिन न्यून (कम) होती जाती है।

卐卐

अब यह पद्य इस सत्य को दर्शा रहा है कि जो तृष्णा पूरी होने पर 'मैं' या 'आत्मा' (आपो आपा) मिलता है, वह तो झूठा है। मनुष्य को अपने आप में अनन्त (अन्त या विनाश रहित) अपना आपा (आत्मा) पहचानना चाहिये। इस अनन्त आत्मा को पाने पर पुनः यह कभी भी संसार की तृष्णा के भोगों से मिलने वाले अल्प काल के आत्मा (अपने आपे) के लिये यत्न नहीं करेगा, और संसार में भी नहीं आयेगा; और न ही कभी संसार में होगा। जो संसार में या दूसरों के संग से आत्मा या आपा मिलता है वह तो मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जायेगा। इसलिये उसी का मोह ही पुनः संसार में जीव को लायेगा।

पद्यार्थ :- आत्मा शब्द का अर्थ है आपो आप, अपना आपा; जो कि अन्त रहित है। जैसे पानी की सदा बहने वाली धारा कहीं भी, कभी भी न टूटे तो यही अटूट जल धारा है। इसी के समान केवल हमारे ही ज्ञान का सतत् (लगातार) प्रवाह कभी भी नहीं टूटता तो इसे आत्मा (सतत्, लगातार बने रहने से) कहते हैं। इस क्षण-क्षण बदलने वाले देह को आत्मा मानना ठीक नहीं। वैसे ही करण (इन्द्रियों) को भी आत्मा समझना उचित नहीं, यह सब सदा बने रहने वाले नहीं। ऐसे ही संकल्प या चिन्तन आदि व्यापार वाला मन भी सदा नहीं रहता और निश्चय करने की शक्ति 'बुद्धि' भी इन सब के साथ गाढ़ निद्रा में कहीं नहीं दीख पड़ती। परन्तु ज्ञान स्वरूप से अपना आपा वहाँ भी उपस्थित ही है, जो प्रातः जागने पर निद्रा की शान्ति या सुख को बतलाता है। प्रातः या शयन से उठ कर

यह वार्ता दूसरों को कहता है कि 'मैं बड़े सुख शान्ति से सोया', 'मेरी सारी थकावट उतर गई', इत्यादि-इत्यादि वचन बोलता है। तब इसी आत्मा को पहचानने या साक्षात्कार में लाने का यत्न करे।

अब इसी आत्मा को जगत् के साथ बान्धने वाले हैं कर्म। इनके बारे में भी मनुष्य को जानना चाहिये कि कौन सी शक्ति (ताकत) जीव को कर्म-चक्र में डालती है। शुभ और अशुभ कर्मों को बल से करवा जाती है। जब मनुष्य अपने इस रजोगुण की या जगत् की तृष्णा को ही कर्म करवाने वाली अपने में प्रत्यक्ष पहचानेगा तो वही अन्य सब जीवों में भी बल से कर्म करवाने वाली समझेगा और सद्‌गुरु को मन में बसायेगा कि जिस प्रकार पूर्व के महापुरुष इस तृष्णा के पार पहुँचे हैं उसी प्रकार मैं भी वैसे ही मार्ग पर चल कर पार उतरूँ। यदि कोई दूसरा नहीं चल सकता तो इतने से उसी का अनुकरण (नकल) करके मैं अपनी मुक्ति का मार्ग क्यों रोकूँ। उनकी (न चल सकने वालों की) दुर्बलता को समझ कर उनके लिये उनके अपराधों में भी क्षमा रखे और दण्ड के भाव को मन में न लाये। अज्ञानी या कम समझ वाला जन प्रकृति के बन्धन और विकारों के प्रभाव में कई एक ऐसे कर्म भी कर जाता है जो कि उसके भविष्य के लिये अति दुःखदायी सिद्ध हों। परन्तु तत्क्षण की प्रकृति की प्रेरणा को वह अपने ज्ञान से या बुद्धि से न समझ सकने के कारण दूसरों को भी दुःखी कर जाता है। ऐसे अवसरों पर उस अज्ञानी या दुर्बल का अनुकरण करना उचित नहीं हैं। साधारण जन यह कहता

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

है कि 'यदि दूसरा हमारे सुख-दुःख को नहीं समझता तो हम भी क्यों क्षमा करें', इत्यादि-इत्यादि। परन्तु मोक्ष की इच्छा रखने वाले को यह नीति अपनानी सही नहीं; क्योंकि इसका तात्पर्य यह होगा कि यदि कोई डूबने जा रहा है तो हम भी साथ ही साथ डूबने की नीति अपनायें। इसका यही तात्पर्य होगा कि अज्ञानी और दुर्बल मन वाला जन ही आपके भविष्य का निर्णय करने वाला होगा। आपको ही अपना धर्म यत्न से बनाये रखना होगा। यद्यपि यह कटु सत्य है, परन्तु इसके बिना मुक्ति असम्भव है।

सद्‌गुण सारे आने लागें, हिम्मत कड़ी बसायें,
देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि, साधन में जुट जायें।
बिना निमित्त शमहित जो होवे, उसको देवे स्थान;
कैसे भी जो उलझन में फांसे, करे न उसका मान।।
। ६२ ।

सद्‌गुरु मन में बसाने पर उनका ही अनुकरण करते-करते सब श्रेष्ठ गुण जैसे वैराग्य, क्षमा, संतोष, दुःख में धैर्य, तप, त्याग इत्यादि जो भगवान् में पूर्ण रूप से बैठे हैं, मन में आने लगेंगे। परन्तु इसके लिये कड़ी हिम्मत अपनानी पड़ती है। संसार में उलझा प्राणी दूसरों से उत्तेजित (जोश में) होकर उन्हीं के समान चलने पर सुख मान बैठता है। यदि उस समय गुरुजनों को मन में रख कर बल वीर्य (कड़ी हिम्मत) युक्त जन हो तो वह काम, क्रोध, लोभ आदि को जीत कर सद्‌गुण मन में बसा पायेगा जिससे कि एक दिन भव (संसार में होने) से या तृष्णा से पार उतर कर नित्य अपना आपा रूप आत्मा को प्राप्त करेगा।

जब गुणों की भक्ति करने में मन जुड़ने लगे तो यह पुनः तभी धारण किये जा सकेंगे जबकि देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब वश में रखे जायें। इनका सही रूप से संयम रखा जाये, नहीं तो मन भड़क कर बुद्धि के विपरीत निश्चय करने पर देह इन्द्रियों को अशुभ कर्मों के चक्र में डाल देगा और बजाय संसार में भी सुख के उल्टा दुःख ही अधिक होगा। जब महापुरुषों की स्मृति और जीवनी मुमुक्षु की दृष्टि (निगाह) में रहेगी तो वह भी इन सब को साधन में जुटा देगा अर्थात् संयम में रहकर संसार में सब अशुभों से बचेगा।

जब मन सुख पाने को लपके तो उस समय बुद्धि द्वारा बिना किसी बाहर के निमित्त के जो अपने आप (आत्मा) में सुख है उसी को मन में स्थान दे; अर्थात् उसी के लिये यत्न करे और जो कोई बाहर के निमित्त से होने वाला विषयों का सुख है उसका मान न करे; क्योंकि वह बाहर का सुख देह, इन्द्रिय, मन आदि के जगत् में बदलती अवस्था में सदा एक जैसा कभी भी नहीं प्राप्त हो सकता। केवल वह सुख अपनी तृष्णा को बढ़ा जायेगा और उसी की पाश (फंदा) में डालने वाला होगा। इसलिये उसका मान न करे, उससे वैराग्य रखे, अपने को सम्भाले रखे और आत्मा के सुख का यत्न न छोड़े। आत्मा यदि तृष्णा के सब बन्धनों से मुक्त होगा या संसार की किसी भी वस्तु के बिना ही सुख स्वरूप से अनुभव में आयेगा तो पुनः संसार में आने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सुख के लिये या सुख वाला अपना आपा पाने के लिये ही जीव संसार में भटकता

है। यह जो केवल आत्मा का सुख है वह किसी बाहर सांसारिक विषय के संग से न होने से अनिमित्त सुख कहा जायेगा। बाहर संसार के सुख तो किसी न किसी निमित्त या वस्तु के सम्बन्ध से ही होते हैं। यह बिना किसी निमित्त के ही सुख रूप है।

वह दृष्टि कुदृष्टि लागे, या संग हो पाखण्ड,
ताके खण्डन हेतु कोई दूसरे हों प्रचण्ड।
जो साचा हित स्व का ही साधे, तामे दोष न होई;
बहि:स्वार्थ हित हो न अन्धा, द्वेष करे न कोई।।
। ६३ ।

बिना किसी बाहर के निमित्त के जो सुख शान्ति है वही परमपद स्वरूप सब बन्धनों से मोक्ष पाने पर अपनी आत्मा में प्राप्त होती है। उसी को मन में स्थान देना चाहिये। और जो बाहर की उलझन में फंसाये, जैसे कि अपने बाह्य सुख के लिये संघर्ष, वैर और मिथ्या कर्मादि, मिथ्या संग आदि, उन सब को मन से न माने; उनको मन में स्थान न दे; यह गत पद्य के अन्त में कहा गया है। यदि यही ऊपर कहे का प्रयोजन है तो प्रथम मनुष्य को अपनी मिथ्या दृष्टियों को समझ कर उनसे मुक्ति पानी होगी। यही इस पद्य का विषय है।

पद्यार्थ :- जो दृष्टि (नज़र) या मान जगत् बन्धन से मुक्त होने के मार्ग को रोके वही दृष्टि कुदृष्टि है। चाहे वह कोई भी हो। जिस दृष्टि (नज़र) को बनाने से अन्दर और बाहर मनुष्य को दो भिन्न प्रकार से रहना पड़े वही नज़र (दृष्टि) कुदृष्टि है अर्थात् मिथ्या या खोटी है और

उसी कुदृष्टि को रखकर पुनः मोक्ष या व्यापक ब्रह्म के साक्षात्कार की इच्छा करना पाखण्ड ही प्रतीत होगा। जब वह पाखण्ड दूसरों की दृष्टि में पड़ेगा तो उसकी निन्दा करते हुए दूसरे लोग भी उसके चलने के मार्ग का खण्डन करेंगे, उसके दोष बतायेंगे। जैसे कि शरीर के धारण करने की अल्प (थोड़ी) इच्छा या आवश्यकता को छोड़कर यदि कोई अपने मन की प्रसन्नता हेतु इन्द्रियों के अधिक सुखों को भी हितकर समझे और यह दृष्टि बनाये कि मन यदि प्रसन्न हुआ तो ध्यान, भजन और आसन पर भी आनन्द से लगेगा; तभी वह संसार से मुक्त होगा और बाह्य निमित्तों के साथ वह मोक्ष बतलाता हुआ दूसरों को अपने खण्डन हेतु प्रचण्ड करेगा। क्योंकि दूसरे सब अपने जीवन को देखते हुए समझते हैं कि इन बाह्य सुखों के साथ तो उलझन ही उलझन है। कई एक की दासता है; सुखों के हेतु कई एक का चिन्तन है तो पुनः यह संसार से मुक्त कैसे हुए ? ये तो हमारे जैसे ही बन्ध रहे हैं। इस प्रकार वह खण्डन करने के लिये बड़े तीव्र रहते हैं।

इसलिये बाह्य जगत् के सुखों का भार लाद कर भव सागर से पार उतरने की दृष्टि (नज़र) सही नहीं, मिथ्या (कुदृष्टि) ही होगी। इससे तो पुनः जगत् में ही उसके सुख के निमित्त संकल्प और काम, क्रोधादि उत्तेजनायें और ध्यान भटकते रहेंगे। संसार से मुक्ति पाकर आत्मा का आनन्द या शान्ति पाने की आशा कहाँ हो सकेगी ?

इसी ऊपर कहे गये का अर्थ यह है कि जो साचा (सत्य) हित अपना साधे; अर्थात् केवल सब बाह्य बन्धनों

से मुक्त आत्मा में ही शान्ति और सुख रूप सच्चे (सत्य) हित की ही साधना द्वारा खोज करे तो उसमें कोई दोष नहीं; कोई उसके लिये अंगुली उठाने वाला भी नहीं; खण्डन करने वाला भी नहीं। परन्तु इसके निमित्त (इस सत्य के हित सुख आत्मा के लिये) बाह्य जो इन्द्रियों के सुख का जगत् है उसके स्वार्थ के लिये किसी से राग, किसी से द्वेष, पुनः अन्य सब बन्धनों वाला होकर अपनी आत्मा की दृष्टि को बन्द न करे। उसमें यदि विचारहीन (अन्धा) नहीं हुआ तो कोई भी उसके कार्य में विघ्न करने वाला नहीं है। क्योंकि संघर्ष तो बाहर के सुख-दुःख के स्वार्थ के साथ ही है। सच्चे आत्मा में प्राप्त होने वाले अपने हित के साथ किसी का विरोध नहीं है।

इसलिये जब मन बाह्य जगत् की शोभन दृष्टि बनाये कि यह शुभ है; वह शुभ है अर्थात् विषयों वाले जगत् को बढ़िया दिखलाये तो इसे मिथ्या दृष्टि (कुदृष्टि) समझ कर मन से तुरन्त उतार दे; इसमें चाहे पहले-पहल दुःख का अनुभव भी क्यों न हो। जो मुक्ति के मार्ग को रोकने वाली धारणा या दृष्टि है वह सब मिथ्या ही है। अपनी दुर्बलता के कारण अपने को केवल छोटे-मोटे श्रद्धा मात्र के साधन या नियम पालन या भजन से ही कृत-कृत्य मानना या मन में विश्वास बनाना कि मैं इतने से ही परमपद प्राप्त कर लूँगा, आदि-आदि सब मिथ्या दृष्टि या कुदृष्टियों के ही रूप हैं। पूर्ण विवेक के साथ सारे संसार से वैराग्य तथा सब सांसारिक सुखों में दुःख दर्शन पूर्वक उनसे निवृत्ति करवाने वाला साधन ही सही साधन है। इसी की दृष्टि रख कर

卐卐

छोटे मोटे केवल संध्या-वन्दन या नियम-व्रत आदि से ही अपने आप को कल्याण पाने वाला न समझ बैठे। वह मिथ्या दृष्टि या नज़र ही होगी। यद्यपि नियम, व्रत आदि पुण्य कर्म अवश्य हैं परन्तु इतने मात्र से ही आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा की प्राप्ति के लिये पूर्ण उद्योग की दृष्टि बनाये रखे और उत्साह हीन न हो। विवेक, वैराग्य, विचार आदि के लिये सब उत्तम धर्म को अपनाये।

बहिः चर्या मलीन, बोले धर्म प्रवीण,
निन्दे कर्मों को चीन, नहीं जग बुद्धिहीन है।
हृदय स्वार्थ को बसाय, ता हित मत को तनाय;
व्यापक सत्य को न भाय, नया मत भी बनाय है।
होवे स्वार्थों का द्वन्द, करें सो जो पड़े फन्द;
नहिं सत्य को पसन्द, पावे खोटा या में छन्द है।
यामें भला, ताका मान, उसमें हो पुनः सत्य को स्थान;
सब इसी को सुन्दर जान, माने इसमें ही कल्याण है।।
। ६४ ।

गत पद्य में दर्शाये गये कुदृष्टि वाले जन के बाहर जगत् में ही जीवन का चित्र इस पद्य में दर्शाया गया है और अन्त में स्वच्छ, अल्प इच्छा वाला, संघर्ष, वैर आदि से रहित जीवन ही सत्य शिव सुन्दर रूप में बतलाया गया है।

पद्यार्थ :- जो जन बाह्य सुखों को शुभ समझता है वह वैसी ही दृष्टि (नज़र) वाला है। उसकी बाहर की चर्या राग, द्वेष, संशय, भय, मान, मोह आदि मलों (मैलों या बन्धनों) वाली ही होगी। तब इन मलों (मैलों) को रखते हुए यदि धर्म के आचरण करने में प्रवीण (कुशल) पुरुषों के

वचन वह बोलेगा तो जगत् में दूसरे जन उसके शिथिल भोगों के कर्मों को देखकर तथा पहचानकर उसकी निन्दा ही करेंगे। क्योंकि सर्वव्यापक पुरुष नारायण स्वरूप, सत्त्व गुण या बुद्धि-प्रधान भी तो जगत् में सब मनुष्यों में बैठा है। वह कैसा कौन व्यक्ति है, उसे पहचानता है। एक में नहीं तो दूसरे में पहचानेगा।

यदि कोई चतुर व्यक्ति हृदय में बाह्य स्वार्थों को बसा-कर पूर्वज श्रेष्ठ पुरुषों के वचनों को दूसरों को बतलायेगा तो भी उसमें उन वचनों को अपने मत के अनुसार ही तनाव द्वारा प्रतिपादन करेगा अर्थात् अपने ढंग के अनुसार ही सही बतलायेगा। उनको अपनी जीवनचर्या, भले वह मलिन ही क्यों न हो, उसी (रहनी) के अनुसार ही सिद्ध करना चाहेगा। परन्तु यह सब मत सर्वव्यापक (व्यापक रूप से) प्रत्येक या सरल स्वभाव वाले व्यक्ति के मन को भाने वाला सादा जो सत्य है, उसको कभी भी नहीं जचेगा अर्थात् सरल या सादा समझ में आने वाला उसका मत नहीं होगा। इसलिये वह अपने बाह्य स्वार्थ हेतु नया ही मत चलायेगा। सनातन या पुरानी परम्परा वाला इसमें कुछ भी नहीं होगा। सरल सादा मार्ग तो सब की समझ में आराम से सही प्रतीत हो जायेगा। जब कोई मत नया जैसा ही रचायेगा तो इसमें खींचातानी के साथ स्वार्थों का ही द्वन्द्व होगा। जहाँ दो कां भाव हुआ वहाँ खटपट भी अवश्य है, उसमें आत्मा की शान्ति कहाँ। जो इन स्वार्थों के फन्दे में पड़ेगा उसे दूसरों का खण्डन और अपना मण्डन (समर्थन) करना ही पड़ेगा, परन्तु यह सब सत्य को पसन्द

नहीं; सत्य के साथ मेल नहीं खाता। क्योंकि इसमें जगत् के स्वार्थ का खोटा इरादा (छन्द) अर्थात् खोटा अभिप्राय है। जगत् के सुखों की चाहना के साथ जगत् की उलझन सब को दीखती है। उलझन के साथ आत्मा का सुख और शान्ति कहाँ मिलने की ?

इसलिये इन सब को खुली आँखों जगत् में देखकर मनुष्य को चाहिये कि जिसमें उसका भला (अन्तिम भला) हो, उसी को माने अर्थात् उसी को मन में स्थान दे। उसी में ही सत्य का स्थान है अर्थात् सत्य भी वही समझा जाएगा; क्योंकि वही स्थिर या टिका रह सकता है। बिना बाहर के निमित्त के आत्मा की शान्ति और सुख को छोड़कर बना रहने वाला दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिये यही सत्य है। सदा रहने वाले को ही सत्य कहते हैं।

पुनः यही सब के मन को भी भायेगा, सुन्दर लगेगा, क्योंकि इसमें कोई संघर्ष, वैर, विरोध आदि दूसरों को दुःखी करने वाला नहीं है और अन्त में शिव रूप भी यही है। इसी में कल्याण माना जायेगा। अपने आप में ही सब बन्धन और दुःख समाप्त होने पर जो सुख शान्ति प्राप्त होगी इससे परे और कल्याण रूप में समझा जाने वाला क्या कुछ हो सकता है ? इसीलिये यही कल्याण या शिव स्वरूप माना जायेगा। शिव नाम सदा बने रहने वाले भले का है।

इसलिये सब बाह्य जगत् की शोभन (बढ़िया) लगने वाली दृष्टियां कुदृष्टियां ही हैं। उनके संग बाह्य मित्र, वैरी, राग, द्वेष आदि ही बने रहते हैं। तब जगत् का बन्धन

समाप्त नहीं होता। उसकी समाप्ति के बिना आत्मा की शान्ति और सुख प्राप्त भी नहीं होते। इसलिये इन मिथ्या दृष्टियों को मन में स्थान न देकर इनसे विपरीत बाह्य जगत् में सुखों को दुःखदायी जान कर इनसे वैराग्य प्राप्त करे। तब सच्चा भला साधने में आयेगा।

सही पहुँचा जो न निवृत्ति के द्वार,
निज की निर्बलता से हुआ सो ख्वार।
ताकी मति कोरी मतों में रुल जाये;
न शुभ सब कर्म करने की मति पाये।। ।६५।

गत दो पद्यों में कुदृष्टि अर्थात् मिथ्या दृष्टि या दृष्टिकोण त्यागकर सही दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा दी गई थी। बाह्य भोगों में ही मनुष्य का हित सुख है, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। इन भोगों से अन्त में वह दुःख प्राप्त होता है जो कि कभी भी समाप्त नहीं होता, रो-रो कर भुगतना पड़ता है, यही सही दृष्टि (सुदृष्टि) या दृष्टिकोण है। इसे अपनाकर मनुष्य को इन भोगों से शनैः-शनैः क्रम से (धीरे-धीरे) निवृत्त (टलने वाला) होना चाहिये। इसी वार्ता को यह आगे के दो पद्य दर्शाते हैं।

पद्यार्थ :- जो मनुष्य सही ढंग से भोगों से टलने के द्वार तक नहीं पहुँचा वह अपनी मन की दुर्बलता के कारण एक दिन अवश्य ही सही मार्ग से विचलित होकर विपरीत दुःखों के मार्ग पर भटका और खोया रहेगा, उसे उससे निकलने का मार्ग भी नहीं मिलेगा। यही 'ख्वार' शब्द का तात्पर्य है।

पुनः अपनी मानस दुर्बलता के कारण वह कई एक

प्रकार के अन्य मतों या मान्यताओं में ही रुला रहेगा क्योंकि मन में होने वाले संशय और भय आदि को हटाने के लिये कोई सहारा तो लेना ही पड़ेगा; तब उसे अपनी बुद्धि या मन की भोगमय जीवन में होने वाली शंकाओं और भय आदि को निवृत्त करने के लिये आस्तिक नास्तिक ढंग के कई एक मतों में भी विश्वास रखना पड़ेगा। परन्तु उसकी भोगों के दुःख को समझ कर और उत्तम श्रद्धा रखकर इनसे मुक्ति पाने के हेतु इन्द्रियों का संयम और ध्यान, विचार और ज्ञान आदि के उत्तम कर्म की मति या बुद्धि नहीं बन पायेगी। तब तक वह संसार में ही विवश होकर रुलता या भटकता रहेगा।

जिसमें दीखे सुख निश्चय, वही मन को भाये,
उसी के ही हेतु, मन के पीछे-पीछे धाये।
मन न चाहे फिर भी टलना यह जो हरि का द्वार,
दुःख में जो सम्यक् दृष्टि राखे, ताको दीखे सार।।

।६६।

मन की दुर्बलता ही मोक्ष मार्ग में मनुष्य की निर्बलता है। गत पद्य में दर्शाया गया कि इस निर्बलता से ही मनुष्य संसार में भटक रहा है। इस पद्य में इसी निर्बलता और उससे छूटने की प्रेरणा दी गई है।

पद्यार्थ :- इस जगत् में जन्म कर प्राणी जिस-जिस वस्तु या प्राणी के संग से सुख पाता है, या उसका दुःख से छुटकारा होता है और जिससे भी सुख मिलता है, तो निश्चय करके वही-वही प्राणी या पदार्थ उसके मन में बसे रहते हैं; वही मन में चक्र काटते रहते हैं; अर्थात् उन्हीं की

मिथ्या यादें (स्मृतियां) आती रहती हैं। यही सब मन को भाते हैं, अच्छे लगते हैं। यही राग का बन्धन है।

इसी राग बन्धन के कारण जीव (प्राणी) बुद्धि युक्त होता हुआ भी, विचार शक्ति रखता हुआ भी इसी सुखी भोगी मन के पीछे-पीछे भागने लग जाता है। परन्तु सामने का या प्रत्यक्ष का क्षणिक सुख इतने महत्त्व का तो है नहीं कि इसके लिये मनुष्य अपना भविष्य या सर्वस्व नाश कर बैठे और सदा दुःखों में रुलता रहे। इसलिये यदि विवेक अभी नहीं जागा तब भी मोक्ष शास्त्र में श्रद्धा रखकर मन यदि न भी चाहे, फिर भी इनमें नियम संयम को रखकर इन से हटने या टलने का अभ्यास करे। यही अन्त में पूर्ण रूप से अपने आप को जगत् जाल से हरने (खींचने) वाले हरि, भगवान् विष्णु का द्वार (दरवाज़ा) है। अर्थात् यदि यही भोगों से हटना रूप निवृत्ति आरम्भ हो गई तो द्वार तो मिल ही गया। अब जैसे-जैसे ध्यान, विचार, विवेक बढ़ते जायेंगे, सत्य प्रकट होता जायेगा तो एक दिन महापुरुषों द्वारा प्राप्त किया गया मोक्ष और ब्रह्ममय निर्वाण भी अपने में प्राप्त होगा।

परन्तु जहाँ तक भव सागर को तरने के लिये यात्रा यदि बढ़ानी है तो भोगों के त्यागने पर जब दुःख हो तो उसमें कुदृष्टि या मिथ्या दृष्टि न बनने पाये। सही दृष्टि (सम्यक् दृष्टि) रहे, तभी सार रूप परमपद दीखेगा। परन्तु होता क्या है कि जब सुखी भोगी मन को थोड़ा भी दुःख भोगों के त्यागने से हुआ तो उस दुःख को त्यागने के लिये झट मिथ्या या खोटी दृष्टि तो बनती है कि भोग ही ठीक हैं,

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

इनको बने ही रहना चाहिये, इत्यादि-इत्यादि। प्रत्येक ऐसी भोगों की इच्छा को थोड़ा समय भी रोक रखने का दुःख तो होगा। परन्तु उस दुःख में थोड़ा टिकाव प्राप्त करने का अभ्यास और बुद्धि शुद्ध रखना तथा मिथ्या दृष्टि न बनने देना, उसमें दोष भी न देखना, यही दृष्टि की शुद्धि है।

दो पद्यों का तात्पर्यार्थ :- इन दो पद्यों का तात्पर्य यह है कि जो भोगों से इन्द्रियों को बाहर का सुख मिला है और उससे प्रसन्न होकर मन संसार में आनन्द मान रहा है, उसके लिये एक दिन जब वे भोग नहीं मिलेंगे तो उसको उनके संग वाली अपनी आत्मा रूप 'मैं' भी नहीं दीखेगी। मीठी लगने वाली, भोगों की प्रसन्नता में आनन्द युक्त बाहर जगत् में खिली हुई उसकी अपना आपा रूप 'मैं' न मिलने पर अविद्या ही छायी रहेगी। उसका तृष्णा वाला मन चारों ओर लहरा रहे व्यापक जीव जगत् से तो खोया हुआ उस व्यापक या समष्टि (सर्वरूप) जीवन के सागर रूप (असंख्य जीवन धारण करने वाले व्यक्तियों का समुदाय रूप) परमात्मा की ओर तो झुक ही न सकेगा। केवल भोगों में बंधा हुआ, उन्हीं के सम्बन्ध वालों की स्मृति (याद) से दुःखी हो रहा छोटा सा बन कर अपने आप में खोया हुआ ही रहेगा। और वे सब मिलने के नहीं; क्योंकि वह जीव समय पाकर ऐसी ही अवस्था में पहुँच गया होता है जिसमें कि वह अपनेपन की पहले वाली प्रीति नहीं रहती, तब न यह उनकी तृष्णा छूटे और न उसे व्यापक जीवन रूप अनन्त परमात्मा सूझे। केवल पुरानी अपनों की याद या पुनः उनके बिना निद्रा, आलस्य यही उसमें अविद्या का

राज्य है जो कि भोगों वाली 'मैं' को छोड़कर केवल अनन्त ज्ञान तथा आनन्द रूप अपनी आत्मा नहीं सूझती।

यदि वह जीवन काल में ही इस तृष्णा को जीते, मोक्ष शास्त्र के अनुसार श्रद्धा करके प्रथम स्थूल विषय भोगों से संयम रखकर विवेक द्वारा इन विषयों तथा उनके सुख से निवृत्ति करे (हटे); तब शनैः-शनैः ध्यान के योग्य होकर विचार द्वारा इनकी तृष्णा को सूक्ष्म शरीर रूप इन्द्रियों और मन बुद्धि में बैठी हुई पहचाने। पुनः राग, द्वेष, संशय, मोह, मान आदि को पहचान कर त्यागे और अन्त में कारण शरीर रूप अज्ञान या अविद्या को भी पहचान कर छोड़ने का यत्न करे तब ही उसको परमपद की प्राप्ति होगी। जिस अवस्था में व्यापक रूप में आत्मा नहीं दीखता, यही अविद्या की दशा है। पूर्ण ज्ञान पाने के लिये कई एक अवस्थाओं को लाँघना पड़ेगा। पहले वह उस विषयों के सुख से टलने पर उस व्यापक जीवन (समष्टि) परमात्मा में श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा रम सकेगा। शनैः-शनैः व्यापक भावमय जगत् में सब के सुख में सुखी होकर ब्रह्मलोक का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। वैसे ही सत्य ज्ञान जगाकर ज्ञानमय या सत्त्वमय परमात्मा को पहचान कर इन भोगों वाली छोटी 'मैं' रूप अनात्मा के कलंक को समाप्त कर सकेगा। यही पुनः मुक्त होगा। यदि इस भोगों वाली एक, दो, चार व्यक्तियों के परिवार की संग-जन्य (संग से होने वाली) 'मैं' में ही कुदृष्टि रखेगा, इसी में ही भला मानेगा तो वह तो उसे पुनः सदा घेरे ही रहेगी, और यह जीव उस छोटी 'मैं' को ही लिये बैठा रहेगा। वहाँ जो समष्टि (सर्व-

स्वरूप) परमात्मा है उसमें तो इसकी इन्द्रियों और मन को वह बन्धन अग्रसर होने ही नहीं देगा। हम देखते हैं कि भोगी मन को भोग की सामग्री को छोड़कर दूसरों का हस्तक्षेप अच्छा नहीं लगता, तब वह अपने मन को एकान्त में छोटा होकर इसी में या अपनों में ही खोया रहता है। यही मन, जब अपने न होंगे, न उनसे होने वाला सुख ही हो पायेगा, परन्तु तब मन उन्हीं अपनों में बन्धा उनकी याद या संस्कारों में खोया हुआ व्यापक की ओर (दिशा) से अन्धा ही बना रहेगा। न भोगों वाला मन छूटे और न व्यापक का साक्षात्कार या जोड़ मेला ही हो, तो ऐसी अवस्था में पुनः अज्ञान में बना बसा हुआ जीव अपने ही स्वप्न में खो कर पुनः किसी पहले जैसे जगत् को ही रचेगा। यही उसका पुनर्जन्म दुःखमय सदा चलता ही रहेगा। ऐसे ही पुनः मृत्यु का भी चक्र।

इस ऊपर कहे गये का यही तात्पर्य है कि जैसे जीवन काल में ही हम देखें कि हमारा प्रिय साथी यदि हमारे समीप नहीं तो उसके सुख से विरहित मन उसकी याद में खोया रहता है और आसपास की आवाजें और सब भावयुक्त प्राणी, खेलते-कूदते उसको अच्छे नहीं लगते, क्योंकि उसका प्रिय व्यक्ति के संग का सुख खोया हुआ है। अब न तो वह व्यक्ति भूले और न उसके सुख के संग वाली 'मैं' छूटे और पुनः बाहर व्यापक जीवन में खेलते, कूदते बच्चे और उनकी बातचीतों में ही मन रमे । यही दुर्दशा सब जगत् जाल में बन्धे प्राणियों की है। इस जाल से छूटने के लिये यत्न जीवन काल में ही करना पड़ेगा। यह थोड़े

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

त्याग के दु:ख से ही होगा। तभी निवृत्ति का द्वार (दरवाजा) मिलेगा और उसके साथ-साथ हरि का द्वार भी प्राप्त होगा।

आसन टिके पर ध्यान डटे और सत्य के ज्ञान को पाये,
चेतन जागे पुनः ज्ञान को पाकर, बहु कुछ मन को सिखाये।
जो त्यागना चाहे न कोई, सो भी त्यागे, दे करन की शक्ति विशाल;
थोड़ा कुछ त्यागे, थोड़ा दु:ख झेले, दे बहु बड़ी उलझन भी टाल।।
। ६७ ।

गत तीन पद्यों का यह भाव था कि बाहर जगत् में यदि कुछ थोड़ा सुख प्रतीत हुआ या कि वहाँ की सामग्री से जीव कुछ अपना दु:ख भुला सका तो इसी कारण से इस अल्प सुख को दृष्टि में बसाये रखने वाला प्राणी संसार में ही इन्हीं वस्तुओं के संग में होना ही सही मान बैठता है और उसका विश्वास भी यही बन जाता है कि इनके बिना रहना असम्भव है। यही मिथ्या दृष्टि या कुदृष्टि है जो कि संसार से निकलने का यत्न भी मनुष्य को नहीं करने देती। ऐसा दृष्टिकोण सही नहीं है। इसके साथ संसार से पार उतरने के लिये उत्तम धर्म में या मोक्ष शास्त्र के मार्ग पर चलने की श्रद्धा न तो बनेगी ही और न टिकी (स्थिर) ही रह सकेगी।

अब यह उनसे आगे के दो पद्य इस दृष्टि (कुदृष्टि) को हटाने या नष्ट करने के लिये उपाय का निर्देश करते हैं और उस उपाय को उत्तम फल के साधन (साधने वाले) होने के कारण अपनाने के लिये प्रेरणा देते हैं।

पद्यार्थ :- मनुष्य जब अपने बाहर की सीमा में बद्ध धन्धों से या नित्य के कर्तव्य से अवकाश (फुरसत) ग्रहण करे तो वह एकान्त में अपने स्थिर, सीधे, सचेत, जागरूक

卐卐

आसन पर स्थिर हो (टिके) आलस्य (सुस्ती) त्यागे तथा संसार के ही चित्र न खींचे; न संशय, इच्छा, क्रोध में ही उलझा रहे। इन सब विघ्नों को जागता-जागता सचेत (होश में रहता हुआ) होकर टालता हुआ अपने ध्यान को स्थिर बनाये। जिन विषयों में सुख समझ कर ध्यान भटकता है उनको एकाग्रचित्त होकर विचार की दृष्टि में लाये और परीक्षा और खोज करे कि यह सुख विषयों का या बाह्य सफलता का कितनी मात्रा में है ? जब वह जागता हुआ इन विषयों के बाह्य सुख का चित्र अपने मन के सामने लायेगा और उसकी उलझन और दुःख को दूसरों में भी ध्यान में देखेगा तो उसे इसके बारे में सही या सत्य का ज्ञान होगा कि यह विषय का बाह्य सुख कैसा है ? कहाँ पहुँचाता है ? कितना महान दुःख इस में छिपा और बन्धा है जिसका अन्त बाहर जगत् में कभी भी नहीं हो सकता। ध्यान में यह सब उलझन दीखने पर मनुष्य में चेतना जागेगी। अर्थात् मनुष्य का मन अपने इस ज्ञान के अनुसार अपने लिये जगत् में सही प्रकार से कर्तव्य का निश्चय करने के लिये प्रेरित होगा और अज्ञान की निद्रा से जग जायेगा। तब बहुत कुछ वह मन को शिक्षा दे सकेगा। वही शिक्षा ऐसी होगी जिससे बहुत कुछ मन को अच्छा लगने वाला, जिसे मन नहीं त्यागना चाहता, उन सब को भी इस ध्यान के ज्ञान से चेतन मन त्याग देगा। उसे ज्ञान पाकर करने या त्यागने की विशाल शक्ति भी प्राप्त होगी।

जैसे कि पहले कई एक प्रकार से स्वाद सुख से लुब्ध (लुभाया हुआ) मन लवण, मधुर रस युक्त तथा घृत,

दूध आदि पुष्टि कारक पदार्थों को चाहपूर्वक ग्रहण करता है, परन्तु रोग आदि की दशा उपस्थित होने पर प्रत्यक्ष इन से विनाश का भय देखकर, इनका ज्ञान किसी के कहने पर या अपने अनुभव से पाकर पुनः त्याग के दुःख को स्वीकार करके भी त्याग ही देता है। बड़े दुःख से बचने के लिए छोटा दुःख स्वीकार करना कठिन प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार ध्यान द्वारा भोगों के दुःख को देखकर, तथा बाहर जगत् के उलझन वाले मन की दुर्दशा को अनुभव में लाकर त्यागने योग्य भोग, मनुष्य सब त्याग सकेगा। यही त्याग करने की शक्ति ध्यान, ज्ञान से विशाल रूप में प्राप्त होती है। और भी निद्रा आदि को उचित ढंग से जीत कर सब अच्छे कर्म करने की शक्ति और स्वच्छ मन से मैत्री आदि भावों को रचने की शक्ति भी प्राप्त होती है। केवल भोगी मन ही निर्बल होता है।

यदि यही बाहर की मिथ्या सुख वाली थोड़ी कुछ उलझन भी त्याग दी गई और उस त्यागने का थोड़ा दुःख हर्षपूर्वक स्वीकार कर लिया गया तो यह जगत की बहुत सी बढ़ी हुई उलझन को ही टाल देगा, नष्ट-भ्रष्ट कर देगा।

ज्ञान के संग दे भव से विरक्ति, आठों ही याम समाधि,
आत्मा में ही सदा रहने की युक्ति, बन्ध विमुक्ति बिनु व्याधि।
मैत्री आदि संग हो विश्व जो भावित, बाहर भी सफल बनाय;
पूत पवित्र निर्मल जीवन, सब के ही मन को भी भाय।।

। ६८ ।

पूर्व पद्य में प्रदर्शित ध्यान, ज्ञान से चेतन होकर सीखने (शिक्षा पाने) वाले मन की त्याग से जो उलझन शान्त होती

है, उसी की संसार में ही रहते-रहते मनुष्य को जो पूर्णता प्राप्त होती है, उसकी चर्चा यह पद्य करता है।

ज्ञान को साथ रखते हुए, संसार में ही अपना सुख पाने के लिये धँसे रहने से मनुष्य को वैराग्य प्राप्त होगा। यही भव से विरक्ति है। एक तो मनुष्य श्रद्धा से सुनकर या शास्त्र में पढ़कर, थोड़ा भोगमय जीवन से विरक्त (वैराग्य वाला) होता है। परन्तु यह वैराग्य दृढ़ नहीं है। क्योंकि अभी इस वैराग्य का फल मनुष्य के ध्यान में नहीं आया। केवल श्रद्धा से ही वैराग्य और भोगों का त्याग है। परन्तु यदि मनुष्य साथ-२ यह भी समझे कि इस भोगमय जीवन से किस-किस आपत्ति में वह उलझ कर मृत्यु जैसा दुःख पाता है तो यह वैराग्य मन के अन्दर से है। यही वैराग्य, ज्ञान या दर्शन के साथ है। यही वैराग्य दृढ़ है। यह वैराग्य ध्यान से ज्ञान को आसन पर पाने वाला व्यक्ति स्वाभाविक रूप से पाता है।

और ज्ञान का क्या फल है ? दिन रात के आठों पहर उसके मन की अपने आप में समाधान रूप समाधि रहती है। उसके मन में व्यर्थ की भोगों की दृष्टि या चित्र, या तो बनते नहीं, यदि बनें तो झट उसका ज्ञान दर्शन उन्हें निवृत्त कर देता है। मन सदा स्वस्थ टिका रहता है। यही समाधान रूप समाधि है। संसार में भोगों के व्यर्थ उपायों या संघर्ष या उलझन से भी टला रहता है, संसार में खोया नहीं रहता, अपने आप में समाहित (टिकाव) वाला बना रहता है।

यह पुनः संसार सागर या मित्र, वैरी आदि होने हवाने के सागर (भव सागर) से हट कर अपने आप (आत्मा) में

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

रहने की युक्ति (तरकीब) है। और यही सब राग द्वेष आदि बन्धनों से बिना किसी अन्दर बाहर की व्याधि से मुक्ति या छुटकारे का कारण है।

यहाँ तक का सब जो ऊपर कहा गया वह तो अपने आप में साधने का था। अब यदि मैत्री आदि दश बल जो कि आगे कहे जायेंगे यदि इनके साथ विश्व को भी अपने अनुकूल रूप से साध लिया गया तो बाहर जगत में भी उसे सब प्रकार से सफल जीवन मिलेगा। कहीं भी वैर, विरोध तथा, संघर्ष नहीं। सब स्थान पर प्रीति, लोगों की श्रद्धा के संग उसकी पूजा आदि यही बाहर की सफलता है। और पुनः सब हिंसा, चोरी, झूठ आदि पापों से रहित और निन्दा, चुगली आदि से वर्जित हुआ-हुआ जीवन पूत अर्थात् पवित्र हुआ-हुआ सब के मन को भायेगा। किसी को भी उस पवित्रात्मा पर शंका न होने से विश्व के विश्वास की प्राप्ति का आनन्द होगा। सब पाप छूटने के पश्चात् भी पुनः उसकी पवित्र जीवनचर्या (जीने का मार्ग) होने से सब को सुन्दर लगेगा और मन से सारे राग-द्वेष, मोह-मान आदि बन्धन निकल जाने के कारण निर्मल हुआ जीवन सब को भाने वाला होगा। यही सब बाहर की सफलता का जीवन है। परलोक तो उसका बिना किसी भय के सिद्ध होगा ही।

इसलिये गत पांच पद्यों का तात्पर्य यही है कि मिथ्या दृष्टि या खोटी भोगों के पक्षपात वाली नज़र को छोड़कर ध्यान और ज्ञान द्वारा सही सत्य की निवृत्ति वाली दृष्टि बनाकर अपने आपको संसार चक्र में बने रहने या उसी में

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

धँसे रहने से निकाल कर अपनी आत्मा में तृप्त करने के लिये अल्प दुःख को भी तपस्या रूप से अपनाये और अपना सदा रहने वाला सुख, शान्ति का मार्ग चमकाये।

यहाँ इतना समझना आवश्यक है कि यदि संसार के भोगों से मन टल गया तो अब उधर तो वह रहेगा नहीं, सदा अपने में ही स्मृति वाला, अपने को ही दृष्टि में रखने वाला होगा, अपने आप को सही प्रकार से चलाने में सदा वह आत्मा (अपने आप) में ही बना रहेगा। तब संसार में कैसे होगा ? अर्थात् संसार से मुक्त होगा। यही उसकी आठों पहर समाधि है। क्योंकि समाधि नाम इसी का है कि दोषों और बन्धनों की 'मैं' के बिना सदा अपने ज्ञान रूप आत्मा में टिके (स्थिर) रहना। वह ध्यान ज्ञान वाला साधक मुमुक्षु पुरुष ऐसी ही समाधि में रहता है। इस, उस को देखने समझने में मिथ्या मन को बाहर जगत में नहीं दौड़ाता।

सुख का कभी विज्ञान हुआ, क्षण में चल बसा,
पाछे भी था विज्ञान, पर न उसमें मन रसा।
सापेक्ष ज्ञान धार ही दुःख सुख की बहती जाये;
है तो सकल विज्ञान ही, पर दृष्टि में भी आये।।
। ६६ ।

गत पद्यों में इसी वार्ता की चर्चा थी कि अपने संसार के सुखों वाले मिथ्या दृष्टिकोण को हटाकर अपनी ही आत्मा में सब प्रकार से पवित्रता रखने का जीवन बनाना चाहिये। इससे संसार बन्धन छूटेगा।

अब आगे के दो पद्यों में ऐसे पूत, पवित्र, निर्मल जीवन का अन्तिम फल या पहुँचने की चोटी का निर्देश है कि इसे कहाँ तक मनुष्य को साधना है।

जो कुछ भी हमें अपने आप में सुख का निकट से ज्ञान या अनुभव होता है, वह सदा एक रस बना तो रहता नहीं। जैसे-जैसे मन क्षण-क्षण बदलता जाता है, ऐसे ही वह सुख का विज्ञान (साक्षात्कार) भी क्षण भर में ही चल बसता है अर्थात् समाप्त होता जाता है।

इसी प्रकार सुख के विज्ञान के पहले भी कोई न कोई विज्ञान था, परन्तु सुख रूप न होने से उसमें मन का रस या प्रीति नहीं हुई। सुख के विज्ञान में तो मन की प्रीति तृप्त होती है, सुख से भिन्न विज्ञान में इस मन की प्रीति नहीं होती। इस प्रकार यही प्रीति, अप्रीति या राग, द्वेष रूप तृष्णा एक विज्ञान का दूसरे विज्ञान से भेद करती है, अभेद या अद्वैत अनुभव में नहीं आता। यद्यपि हैं तो दोनों ही विज्ञान, परन्तु एक दूसरे की दृष्टि (नज़र) में वे भिन्न-भिन्न दिखलाई देते हैं। इस प्रकार सुख की नज़र से दुःख का विज्ञान और दुःख की दृष्टि (नज़र) से सुख का विज्ञान, ऐसा भेद प्रतीत होता है। यही सापेक्ष (एक दूसरे को नज़र में रखते हुए) ज्ञान की सुख दुःख की धारा सदा मन में बहती रहती है। चाहे सुख हो या दुःख, है तो दोनों का मन में विज्ञान ही, परन्तु यह एक ही विज्ञान का रूप सुख में रंगे मन को या दुःख में अप्रीति या द्वेष वाले मन को नहीं दीखता। यदि दोनों (सुख और दुःख) में समभाव हो जाये तो एक ही बुद्धि रूप सत्त्व अर्थात् भगवान् विष्णु,

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

विराट, नारायण ही नारायण समझ में पड़ेगा। परन्तु सुख, दुःख को सम करके केवल विज्ञान ही विज्ञान रूप से यदि पहचाने तभी तो अद्वैत या अभेद दीखेगा। भेद देखने से तो राग, द्वेष वाला संसार, बन्धन वाले ही रूपों में दिखाई पड़ेगा।

जब अन्त में सब विज्ञानों में केवल अद्वैत, एक रस, नव-नव (नये-नये) रूप से चेतने या समझने का ही भेद रहित तत्त्वं, निर्मल तथा विक्षेप रहित मन में प्रकट हो आनन्द ही आनन्द स्वरूप से अनुभव में आने लगा तो यही तत्त्वदर्शी पुरुषों का ब्रह्मदर्शन सब में समान रूप से तृप्ति करने वाला होगा। इससे जन्म-मरण वाला संसार कहीं समझने को भी न रहेगा।

जब तक नज़र में सुख बसा, असल न दीखे रूप,
जो धैर्य रहे दुःख में, पड़े तृष्णा के न कूप।
पुनः ज्ञान और अभ्यास से, हो सुख नज़र से दूर;
तो रहा न दुःख का नाम कहीं, विज्ञान ही भरपूर।।

। १०० ।

अब इस पद्य में उसी एक ही विज्ञान को सर्वत्र अनुभव करने का साधन दर्शाया गया है।

जब तक दृष्टि (नज़र) में बाहर (संसार या विषयों) का सुख ही केवल बसा है कि उसे ही पाना है, और यही कामना रखे कि वही सदा बना रहे; तब तक मनुष्य को सही (असल) अपना रूप नहीं दिखाई दे सकता। सही रूप तो एक ही विज्ञान का है। दुःख सुख को भिन्न-भिन्न करके समझने, मानने से असल के स्थान पर इसका मिथ्या रूप

दीखता है। जैसे कि कैसे-कैसे भी वन में पेड़ या घास, औषधि आदि खड़ी है, यदि उनमें किसी की अपनी उपयुक्त (उपयोग वाली) वस्तु पर ग्रहण करने की दृष्टि (नज़र) नहीं तो उस व्यक्ति को केवल वन ही वन दीखेगा। उसमें भेदभाव पहचानने के लिये नाना प्रकार के पेड़ों आदि की परीक्षा के लिये मन नहीं उलझेगा। बिना स्वार्थ मनुष्य वस्तुओं को व्यर्थ में समझने का भी कष्ट नहीं करता। इसी प्रकार यदि केवल अभी सुख में ही मन है; दुःख में द्वेष वाला है तब तो अभी सही विज्ञान का अद्वैत रूप नहीं दीखेगा। विज्ञान नाम समझने का है। यह मित्र, वैरी रूप भिन्न-भिन्न या भेद भाव वाला ही प्रतीत होगा। जब सुख को ग्रहण और दुःख के परिहार (त्याग) वाला मन नहीं तो केवल सब विज्ञान एक ही चेतन है। यही असल अपना स्वरूप है। जब दुःख में मनुष्य के मन का धैर्य बना रहा और सुख के लिये लपक नहीं हुई, तब वह (मनुष्य) तृष्णा के कूप रूपी भेदभावों वाले संघर्षमय संसार में क्यों पड़ेगा? अर्थात् धैर्य से दुःख को भी बिना द्वेष किये और टालने के सांसारिक उपाय सोचे वह सहन करता-करता ही भुगता देगा। तब वैरी की समझ रूप विज्ञान न होकर केवल पूर्ण पुरुष की ही समझ (विज्ञान) होगी। एक ही द्वैत रहित पुरुष ही पुरुष असल रूप में दीखेगा या सदा समझ या ज्ञान रूप से चेतते रहने वाला चेतन ही चेतन एक रस अनुभव में आयेगा।

ऐसे ही ज्ञानपूर्वक मन को स्थिर रखने का अभ्यास करते-करते जब सुख ही दृष्टि (नजर) से दूर हो गया,

卐卐卐

दुःख के विज्ञान (समझ या अनुभव) काल में उसकी (सुख की) स्मृति (याद) तक भी नहीं आती तो समझो कि साधक की शान्त समाधि सिद्ध हो गई। इसी को मन की निर्विकल्प अवस्था शास्त्रों में कहा है। शान्त उपेक्षा की परिशुद्धि होने पर सुख या आनन्द की प्रतीति भी नहीं रही तो ही यह अद्वैत भाव में सहज, स्वाभाविक टिकाव रूप निर्विकल्प अवस्था है। यही परम फल स्वरूप है। यहाँ दुःख की संज्ञा (नाम) तक भी नहीं रही। केवल एक ही विज्ञान सर्वत्र भरपूर है। एक ही चेतन, एक ही परब्रह्म सब में सम-दर्शन में या अनुभव में आयेगा।

ॐ इति सम्यक् दृष्टि वर्ग ॐ



卐 अथ भावना वर्ग 卐

आत्मा का ज्ञान गहरा, निज से निज में पाये।
विषयों से हरे जो मन को, हरि हर तभी मिलाये।।
। १०१ ।

गत पद्य में यह दर्शाया गया कि सुख दुःख में सम भाव से रहने पर इन दोनों में एक ही विज्ञान अर्थात् बुद्धि रूप विज्ञान सर्वत्र भरपूर दिखाई देगा जो कि विष्णु या विराट् रूप परमात्मा का स्वरूप है। इस का तात्पर्य यह है कि जो मन को महसूस (संवेदन) करने में अनुकूल (मुआफिक या बढ़िया) प्रतीत होता है उसका नाम (संज्ञा) सुख है। विपरीत इसके जो मन को महसूस करने में प्रतिकूल (विपरीत या पहले से उल्टा) प्रतीत होता है, वह दुःख नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं सुख, दुःख के निमित्त यही बुद्धि इस अनन्त संसार के पदार्थों को पृथक्-पृथक् नाम देती है। कोई मित्र, कोई वैरी, कोई प्रिय, कोई अप्रिय, कोई भयानक आदि पदार्थों को भी यही बुद्धि कुछ का कुछ समझ कर अपने उपयोग के नाम देती है। समझने को ही विज्ञान कहते हैं। यही बुद्धि इन सब को सत् बनाती है अर्थात् सब सत्त्व (हस्ती) इसी बुद्धि के कारण से और सुख दुःख के कारण से ही है। यदि सुख दुःख सम हो जाये तो सब में यही बुद्धि रूप विज्ञान ही दिखाई पड़ेगा जो कि विष्णु रूप विराट् (चारों ओर विराजमान) जगत् का स्वरूप है। जगत् में पदार्थों का भेदभाव मिटने लगेगा।

अब यह पद्य यह दर्शा रहा है कि इस विज्ञान से यदि

卐卐卐

ऊपर उठा जाये तो गहराई में शुद्ध आत्मा का ज्ञान मनुष्य केवल चेतन स्वरूप से अपने आप में ही पाता है। परन्तु उसे सब सुख दुःख निमित्त तृष्णा और उसके विषयों से मन को हरना या हटाना पड़ता है। इसी हरने या हटाने की सीमा तक मनुष्य पहुँच गया तो हरि नाम विष्णु और हर नाम शान्त शंकर शम्भु का है, वे भी तभी मिलते हैं । आत्मा इनसे भी परे है, गइराई में बसा है। इसका तात्पर्य यह है कि जब खुली आँखों सब में बुद्धि विज्ञान ही लीला करता दीखे तो हरि मिला। और यदि यही विज्ञान की लीला शान्त होने पर मनुष्य निद्रा में समा गया या ध्यान में बिना कुछ जगत् की समझ बूझ के वैराग्य द्वारा मन का निरोध (रोक) करके स्थिर हुआ तो हर रूप शान्त भगवान शंकर का लोक प्राप्त हुआ।

यदि इन हरिहर के पदों से भी ऊपर उठा अर्थात् किसी पदार्थ को सत् करके भी समझने की आवश्यकता न रही और न मन समझने के लिये जगा व उठा तो केवल शान्त, प्रत्येक क्षण चेतने वाला (नव-नव अनुभव में आने वाला या अनुभव स्वरूप) आत्मा ही आत्मा का भान रहेगा। यह सर्व तृष्णा और तृष्णा के बन्धन और दुःख शान्त हो जाने से अनन्त शान्त ही होगा। इसमें प्रतिष्ठा या टिकाव प्राप्त हो जाने पर पुनः संसार में आना नहीं पड़ेगा। अर्थात् यह आत्मा में स्थिति या आत्म रूप से स्थिति को काल भी ग्रास नहीं कर सकता। इसमें काल भी स्वयं समाप्त हो जाता है। इस आत्मा को पाने का भाव जगाना है। इसी के लिये आगे भावना का प्रकार निरूपण करने में आयेगा।

卐卐卐

सूक्ष्माति-सूक्ष्म विज्ञान से देहेन्द्रि, मन, बुद्धि सम्भाल,
प्रत्येक चेष्टा दृष्टि में राखे, ध्यान से बन्ध जान और टाल।।
। १०२ ।

पूर्व पद्य में चर्चित आत्म ज्ञान के साधन को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- सूक्ष्म और अति सूक्ष्म विज्ञान से (प्रत्यक्ष ज्ञान से) या अनुभव रूप ज्ञान से देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को मनुष्य सम्भालने का यत्न करे। इसका तात्पर्य यह है कि जन्म से ही बालक को जैसा कुछ जगत् के पदार्थों में रुचि उत्पन्न कर दी गई है और जो-जो उनकी श्रेष्ठता के भाव को रच दिया गया है, झटपट तो मन में उन्हीं के संस्कार आविर्भूत (प्रकट) होकर मनुष्य या जीव-मात्र को उधर जगत् की दिशा में ही धकेलते हैं और नाना प्रकार के सुख और बाहर की सफलता ही मन को अच्छी जैसे प्रतीत होती है। यही उसकी विपरीत बुद्धि या मति यदि नहीं सम्भली तो वह संसार के सुखों को ही अच्छा समझकर उन्हीं में ही उलझा रहेगा। ऐसे ही जब बुद्धि ने वही जगत् में ही होना या सांसारिक सुख ही भला समझा तो मन भी उसी के इरादे (संकल्प) और भाव वाला होकर काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, मत्सर आदि विकारों वाला, बाहर वैसे ही इन्द्रियों को और देह को चलायेगा। सब विपरीत दुःख को बढ़ाने वाले कर्म करेगा। वैर, विरोध, संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता (होड़बाजी) और पुनः संशय, भय, राग, द्वेष, मान, मोह आदि से बन्धा सिवाय दुर्गति या दुःख के कुछ भी नहीं पा सकेगा।

इसलिये ध्यान द्वारा अत्यन्त बारीकी में छिपे इसी

जगत् के दुःख का विज्ञान उपजा कर, सुख के साधनों को दुःख के साधन रूप से प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में लाकर अपने फिसलते, सरकते मन को भी सम्भाले और मन, बुद्धि, इन्द्रियों और देह की सब चेष्टाओं को दृष्टि में रखे। ये विपरीत रूप से जब चेष्टाएं करें तो सम्भालने का यत्न भी किया जाये। ध्यान से पुनः सुख रूप दीखने वाले बाह्य सुख के राग, द्वेष आदि बन्धन पहचानने पर इनसे मन स्वयं टलने लगेगा। प्रत्यक्ष रूप से सांसारिक सुख यदि दुःख रूप से समझ में पड़ने लगें तो कौन इन से बन्धा रहेगा ? जब तक यही बाह्य सांसारिक सुख में बांधने वाले बन्धन सही रूप में नहीं जाने पहचाने जायेंगे तो टाले भी नहीं जा सकेंगे। मित्र रूप में छिपे वैरी को पहचानने पर उसको त्यागने को मन स्वयं प्रस्तुत (तैयार) हो जायेगा। परन्तु सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ध्यान की बारीकी में अन्तिम बन्धन अविद्या तक पहचाने और टाले।

जब तक प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सांसारिक सुख को दुःख रूप प्रकट नहीं किया गया तब तक मनुष्य को इन विषयों के सुख में दुःख का भाव तो अवश्य रखना ही पड़ेगा।

निकट से जिसने देखा न जीवन,
जाने कैसे वह निज का भला ?
रहा सदा बसा वह काम के वन;
जिसमें केवल दुःख ही दुःख फला।। । १०३ ।

गत दो पद्यों में यह दर्शाया गया कि आत्मा का ज्ञान गहराई में पाया जाता है और इस साक्षात्कार रूप सत्य ज्ञान के लिये सब जगत् में होने और न होने की तृष्णा (भव

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

और विभव तृष्णा) के अविद्या तक के सब बन्धन मनुष्य ध्यान की बारीकी में स्वयं जाने और उनका परिहार (त्याग) करे।

अब यह पद्य इसी आत्म साक्षात्कार रूप ज्ञान के साधन की पूर्णता को दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को निकट से अर्थात् समीप से नहीं देखा, विचार के चक्षु से नहीं समझा, पहचाना तो वह अपने सनातन (सदा बने रहने वाले) सुख शान्ति रूप भले या भलाई को कैसे निकट से जान सकेगा ? अर्थात् अपने सब से परे के हित रूप भलाई को कैसे अपने आप अनुभव करेगा ? वह तो केवल सब जीवों के समान सदा काम (इच्छा) के वन में ही भटकता रहेगा; उसी में ही बसा रहेगा जिस काम या कामनाओं के वन में केवल दुःख ही फलरूप से मिलेगा। काम के वन में केवल दुःख ही फलता है।

तात्पर्यार्थ :-इस पद्य का तात्पर्य यह है कि यदि विचार दृष्टि से ध्यान द्वारा अपने नित्यप्रति व्यतीत होते जाते जीवन को परीक्षा में न लाया गया (न परखा गया) कि यह जीवन अन्त में मुझे कहाँ पहुँचायेगा ? क्या कहीं सुख समझकर जगत् के वैर विरोध, प्रतिद्वन्द्विता (होड़बाजी), संघर्ष आदि के द्वन्द्व में सब प्रकार के कर्म करवाता हुआ शान्त भी हो सकेगा कि नहीं ? कहीं ये सब विपरीत, दुःख में तो मुझे नहीं धकेल देंगे ? इत्यादि सब परीक्षा करना और परीक्षा करके सही जीवन का ढंग अपनाना ही जीवन को निकट से देखना है। यदि ऐसे न हो सका तो अपना

भला तो क्या होगा, उल्टा सब पशु, पक्षी आदि जीवों के समान प्रकृति (कुदरत) के प्रवाह में बहता हुआ काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि से मिथ्या कर्मों में उलझ कर केवल अपना दुःख ही बढ़ायेगा। उस दुःख को दूर करने के लिये पुनः कई एक प्रकार की इच्छायें करेगा। उन इच्छाओं से पुनः विपरीत कर्मों में और उलझेगा। इस प्रकार इसी इच्छा या काम रूप वन में भटकता हुआ जीव इससे निकलने का मार्ग तक भी नहीं पायेगा। इस पद्य का तात्पर्य भी यही है कि जो थोड़ा सा सुख दिखला कर महान् दुःख में ले जाये उनके प्रति उनसे बचने का भाव बनाये, न कि अल्प सुख के कारण उसी का भाव बनाये रखे।

देह में 'मैं' को समझा है तू,
दीखे इसमें छिपा न तुझे पाप।
जैसे चाहे चलावे वह (तुझे) त्यूँ;
तेरे भले में उसका संताप।। । १०४ ।

गत पद्य में यह बतलाया गया था कि बाहर से मन को मोड़ कर तथा ध्यान विचार में लगा कर, जीवन को अति समीप से पहचानना चाहिये कि यह किस दिशा में मनुष्य को ले जा रहा है ? जिधर मनुष्य चलता जा रहा है, अन्त में उसके हाथ क्या लगेगा ? इत्यादि सब अपने बारे में विवेक जगा कर जानना चाहिए।

अब इस पद्य में जीवन को खोजने पर मिथ्या दिशा में ले जाने वाले पाप की चर्चा है जिससे कि मनुष्य को सावधान होकर तथा बच कर' चलना होगा चाहे उधर उससे बच कर चलने में दुःख भी क्यों न हो, यह वार्ता

सूचित की गई है। मुक्ति के मार्ग पर चलने का भाव बनाये रखना पड़ेगा। दुःख में ऐसा भाव टिकने नहीं पाता; परन्तु भाव बनाना अवश्य पड़ेगा। यही भावना का स्वरूप है।

पद्यार्थ :- मनुष्य तो इस मनुष्यों के समाज में बसते हुए देह में ही 'मैं भाव' को अपनाये रहता है। क्योंकि जगत् का व्यवहार तो ऐसे ही चलता है। तूं, मैं के बिना एक दूसरे से बोलना आदि व्यवहार भी नहीं बनता। इसलिये साधारण जन उस बाहर के बर्तावे की शरीर वाली 'मैं' में ही जीवन भर पड़ा रहता है। इस देह में छिपा हुआ तथा जीवों को संसार में ही धँसाये रखने वाला प्रकृति का काम, क्रोध आदि के बल की प्रधानता वाला पाप दिखाई नहीं देता। जो थोड़ी बाहर जगत् में सुख की मिठास दिखा कर जीव मात्र को बाँधता है तथा जिधर वह पाप चाहता है, उधर ही जीव मात्र को द्वन्द्व आदि में ले जा कर पटक देता है। कहीं प्रीति में, कहीं द्वेष में तथा कहीं लड़ाई-झगड़ों में, हिंसा, चोरी, झूठ तथा मिथ्या व्यवहार और कर्मों में डाल देता है; जिन सब का फल मनुष्य को अन्त में दुःख रूप में रो-रो कर भुगतना पड़ता है।

यदि कोई ढीले यत्न से सम्भल कर भी चलना चाहे तो यही पाप का बल उसके मार्ग में अड़चन (विघ्न) रूप से उसको आगे नहीं बढ़ने देता। दुःख, शोक तथा मन का न लगना, कई एक प्रकार के संशय, मान, मोह आदि उत्पन्न करके अपनी ही पाप की दिशा में चलाता रहता है। यही सही मार्ग पकड़ने वाले के लिये वह कुपित सा होकर उसके मार्ग को रोकता है। यही उस विपरीत बल का

卐卐

संताप (खेद) रूप से पद्य में कहा गया है। अधिक खाना, अधिक सोना और सब आदतों के मिथ्या कर्म करवाने में ही उसे प्रसन्नता है। यदि इनसे बचना चाहे तो यह क्रोध आदि उत्पन्न करके मनुष्य को और अधिक परेशान करता है। इस पाप के मिथ्या सब सुख से बचने तथा टलने का भाव बनाये रखना रूप भावना को जगाये रखे।

क्या मैं करता हूँ कैसे चलूँ ?
करूँ वह मैं न जिससे डरूँ ।
वश में देहादि कर जो चल सका;
कुछ समझा, सीखा जीवन (पर) जो न थका।।
। १०५ ।

गत पद्यों में दर्शाया गया कि जीवन को निकट से पहचान कर इस देह में छिपे पाप को पहचाने। अब यह पद्य इसी की सरणि (मार्ग) को दर्शाता है कि कैसे चलना चाहिये ?

पद्यार्थ :- मनुष्य प्रथम अपने बाह्य कर्तव्यों से निवृत्त होकर तथा रात्रि में सोने से प्रथम थोड़ा एकान्त में शान्त भाव से बैठकर अपने जीवन पर या दिनचर्या पर दृष्टि डाले (नजर करे) कि 'मैं क्या करता हूँ और पुनः कैसे मुझे चलना उचित है' ? और मुझे उस प्रकार अपने आपको चलाना चाहिये और वैसे ही बाहर कर्म करना चाहिये जिससे कि मेरे भविष्य में सारे भय न बने, अर्थात् मुझे भविष्य में कोई दुःख भी न हो।

इसका तात्पर्य यह है कि समय की उत्तेजना (जोश) के वश में मनुष्य कुछ का कुछ काम, क्रोध, लोभ आदि के

वशीभूत होकर कर बैठता है। उस समय की उत्तेजना (जोश) में उसी दिशा की ओर ले जाने की प्रेरणा या उकसाहट होती है। उधर चलना अच्छा लगता है, परन्तु वह किसी भी जीव के लिये अच्छा नहीं बैठता। जैसे कि किसी का बोया हरा खेत पशु के मन को लुभावना लग जाता है, पशु उधर ही खिंचा काम और लोभ के बल से चल पड़ता है। हरे को मुख डालता है और डण्डे से पिटकर दुःखी हो भागता है। उसमें विवेक की कमी है। ऐसे ही मनुष्य को भी कई एक काम, क्रोध की उत्तेजनायें विपरीत मार्ग में चलाती हैं। वह अपने बुद्धिबल को भी इन्हीं उत्तेजनाओं के अधीन करके विपरीत आचरण करने को तैयार हो जाता है और समय पाकर दुःख से रोता है। इसलिये देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि को वश में रख कर जो संसार में अपनी भलाई को सही समझ कर चल सका तो वह कुछ घटनाचक्र से सीख भी सकेगा। पहले उसको ध्यान से समझेगा, पुनः सीखेगा। किसी को पाप के रास्ते चलने पर दुःखी होते देखकर उसी से उस 'पाप को पहचान' लेगा और उससे बचकर चलने की शिक्षा ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार सारा जीवन समझने और सीखने में लगा देगा। ऐसे जीवन से पाप के दबाव पर थकावट न माने। धर्म के उद्योग का भाव बनाये रखे। देह आदि वश में करके पाप की दिशा से बचकर चलने से जीवन समझ में आने लगेगा तथा अच्छा जीवन चलने की शिक्षा भी प्राप्त होगी, परन्तु थकावट न माने। समझने और सीखने में थके नहीं।

卐卐

बाल जाने देह में "मैं-मैं" का ही नाम,
और को-को शक्ति छिपी, करे इसमें काम।
उत्तरदायी दुःखादि रचने में ठहरे कौन ?
मन में समझे, भावना करले, बाकी राखे मौन।।
। १०६ ।

जब सही रूप से जीवन को समझना है तो इसको चलाने की अच्छी बुरी प्रेरक शक्तियों को भी समझना पड़ेगा। जो दुःखदायी जीवन बनाने वाली हैं, उन से मुक्ति भी पानी पड़ेगी। इसलिये इन दो पद्यों में दुःख की दिशा में ले जाने वाली शक्तियों को पहचानकर जड़ मूल के साथ पूर्ण दुःख से छुटकारा पाने के लिये 'भावना' का प्रसंग है। जैसे रोग से पूर्णतया मुक्ति पाने के लिये रोग का कारण जान समझकर उस रोग की जड़ को उखाड़ कर ही रोग सही रूप से नष्ट होता है। इसी प्रकार जगत् दुःख को बनाने वाली सब शक्तियों को अपने आप में पहचान कर और प्रथम उनसे छुटकारा पाकर ही दुःख रूप रोग से मुक्ति मिलेगी। इसी निमित्त जैसे उस दुःख की जड़ कटती है वैसा उपाय यहाँ भावना रूप से चर्चित किया गया है। इन्हीं अविद्या, राग, द्वेष आदि शक्तियों को मन में समझ कर भावना करे। इन शक्तियों के प्रभाव से बचने के लिये अपने मन के भावों को सही रूप से उपजाये। यही भावना शब्द का अर्थ है। (भावना का स्वरूप आगामी पद्य में दर्शाया गया है) और शेष (बाकी) मौन का अभ्यास करे। अर्थात् व्यर्थ के वचन विलास (बोल बोलावे) में मिथ्या समय व्यतीत न करे। जो शब्द बाहर बोलने हैं वही मन में

卐卐卐

बोल-बोल कर अपने अन्दर के वृत्तान्त को समझने में लगावे। बाहर अधिक शब्दों का प्रयोग मनुष्य को बहिःर्मुख ही बनाता है।

पद्यार्थ :- बालक या कोई भी जन्म से अज्ञानी प्राणी उस अपने देह में ''मैं, मैं'' करता हुआ और समझता हुआ संसार में विहार (विचरना) करता है। इसी देह को अपना आपा मान कर देह सम्बन्धी प्रत्येक बाहर की वस्तु के बने रहने में ही अपना आपा बना रहना मानता है। परन्तु इस अज्ञानी (बिना समझ वाले) को यह ज्ञान, बिना उद्योग किये नहीं हो सकता कि इसी देह में कौन-कौन सी शक्ति छिपी बैठी है; और इसमें अपने ही ढंग का काम (कार्य) करती या करवाती है। ये सब शक्तियां राग, द्वेष आदि बन्धन और काम, क्रोध आदि विकार और नाना प्रकार की शिथिलता लाने वाला तमोगुण आदि रूप में देह में बसे अन्तःकरण या मन में वास करती हैं। इस देह को देखने वाली दृष्टि से ये सब नहीं दीखतीं। ध्यान दृष्टि से ही ये सब पहचानने में आती हैं।

यही सब जीव के सकल दुःख में उत्तरदायी हैं। अपनी बाहर की बुद्धि से मनुष्य इनको नहीं समझ सकता। यह सब ज्ञान बाहर समझने बुझाने वाले मन को धीरे-धीरे अन्तर्मुख करने से अन्दर की समझ में आने लगेगा। तब ये सब शक्तियां अपने-अपने कार्यों के साथ प्रत्यक्ष दीखेंगी। यही शक्तियां ही सब संसार के दुःखों की जड़ हैं। इन्हीं जड़ों को काट कर ही पूर्ण दुःख से मुक्ति मिलेगी।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

शान्ति हेतु जैसा कुछ समझे, भावना ताका नाम,
राग, द्वेष इस बिन न छीजें, मिले न पावन धाम।
बन्ध, विकार जो जग को चलायें, उनका साक्षात् ज्ञान;
ध्यान योग से पा विमुक्त हो, ज्ञान का योगी सुजान।।
। १०७ ।

पूर्व पद्य में चर्चित (चर्चा में आयी) भावना का अर्थ इस पद्य में दर्शाया जा रहा है तथा इसी भावना का उपयोग भी इसमें चर्चित है।

यथा पहले से बालक को बाह्य पदार्थों में सुख का भाव बना हुआ है। समय पाकर वह सब सुख भी चल बसता है, और उनसे दुःख भी होने लगता है। परन्तु पहले वाला संसार के सुख का भाव, सब जीवों में जैसा बस रहा है, उसकी एक क्षण भर की चमक आकर मनुष्य को पुनः अपनी दिशा में ही खींच कर ले जाती है; यद्यपि वह किसी समय का सुख अब मिलने का न भी रहा हो। आप अपनी बुद्धि द्वारा उसके दुःख को पहचानने के लिये ध्यान में विचार जगा कर वास्तविकता (असलीयत) को दृष्टि में रखो। इस प्रकार एकान्त में सही वैराग्य भाव रचने में पहले का मन जो कि क्षण भर के सुख में रंगा हुआ उसी सुख के राग को पकड़े बैठा है, वह आप के विरोधी वैराग्य भाव रचने पर निद्रा को आप के ऊपर लादकर, आपके वैराग्य की भावना को विघ्नित करना चाहेगा; आप को वैराग्य को मन में स्थिर रखकर जागने नहीं देगा। आप भी यदि निद्रा के सुख के लोभी उस दोष वाली निद्रा की मिठास लेने लग गये तो वह पवित्र भावना वाला आपका

उद्योग दोष ने समाप्त कर दिया और भावना सही नहीं हुई। अर्थात् जितने बल वाला संसार की धारा में पटकने वाला सांसारिक सुख के राग का संस्कार है,उससे बढ़ कर संसार से निकलने वाली भावना नहीं बन पायी। दोष वाली निद्रा को भी जीत कर पुनः यदि विषयों के सांसारिक सुख को दुःख समझता हुआ मन पर्याप्त (काफी) समय तक जागता रहता तभी इस वैराग्य के पवित्र भाव का बल बढ़ना था। जैसे कि बहुत लम्बे समय तक विषय सुख का संग करने से उनके संस्कारों में बल आया है कि मिथ्या संस्कार जीव को झट उन्हीं विषयों में केवल एक इच्छा मात्र से ही पटक देते हैं और जीव उनके दुःख को भूल कर पुनः उन्हीं की इच्छा कल्पना के थोड़े सुख के कारण करता है और उन्हीं की प्राप्ति का यत्न भी करता है।

ऐसे ही यदि जागते-जागते दीर्घ काल तक इन्हीं विषयों के सुख के भाव के अतिरिक्त इनके दुःख का भाव मन में लम्बे समय तक स्थिर रखा जायेगा; और नित्य प्रति जब भी विषय अच्छे, शोभा युक्त और उनका सुख आकर्षक 'मन में' जंचे, तभी-तभी इनसे विपरीत भाव बनाकर मन को इसी भाव से युक्त करके जागृत रखा जाये; तो समय पाकर यह पवित्रता के संस्कार इतना बल पकड़ जायेंगे कि पहला संसार वाला भाव बनते ही यह पवित्र पीछे वाले संस्कार जागकर उनको विफल या व्यर्थ बना देंगे। पुनः विषय मन को अच्छे या सुख रूप के स्थान पर उपेक्षणीय या याद में भी न लाने योग्य प्रतीत होंगे। यही मन भावना युक्त हो चुका, इसी भावना से राग द्वेष सब छूटेंगे।

जैसे राग के बारे में दर्शाया गया वैसे ही दुःख से द्वेष होने पर द्वेष का क्रोध वाला भाव बाहर जगत् में मिथ्या कर्मों में प्रवृत्त करता है। इस द्वेष के पूरा करने की या सेवा करने की प्रसन्नता में भी विपरीत भाव जगा कर पवित्र, द्वेष रहित, मैत्री आदि वाला मन बलवान् बना कर इन बन्धनों और विकारों से सदा के लिये ही छुटकारा (मुक्ति) पाना चाहिये। यही भावना का स्वरूप है।

पद्यार्थ :- संसार के दुःख की शान्ति के हेतु (निमित्त) जैसा कुछ मन का भाव बनाया जायेगा या जैसी कुछ समझ मन में जन्मायी जायेगी, इस सब का नाम भावना है। भावना शब्द का यह अर्थ है कि कुछ तो अपने आप हो रहा है, पुनः कुछ अपने हित के लिये समझ कर विशेष ढंग से (हवाना) रचना होगा, यही भावना शब्द के अर्थ से समझा जाता है। जैसे कि बालपन से जगत् के पदार्थों और प्राणियों के सम्बन्ध से सुख प्राप्त होता है और बालक को विश्वास है कि इनके बिना सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये वह इन्हीं में ही दिनों-दिन उलझता जाता है, जिससे राग, द्वेष आदि ही बल पकड़ते जाते हैं। इस भाव से विपरीत अब यह भाव या समझ बनाने या रचने की है कि यही सब बाह्य प्राणी और पदार्थ शरीर की आवश्यकता से अधिक सुख के लिये चाहे गये दुःख को ही बढ़ाते हैं तथा शान्त आत्मपद से दूर भटकाने वाले हैं। ऐसा मन का भाव रचाना (रचना में लाना) ही भावना है। यह कैसे पुनः रचा जायेगा ? यह आगे बतलाया गया है।

इन से होने वाला सुख भी दुःख रूप ही है। क्षण मात्र

卐卐卐

ही सुख दीखता है। पीछे इनकी तृष्णा बढ़ जाती है। वह दीखती तो है नहीं परन्तु उसी बन्धन के मार्ग में धकेलती है। यदि इसकी (तृष्णा की) आज्ञा का पालन न करो तो क्रोध और मिथ्या सुख की यादें उपजाकर नाना प्रकार से जीव को दुर्गति की ओर ही ले जाती है। पुनः मिथ्या कर्मों में ही पटकती है। शक्तिरूप से राग द्वेष के रूप में छिपी बैठी हुई तृष्णा पुनः अधिक सुख भोग से बढ़ती ही जाती है। परन्तु है अनर्थ को ही करने वाली। इस भावना के बिना राग, द्वेष का छेदन करना असम्भव है और इनके छेदन बिना पवित्र (पावन), आनन्द स्वरूप मुक्तात्मा का पद् मिलना भी वैसे ही असम्भव है।

जब मनुष्य अपने में भावना करने पर राग, द्वेष आदि से निकल कर बाहर जगत् की ओर झाँकेगा तो उसे यही सब राग द्वेष आदि अविद्या पर्यन्त बन्धन और काम, क्रोध लोभादि विकार सब जगत् को चलाते हुए दृष्टिगोचर होंगे (दिखाई देंगे)। उनकी सर्व देहों में छिपी शक्तियों का साक्षात् (प्रत्यक्ष) ज्ञान होगा। बिना संशय और भ्रान्ति के जो सच्चा ज्ञान अपने में होगा वही साक्षात् शब्द का यहाँ अर्थ है। ध्यान में जुड़ा रहने वाला मनुष्य ही अपने आप में सर्व जगत् के दुःखों की जड़ को पहचान कर तथा भावना द्वारा मन को बलवान बनाकर जड़ सहित दुःख का परिहार (त्यागना) कर सकेगा। इस प्रकार ध्यान योग से ज्ञान को पाकर, पुनः ज्ञान से जुड़ा रह कर इन सब बन्धन रूपी शक्तियों को सर्व दुःखों की जड़ (मूल) समझ कर वह इन्हें त्यागने के लिये प्रेरित तथा उत्साहित होगा और त्यागने के

卐卐

लिए बल भी कर सकेगा। इसलिये उसी ज्ञान के योगी अर्थात् ज्ञान के साथ जुड़े रहने वाले को सुजान (सुन्दर ज्ञानवान) कहते हैं। इस सुजान (सुज्ञानी) का ज्ञान ही भला है क्योंकि यह सत्य को दर्शा कर इसे सब दुःख को त्यागने की प्रेरणा देता है। दूसरा जगत् के ज्ञान वाला तो केवल बन्धनों के चक्र में ही उलझाता जाता है।

ॐ इति भावना वर्ग ॐ



卐卐卐

卐 अथ साधन समृद्धि वर्ग 卐

विपरीत छन्द में स्मृति जो रह गई, 'स्मृति' ही इसको जान,
सब तब विकार पराक्रम से मिटा दे, 'वीर्य' भी उसे बखान।
टिके जो तब ही 'ध्यान' वही है, सत्य की करने को खोज;
सत्य ज्ञान निर्मल सोई 'प्रज्ञा' दुःख में अमृत भोज।।

। १०८ ।

गत दो पद्यों में भावना के बारे में चर्चा की गई थी। जगत् बन्धन में उलझा मन इससे मुक्ति पाकर आत्मा में ही केवल जो शान्ति सुख पायेगा, उसी के हेतु मनुष्य को अपना भाव बनाना पड़ेगा। संसार में तो बाहर के सुख दुःख के अनुसार भाव बने हुए हैं। सुख देने वाली वस्तुओं में श्रेष्ठता का भाव, दुःख देने वाली वस्तुओं और प्राणियों में विपरीत द्वेष का भाव। परन्तु ऊपर कही गई मुक्ति पाने के लिये इस बाह्य संसार के ढंग के बने भावों से विपरीत भाव रचना या बनाना ही 'भावना' शब्द का तात्पर्य है। बाह्य सुखकारी पदार्थ श्रेष्ठ या प्रीति करने योग्य नहीं हैं। ऐसा भाव बनाना एक प्रकार की भावना है। बाह्य किसी भी प्रकार का सहा जा सकने योग्य दुःख भी खोटा नहीं है। प्रत्युत् (वरन्) दुःख को बुद्धि और विचारपूर्वक सह लेना मनुष्य के मन को शक्ति प्रदान करता है तथा व्यापक जगत् में छिपे सत्यों को प्रकट करता है। आत्मा और सर्व-व्यापक जीवन रूप परमात्मा का ज्ञान देता है। इसलिये कारणों से सुख की वस्तु प्राप्त न होने का दुःख, गर्मी-सर्दी का दुःख, दुर्वचन या कहीं अपमान का भी दुःख,

卐卐

इत्यादि-इत्यादि बहुत से संसार के न टलने योग्य दुःख सहन करने से हमारी भलाई ही होगी। बुरा कुछ नहीं, ऐसा भाव मन में रचना ही भावना का स्वरूप है। और भी, सुख देने वाली बाहर की वस्तुओं का अधिक संग और प्राणियों की अधिक प्रीति बढ़ने पर एक दिन तृष्णा बढ़ने पर अग्नि के समान जलायेगी। बढ़ी तृष्णा आयु या समय बदलने पर पूर्ण भी न हो सकेगी। परन्तु पूर्ण होने पर भी आनन्द से जीने भी नहीं देगी। इसलिये बाह्य वस्तुओं का सुख के हेतु संग और प्रीति श्रेष्ठ तो क्या वरन् अनर्थकारी है। यह भी एक भाव ही है। पंरन्तु यदि यह भाव बनाया या रचा जा सका तो यह भी उत्तम भावना ही है। परन्तु इस सब भावना के प्रकारों को अपने में लाने के लिये संसार के दुःख सुख के निमित्त जन साधारण के होते हुए भावों का सामना करना पड़ेगा। तभी सफलता प्राप्त होगी।

यह पद्य इन्हीं बाह्य जन-साधारण के लोक में प्रचलित भावों में अपने सही भाव को बनाने के बल की चर्चा करता है। जिन से भावना बल वाली हो और संसार के भावों का बल पुनः संसार के मार्ग में न पटके।

पद्यार्थ :- बाहर संसार में प्रचलित भाव मन में आने पर प्रथम मनुष्य की सन्मार्ग की स्मृति को कुचलता है, पुनः तभी बाह्य सुख दुःख निमित्त काम क्रोध आदि विकार मनुष्य को उत्तेजित (भड़का) करके बाहर मिथ्या कर्मों के चक्र में डाल देते हैं, पीछे चाहे पश्चात्ताप ही करना पड़े। ऐसे अवसर को दृष्टि में रखते हुए ही यह पद्य यह दर्शा रहा है कि जब बाहर के सुख दुःख के निमित्त मोक्ष मार्ग से

उल्टा चलने का छन्द (इरादा) बने तब यदि अपनी सन्मार्ग की स्मृति (याद) न खोये, अपितु बनी रहे, तभी यह स्मृति-स्मृति शब्द का सच्चा अर्थ है। वैसे तो सब जगत् की याद प्रत्येक मनुष्य को बनी रहती है, स्वार्थ की वस्तुओं की स्मृति तो विशेष (खास) करके मन से उतरती ही नहीं। परन्तु यह सब स्मृति बान्धने वाली होने से तथा अनर्थकारी सिद्ध होने से सही स्मृति नहीं है।

उस मोक्ष मार्ग से विपरीत दिशा में चलने के छन्द (इरादे) में यदि इससे सम्भल कर चलने की स्मृति बनी रही तो यही स्मृति सही है।

ऐसे ही जब बाह्य स्वार्थ ही मन में बसा है तो उसके योग्य काम, क्रोध आदि विकारों का परिवार साथ ही साथ मन में विचरता रहता है। तब यदि पराक्रम (हिम्मत) करके इन को भी मिटा दिया जाये या भगा दिया जाये तभी वीर भाव रूप वीर्य का बल साधना को चमकायेगा। मोक्ष मार्ग की ओर यत्न की समृद्धि (बढ़ोत्तरी) होगी।

परन्तु यदि मन इन विकारों के दबाने में अन्दर ही अन्दर मोह से शोकयुक्त होकर रोये कि 'हाय' ! सुख से वञ्चित रह रहा हूँ, तब यदि ऐसी अवस्था में इस मन के होने से प्रभावित हुए बिना ध्यान को कोई स्थिर रखकर सत्य की खोज में लग सका तभी ध्यान के बल की समृद्धि है। यही ध्यान द्वारा सत्य का पता लगने पर मन सब प्रकार के शोक, दुःख से मुक्त होकर बन्धन के मलों से रहित सत्य ज्ञान से प्रेरित होकर मिथ्या बाहर के सुख की तृष्णा को छोड़ने को तैयार हो सका और छोड़ ही गया तो यही सत्य का ज्ञान मनुष्य का अनर्थ से बचाने वाला होने से अमृत का भोज रूप से सिद्ध होगा क्योंकि इसी के कारण से

卐卐卐

मनुष्य आत्मा के सुख रूप अमृत को आत्मा में टिकाव से पायेगा।

धन, स्त्री, परिवार, अधिकार, ऐश्वर्य और और भी सब सांसारिक अल्प (थोड़े) सुख को रचने या करने वाले पदार्थों के साथ ऐसा मन जन्म से ही महसूस करने लगता है कि यह सब सुख के लिये ही नहीं वरन् जीवन धारण और दुःख से बचाव के लिये भी आवश्यक है। यही भाव जो लोक में कहने, सुनने और महसूस करने तक में बस रहा है; बालक के मन में भी केवल उनकी संगत मात्र से ही दृढ़ हो जाते हैं। परन्तु मोक्ष मार्ग पर चलने वाले के लिये ये सब भाव विपरीत हैं। इसलिये मोक्ष मार्गगामी पुरुष आलस्य और प्रमाद में समय न व्यतीत करके एकान्त में आसन पर स्थित हो। पुनः आसन पर स्थित होकर इन्हीं संसार के भावों को उत्पन्न होते देखता हुआ इन से विपरीत मोक्ष प्राप्त करने के लिए वैराग्य आदि भावों को उत्पन्न करे। इसीलिए थोड़ा तर्क को जगाना, संसार में सामान्य जीवन-धारणा का अध्ययन करना, लोगों के चरित्रों को पहचानना और उनसे कुछ सीखना आदि करते-करते तब इन सांसारिक भावों की तुच्छता अपने आप प्रकट होने लगेगी। तब मन, बुद्धि जगा कर इनसे विपरीत भाव रचेगा, परन्तु दूसरों के भावों में मौन ही रहेगा।

चोट पड़े मन पै जो मान पर, उपजे छन्द विपरीत,
मोक्ष धर्म तो शमन बतावे, पर मन की भिन्न ही प्रीत।
छन्द वही जो रहे, तब सम्यक् ध्यान में खोज जगाये;
चण्ड भी सो प्रचण्ड दुःख में, उलझा मन सुलझाये।।
। १०६ ।

यदि कोई बाह्य सुख की वस्तु मन को न दी जाये या थोड़ा विपरीत रूप से अपने को धारण करने का दुःख आ

पड़े तो मन उसको चोट के समान समझ कर भड़क उठता है; या किसी के विपरीत व्यवहार से अपमान मान जाता है। तभी इसका विपरीत बदला आदि लेने का छन्द (इरादा) बनता है। परन्तु उस आदत वाले मन की प्रीति भिन्न ही है व संसार के ही रास्ते की है जो कि अन्त में अनर्थकारी ही होगा। ऐसी अवस्था में यह पद्य पूर्व पद्य में कहे गये अर्थ को ही अन्य प्रकार से पुष्ट करता है। अर्थात् यदि बाह्य स्वार्थ के निमित्त मन में खोटा छन्द (इरादा) बने तो उसके स्थान पर सही (सम्यक्) छन्द (इरादा) बनाये, खोटा या मिथ्या छन्द मिटा दे। और बाह्य स्वार्थ की पूर्ति निमित्त जो खोटे ध्यान मन करे तो उसके स्थान पर सत्य की खोज का सही ध्यान बना ले। और बाहर के स्वार्थ के साथ बन्धे अनर्थ को ध्यान की दृष्टि से प्रत्यक्ष देखकर मन से बाह्य स्वार्थ के पाने के भाव को ही मिटा दे। इससे भी साधना समृद्ध होगी। जब ध्यान, सत्य को दृष्टि के सम्मुख लायेगा, तब वह बाह्य सुखों के अनर्थ का सत्य ज्ञान अपने आप मन को उधर से टलने या बचने के लिये बलपूर्वक प्रेरित करेगा और मन बाहर स्वार्थ से पूर्ण वैराग्य को प्राप्त होगा।

इसी प्रकार, कई बार मन बाह्य सुखों में अधिक प्रीति के कारण उनसे मन मोड़ने पर क्रोध से चण्ड (तीव्र) हो जाता है। स्वार्थ के त्यागने का दुःख मानता है। यह दुःख भी इसी चण्ड या क्रोध को तीव्र बना कर बुद्धि भ्रष्ट करने की दिशा में अग्रसर हो जाता है। ऐसी अवस्था में साधन भी यदि चण्ड-प्रचण्ड (तीव्र) हो जाये तो दुःख और दुःख से

क्रोध का चण्ड उसी से शान्त किया जा सकता है। मन यदि उस बाह्य सुख के वियोग से या दुःख से चण्ड (तीव्र) हो रहा है तो उस दुःख में स्मृति (याद) ठिकाने रख कर, हिम्मत से ध्यान बनाये रख कर सहनशक्ति की मात्रा भी बढ़ाता जाये। अर्थात् कितना भी दुःख हो, यदि मारता नहीं तो स्मृति पूर्वक सहन करने में मनुष्य भी अपने आपको तीव्र बनाये। परन्तु उस आदत वाले मन के तनाव के आगे झुक कर मिथ्या चक्र में पड़ने का छन्द (इरादा) न करे और ध्यान द्वारा दुःख के कारण विपरीत भावों में उलझे मन को सत्य दर्शा कर सुलझाये। यही सब भावना का तात्पर्य है। जिस प्रकार मनुष्य को अपने आप को सम्भालना है उसी मार्ग को आगामी (आगे का) पद्य दर्शा रहा है कि ....

दुःख में जैसा मन प्रचण्ड,
शमन हेतु वैसे ही है चण्ड।
तीव्र वेदना में तीक्ष्ण मन;
सुतीक्ष्ण शक्ति बिना नहीं शमन।। ।११०।

यह पद्य भी पूर्व दो पद्यों में कहे गये भाव को ही स्पष्ट करता है कि जब बाह्य सुख की आदत वाले मन को अपने जन साधारण के मार्ग से थोड़ा भी इधर-उधर हटा कर चलाने का यत्न किया जाये तो जन साधारण के भावों के अनुसार ही वह समझता है कि मेरी श्रेष्ठ वस्तु खोयी जा रही है। इसी के कारण से दुःख में प्रचण्ड (अति तीव्र) हो जाता है। क्रोध से व्याकुल, स्मृतिहीन जन, साधारण जन के ही मार्ग के अनुसार द्वेष और क्रोध की अग्नि में जलता हुआ बिना भविष्य की भलाई की सोच (विचार) के

अनर्थकारी कर्मों को भी करने के लिये उद्यत (प्रेरित) हो जाता है। यदि वहाँ इसको शान्त करने का उतने ही बल वाला मनुष्य का भलाई वाला मन भी दुःख सहन करने में तीव्र नहीं रह सका तो वह मिथ्या भावों वाला मन मनुष्य को अनर्थ में पटक ही देगा। इसलिये ऐसे मन के शमन (शान्त करने के) हेतु मनुष्य को भी ढीला ढाला उद्योग नहीं वरन् पूर्ण तीव्र या प्रचण्ड उद्योग ही करना पड़ेगा। अर्थात् यूँ भाव रखना पड़ेगा कि यह मिथ्या मन मुझे कितना भी क्लेश युक्त करे, या संशय जाल में डाले, क्रोध आदि करके डराये, 'मैं भी इसके आगे झुकूंगा नहीं', ऐसे यदि मनुष्य अपनी स्मृति, वीर्य और सही छन्द को सम्भाले रखने में तीव्र रह सका, तभी वह पहला कितना भी विपरीत बल वाला मन हो एक दिन झुकेगा ही और इस चण्ड की समृद्ध (बढ़ी हुई) साधना से परमानन्द की ओर बढ़ेगा ही।

तीव्र दुःख का अनुभव होने पर मन तीक्ष्ण (तेज़) होकर क्रोध और मिथ्या मार्ग में पड़ने के लिये प्रेरित होता है। यदि वहाँ दुःख सहन की शक्ति भी तीक्ष्ण नहीं है तो ढीले ढाले उद्योग वाला मन दोषों के पार नहीं जा सकेगा। तब पुनः संसार के ढंग से ही चलेगा। संसार में ही कुछ (मिथ्या कर्मों वाला) होने को तैयार होगा। इस संसार में होने की (कामी, क्रोधी, कपटी आदि होने की) भव धारा को पार नहीं कर सकेगा। आत्मा में रहना ही संसार का पार है। आत्मा भी वह जो केवल ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप है न कि संसार के विकल्पों या भावों वाला जिस में संसार की ही वस्तुओं का मान है। वही सब संसार के विकल्पों का ज्ञान

卐卐卐

है। निर्विकल्प ज्ञान ही आत्मा है जिसमें कि संसार के सम्बन्ध वाले विकल्प (नाना प्रकार की कल्पनायें) अत्यन्त (बिल्कुल) शान्त हो चुके हैं या हैं ही नहीं।

हुआ किसी से दुःख तो विपरीत छन्द छाये,
जिससे हुआ हो दुःख उस पै दण्ड पातन चाहे।
सत्य धर्म तो तब कुछ न सूझे करने को नुकसान;
कूट नीति मन में राखे, विचित्र ही प्रस्थान।।

। १११ ।

गत तीन पद्यों में अपने मन को सही भाव के साथ-साथ सही चलाना और उसी ठीक चलाने को ही ध्यान द्वारा ठीक समझने तक जो मनुष्य न उठ सका तो कल्याण तो क्या, विपरीत इसके केवल जगत् की उलझन सहित भयंकर दुःख ही परिणाम में उसके हाथ लगेगा। इस सही मार्ग से भटकाने वाला केवल बाह्य आदतों का मिथ्या सुख ही है; या फिर इस सुख के बिगड़ने पर दुःख को मानना ही मनुष्य को विपरीत छन्द काम, क्रोध आदि विकारों द्वारा मिथ्या जगत् में फैले विश्वासों के अनुसार ही चलाता है। इस अपनी मन की कमजोरी को दूर करने की प्रेरणा के लिये यह पद्य सांसारिक सुखों में मोहयुक्त मन की वस्तु-स्थिति दर्शाता है जिससे कि मनुष्य इसी मन को अपने अन्दर पाने पर शीघ्र सम्भलने के लिए पीछे तीन पद्यों में कहे गये उद्योग को कष्टपूर्वक भी अपनाये।

पद्यार्थ :- जब किसी व्यक्ति से, या अपने मनोनुकूल वस्तु की प्राप्ति न होने से मनुष्य दुःख का अनुभव करता है तो मनुष्य का कई एक प्रकार से विपरीत छन्द उत्पन्न

होता है। छन्द नाम एक प्रकार की इच्छा का ही है जो कि कुछ करने कराने के भाव और इरादे को अपने में लपेटे रहती है। जब यह छन्द मनुष्य पर छा जाता है या हावी हो जाता है तो जिससे उस मनुष्य को दुःख होता है उस पर यह दण्ड पातन (गिराना) चाहता है। तब मन अपने उस मिथ्या सुख के मोह में इतना विचारहीन हो जाता है कि उसे अपनी भविष्य की भलाई भी नहीं सूझती और उसके अनुसार जैसा कुछ सत्य (ठीक) धर्म है, अपने को धारण करना है, या सम्भालना है उस सब की कुछ सूझ (सुधी) ही नहीं रहती। केवल दूसरे की हानि (नुकसान) करने पर ही यह मन तुला रहता है और बहुत प्रकार की छल कपट वाली नीति को मन में बसाता है और विचित्र प्रकार के संसार में कर्म करता है जिससे उसका मन बाहर के ढंग से प्रसन्न हो। परन्तु इसका परिणाम या अन्त भी पुनः विचित्र ही होगा जिसे कि कोई भी मनुष्य नहीं चाहेगा और किसी की कल्पना में भी है नहीं। इसीलिये विचित्र कहा गया है।

हर इक कर्म में यदि हाजिर रहे मन,
चाह, अचाह का वा हो, खींचे न बन्धन।
उस स्मृति से सुख होगा, सदा मन में अगाध;
आसन पै हो, वा, सब में, नहीं कहीं उसका बाध।।
। ११२ ।

जब गत पद्य में दर्शायी गई स्थिति मन की हो तब सब से अधिक मन की उपस्थिति रखते-रखते अपने कर्तव्य की स्मृति बनी रहनी चाहिए। और यह स्मृति सदा बनाये रखने के लिये सब कर्मों को ही मन की उपस्थिति रख कर और

卐卐

अपनी स्मृति (याद) को ठिकाने रख कर ही करने का अभ्यास करना चाहिये। यदि यह स्मृति न हुई तो इससे विपरीत सब कर्म पूर्वाभ्यास (आदत) से ही होंगे जिन को मन बाह्य काम (इच्छा) के सुख में खोया-खोया या भूला-भूला ही करता रहेगा; और उससे कभी भी सम्भलने का अभ्यास या ज्ञान नहीं बन पायेगा। जल्दबाजी में सब कुछ मिथ्या या हानिकारक ही होगा और उससे बचने, सम्भलने का सत्य ज्ञान भी जन्म नहीं पायेगा; क्योंकि यही स्मृतिहीन होकर कर्म करने वाला मन सन्मार्ग के पक्ष का ध्यान तक भी नहीं कर सकेगा। मिथ्या बाहर की कामनाओं को पूरा करने के ध्यानों में ही उलझा रहेगा। ऐसे मन को जो कि आदन से ही भटकने वाला है, उसे प्रथम मन की उपस्थिति और स्मृति रख कर कर्म करने की आदत ही सम्भलने के लिये बल देगी। इसी सब आशय को मन में रखते हुए यह पद्य दर्शाता है कि :-

पद्यार्थ :- प्रत्येक कर्म में यदि मनुष्य उपस्थित रह कर, नहि कि स्वार्थ में भूला हुआ खोया रह कर कर्म करेगा तो उसे कोई भी जगत् के दृष्टि, संशय, कर्तव्य सम्बन्धी मिथ्या परामर्श (विचार), राग, द्वेषादि बन्धन नहीं खींचेगे; अर्थात् उससे मिथ्या कोई भी कर्म नहीं करवा सकेंगे जोकि उसकी भलाई के मार्ग को रोके। यह प्रत्येक कर्म भले अपने मन की रुचि का हो या अरुचि का। अपने को संयम (काबू) में रखने के कर्म पहले-पहल मन की रुचि के नहीं होते। और भी कई एक कर्म जो कि मोक्ष मार्ग के हैं, ध्यान आदि इन सब को बिना कर्तव्य की स्मृति के नहीं किया जा

卐卐

सकता। निद्रा को उचित ढंग से रोककर आसन आदि का अभ्यास ये सब चाह के बिना भी स्मृति रख कर ही किये जाते हैं। यदि स्मृति नहीं रही तो राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि बन्धन या बान्धने की शक्तियां खींच करती हैं। जब ऐसी स्मृति मनुष्य के स्वभाव में खप जाये, या प्रतिष्ठित हो जाये तो मनुष्य के मन में सब कर्म करते हुए मन की उपस्थिति रूप एकाग्रता का अगाध सुख होगा, चाहे वह अपने आसन पर हो या सब मनुष्यों में विचरते हुए हो। और उस सुख का कहीं भी बांध या रुकावट नहीं होगी।

पद्य का भावार्थ :- जब मन की उपस्थिति रख कर तथा अपनी याद को ठिकाने रख कर प्रत्येक कर्म किया जाता है तो ज्ञान (मालूम) होने लगता है कि पहला आदतों वाला बचपन से बल पकड़ा हुआ मन भी वही अपनी लीला के लिये शीघ्रता (जल्दबाज़ी) करवाने को प्रेरित्त कर रहा है। जब आप शान्त होकर कर्म करने का अभ्यास करेंगे तो थोड़ा टिकाव वाला मन यह सत्य भी अनुभव में लायेगा कि जिनके लिये मन तुला बैठा रहता है वे सब आदत से अच्छे तो लगते हैं परन्तु उनकी प्राप्ति या आनन्द कुछ अधिक महत्त्व (कीमत) का नहीं है। जब उनकी खींच या उनसे सम्बन्ध रखने वाला संसार के सुखों का बोझा थोड़ा-थोड़ा विचार ने हल्का कर दिया तो मन में प्रत्येक कर्म करते-करते आनन्द हुआ करेगा। उस (स्मृति वाले) व्यक्ति का प्रत्येक कर्म शान्ति में होगा, वाणी शान्त शब्द बोलेगी और मन भी उतावलापन से टल कर स्थिरता का सुख अनुभव करेगा।

यह सब सांसारिक सुखों के अधिकार या ऐश्वर्य के

संस्कार मनुष्य को प्रचलित विश्वासों के अनुसार बाँधना चाहेंगे। यदि ज्ञान चेतन रहा, जागता रहा और उन सब को त्यागने का दुःख भी मन सहन करता रहा परन्तु उनके परिणाम दुःख आदि देख कर बुद्धिपूर्वक और स्मृतिपूर्वक अपने को दुःख में सम्भाले रख सका तो कोई भी वहाँ न तो संस्कार रह सकेगा, और न ही उनसे होने वाला छन्द और काम, क्रोध आदि विकारों का क्लेश ही टिका रह सकेगा। यही ज्ञान या मतिपूर्वक त्याग के दुःख में मन चण्ड (तीव्र या तीक्ष्ण) सा होगा। इसे ही चण्डि का चेतना कहा गया है। बुद्धिपूर्वक त्याग के दुःख सहन करने में चण्ड या प्रचण्ड होने में ही इसका तात्पर्य है। वहाँ शिथिल यत्न से काम नहीं चलता। यही इसका तात्पर्य है।

पाछे जा के जग भटका, हुआ पर हताश,
जो पाया न हुई उसकी उदासी का क्यों नाश।
संस्कार क्षण भर ही निज का बल दिखलाये;
जैसे चेती चण्डिका नज़र न कोई भी आये।।
। ११३ ।

विपरीत छन्द (इरादा) और सब बाह्य सुख हेतु काम आदि विकारों की उलझन से निकलने के लिये गत पद्य में मन की उपस्थिति और स्मृति की आवश्यकता दर्शायी गई थी।

अब इस पद्य में ज्ञान के साथ या मतिपूर्वक बाह्य विषयों के सुख को टालने के लिये सब बाह्य सुख के संस्कारों से होने वाली स्मृति या यादों में अपने आपको विवेक और बुद्धि से सम्भाले रखने में मन को तीव्र बनाने का सुझाव है। जिससे वे विषय सुख के संस्कार मनुष्य को अपने वशीभूत न बना सकें। इसी मतिपूर्वक अपने को

विषय सुख में तीव्रता के साथ सम्भाले रखने को यहाँ 'चण्डिका' शब्द से कहा गया है।

पद्यार्थ :- जगत् में प्रचलित विश्वासों के अनुसार बालपन से ही मनुष्य उन सब सांसारिक सुख, अधिकार आदि के पीछे सुख समझकर संघर्ष में पड़ जाता है परन्तु जितनी उसकी आशा उन को पाने की है वह सब तो इतने लम्बे चौड़े संसार में किस की पूरी होगी ? अधिकांश में तो मनुष्य की आशा मरती ही है। वह अपने को पूर्णतया सफल नहीं कर पाता।

और भी, यदि ये बाह्य सफलताएं पूर्ण भी हो जायें तो भी इन से सुख के स्थान पर अधिक दुःख और उलझनें ही बढ़कर मनुष्य को परेशान करती हैं। वैर, विरोध, शंका, भय, विपरीत कर्मों में उलझन आदि सब इस बाह्य सफलता के साथ बंधे हैं। न पाने से जो उदासी है वह तो पाने पर ही नष्ट होती है। परन्तु उसके साथ-साथ पीछे अन्य कई एक उलझनें तो दुःखी किये बिना नहीं छोड़ेंगी।

और यदि, यही जगत् की भटकना का पदार्थ उसे नहीं मिलता तो मन तब भी उदास रहता है। बिना विवेक के उसका त्याग तो बनता नहीं; उसके संस्कार मन को खिन्न, दुःखी बनाये रहते हैं। परन्तु ये संस्कार तो क्षण-क्षण में स्वयं नष्ट होते रहते हैं। इनका बल क्षण मात्र ही है। परन्तु सत्य ज्ञान या सत्य दर्शन करवाने वाली मति चेतनी चाहिये, जो कि इन सब बाह्य सुखों का थोथापन प्रकट करे और तब मन उन सुखों के त्याग को चण्ड मन से सहन करता रहे।

ॐ इति साधन समृद्धि वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ ध्यान समृद्धि वर्ग 卐

दुःख की जगह पै हो जो दुःखते का ज्ञान,
मिटे जैसे दुःख होवे, उसका न भान।
मिटे भले दुःख सादा ज्ञान न मिट मरे;
अक्षर न होना दिखावे वह कैसे क्षरे? । ११४ ।

सब संस्कारों का उपशम (शान्ति) होने पर तथा संस्कारों द्वारा जन्माये गये विपरीत छन्द और क्रोध आदि विकारों के शान्त होने पर यह नहीं कि मनुष्य शून्य सा होकर मुर्दा जैसा होगा, किन्तु मुक्त स्वरूप अनन्त (नाश रहित) ज्ञान रूप चेतन के आनन्द को नित्य रूप से पायेगा। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जैसे किसी शरीर के अंग में दुःख या पीड़ा हो या खुजली का ही कष्ट हो तो वहाँ उस अंग के दुःखने का ज्ञान होता है; जिससे वह मनुष्य यह कहता है कि 'मेरे अमुक (फलाँ) अंग में दुःख या पीड़ा है'। परन्तु जैसे-जैसे समय पाकर वह दुःख मिट गया तो उस दुःख का भान या प्रतीति तो वहाँ नहीं होगी। खुजली वाले स्थान पर भी दो चार मिनट सहन करने से खुजली मिट जायेगी; खुजली या दुःख ही मिटेंगे; परन्तु शुद्ध, केवल, सादा ज्ञान वहाँ न मिटेगा, न मरेगा ही। इसका यह तात्पर्य है कि दुःख या खुजली मिटने पर मनुष्य कहता है कि 'अब खुजली या दुःख नहीं रहा', वह दुःख के न होने को अनुभव करके सुखी भी होता है। तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि सामान्य ज्ञान जो हर क्षण चेतता रहता है, जीवन देता है, वह अक्षर

है; वह कभी भी क्षरता नहीं अर्थात् नष्ट नहीं होता। इसलिये वह दु:ख के न होने का भी साक्षी रूप में बना रहता है। वह कभी भी नहीं टरता। परन्तु यदि सांसारिक तृष्णा का सुख ही मन में बसा हो तो पुन: यह सादा ज्ञान उसी से ढका रहता है। जब यही अविद्या का पर्दा तृष्णा के साथ मन से उतरे तभी वह अनन्त रूप से प्रकट भासेगा; वह गया कहीं नहीं, परन्तु तृष्णा से मुक्त मन होने पर प्रकट भासेगा या अनुभव में आयेगा। सांसारिक तृष्णा से मैल युक्त तथा अन्धकार युक्त मन में भी यह बैठा है परन्तु ऐसे मैल वाले मन में इसका सुख या आनन्द प्रकट नहीं भासता। 'अक्षर न होना दिखावे वह कैसे क्षरे', इस पद्य की पंक्ति का यह भाव है कि जब संसार का कुछ भी मैल या अन्धकार, तृष्णा या अविद्या रूप में नहीं रहा तो इस इनके 'न रहने' को भी प्रकट करने वाला ज्ञान देव या चेतन आत्मा कभी भी क्षरता या मिटता नहीं। वह तब उन सब सांसारिक तृष्णा के बन्धनों के 'न होने' या अभाव को प्रकट दिखाता हुआ अपने आप में सदा आनन्द या सुख रूप से झलकता हुआ अपने अज़र (ज़रा रहित), अमर (मरण रहित) भाव को चमकाता रहता है। यह नित्य है, काल भी इसमें नहीं दिखाई पड़ता।

रहे सब से अच्छा केवल दु:खों का ही ध्यान,
दु:ख की पहचान, व्यापक दु:ख का भी ज्ञान।
इससे कम से कम बना रहेगा तो इन्सान;
सुखों के पाछे लागा तो हो सके भी हैवान।।
। ११५ ।

卐卐

गत प्रकरण का अभिप्राय केवल उसी सत्य को दर्शाता है कि जिस दुःख को मनुष्य नहीं चाहता, उस सब दुःख की जड़ है, 'बाह्य सुख की बैठी·या बसी हुई तृष्णा'। उसी तृष्णा के कारण मनुष्य हर समय अपने उस बाह्य तुच्छ सुखों के ध्यान में पड़ा-पड़ा उसी के पाने और रक्षा करने के आयोजनों (दलीलों) में उलझा रहता है। परन्तु इस प्रकार मिथ्या सुख के ध्यान और उन्हीं के अनुसार बाहर की चर्या या जीवन उसके भले के लिये नहीं है। इसलिये यह पद्य उस दिशा से मन को मोड़कर सुख के ध्यान की बजाये दुःखों के ध्यान का सुझाव सम्मुख उपस्थित करता है, क्योंकि दुःख कोई भी जीव नहीं चाहता। जिसको कोई नहीं चाहता ऐसे उस रोग को समझकर तथा उसकी जड़ या मूल काटने के लिये उस दुःख रूप रोग को उसके कारण सहित पहचानना और समझना आवश्यक है। इसलिये सब से उत्तम दुःखों को समझने के लिये दुःखों का ध्यान ही प्रथम उत्तम है। इसी वार्ता को यह पद्य दर्शा रहा है। जो भी दुःख मन महसूस करे उसमें मन को जोड़कर उसे भली प्रकार समझने की चेष्टा करना कि यह क्या क्लेश है ? यही दुःखों के ध्यान का तात्पर्य है। पुनः उस दुःख की जड़ या कारण तक की खोज भी ध्यान में करके उसके कारण को मिटाकर उस दुःख की जड़ ही काट डालना यही सबसे उत्तम दुःख रूपी रोग की चिकित्सा है। ये सब भाव दुःखों के ध्यान में शामिल हैं।

सब बाह्य सुख सम्बन्धी ध्यानों से उत्तम तो केवल दुःखों की जड़ काटने में सहायता देने वाला केवल दुःखों

का ही ध्यान है, जिससे कि वैरी स्वरूप दुःख और उनके कारण या जड़ की खबर या ज्ञान प्राप्त होगा; पुनः जड़ सहित उस दुःख को मिटाने के उपाय की खोज हो सकेगी।

दुःख के ध्यान से दुःख को खूब समीप से जान कर तथा पहचान कर पुनः अन्य जीवों के व्यापक या सब में फैले हुए दुःख को भी जानना जिससे कि उन सब जीवों के भी इसी दुःख के कारण व्यवहारों और बाध्यताओं (लाचारियों) का भी ज्ञान हो और उनके प्रति उचित बर्ताव करने का भी बल प्राप्त किया जा सके। मैत्री, दया आदि गुणों को उपजाकर उनकी कमजोरी में अपने आप को सम्भाला जा सके तथा अपने आप में बल उपजा कर उनका भी भला सोचा जा सके। उनकी कमजोरी के बर्तावों आदि से चलायमान न होकर क्षमा आदि गुणों को न छोड़ते हुए इन्हीं अपने गुणों द्वारा उनको भी शिक्षा का निदर्शन (मिसाल) रूप से अपने आप की मिसाल उपस्थित की जा सके।

जब हम उनके दुःख को भी पहचानेंगे तो हमें मालूम होगा कि जैसे हमारा दुःख हमारी बुद्धि भ्रष्ट करके बाहर जगत् में अनुचित कर्म करवाने के लिये बाध्य (लाचार) करके उकसाता है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी वही दुःख सब अनुचित कर्म करने में प्रेरित (उकसाना) करता है। ऐसा समझने से मनुष्योचित (मनुष्य के योग्य) कर्म या वैसा ही बर्ताव करने से मानवता (इन्सानियत) का भाव बना रहेगा। यह भाव अन्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में नहीं

हो सकता। वे तो अपने सुख दुःख से प्रेरित होकर अग्नि में भी जलते हैं जैसे पतंगा, और क्रोध में काटते हैं, लड़ते हैं, मरते हैं। उन में मनुष्योचित (मनुष्य के योग्य) विवेक या दया, क्षमा आदि का भाव विकसित नहीं हो सकता।

यदि यह मानवता (इन्सानियत) का भाव उस अपने दुःख के तनाव में न रह सका या बन सका तो मनुष्य भी पशु (हैवान) ही जैसा होगा। ऐसे भावों में मरने पर उसे मनुष्य की बुद्धि नहीं मिलने से विपरीत चौरासी के चक्र में ही पड़ना पड़ेगा। यही शास्त्रकारों ने भाव दर्शाया है। जैसे भाव में मरा वैसा जन्म होगा। विवेक, बुद्धि, दया, क्षमा, मैत्री आदि भाव व्यापक रूप से अर्थात् सब के दुःख के प्रति रखने पर कम से कम मनुष्यपने की बुद्धि बनी रहने से, और कुछ अधिक न भी हो तो भी मनुष्य तो अवश्य बनेगा ही। यदि इसी उत्तम भाव के अनुसार उत्तम सब कर्म भी हैं तो ध्यान, ज्ञानादि द्वारा ऊपर के स्तर के देव लोक, ब्रह्म लोक आदि भी वह अपने तप, भाव भक्ति और ज्ञान को बढ़ा कर पा सकेगा। इसलिये संसार के सुखों की मिथ्या दृष्टि के ध्यानों को छोड़कर सही ध्यान तो दुःखों का ही है जिससे इनका कारण सहित ज्ञान होकर इन को मिटाकर अपना भला सध सकेगा और अन्त में सब दुःख अपने आप में देखते-देखते मिटने पर आत्मा या चेतन स्वरूप ब्रह्म का नित्य सुख भी अनुभव में आयेगा। यदि यह मानवता का बुद्धिपूर्वक उत्तम भाव न रहे तो केवल अपने सुख और दुःख के अनुसार साधारण जीव जन्तु के समान केवल प्रकृति की काम, क्रोध, भयादि पूर्ण उत्तेजनायें (जोश) ही हैं जो कि

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

जीवों को सब प्रकार के बुरे कर्मों में डालकर उसे दुःखी करती हैं। इन प्रकृति की उत्तेजनाओं के साथ मनुष्य में होने योग्य बुद्धि भी खो सकती है जिससे पुनः मनुष्य जन्म भी दुर्लभ हो सकता है। इन सब सुख दुःख की उत्तेजनाओं के सामने अपनी उत्तम बुद्धि और क्षमा, दया, मैत्र्यादि के भाव बनाये रखने से ही उत्तम गति प्राप्त हो सकेगी।

दुःख के ध्यान से हो दुःख कारण का भी ज्ञान,
ता से प्रेरित मन करे, हान का अभियान।
दुःख की प्रतीति संग निखिल विकार;
बुद्धिपूर्वक टारे, सर्व दुःख परिहार।। ।११६।

गत पद्य में सूचित विषय को ही यह पद्य स्पष्ट करता है। यदि मनुष्य अपने अवकाश में व्यर्थ के बाह्य सुखों के ध्यान और दलीलों को छोड़कर आ पड़ने वाले दुःखों का ध्यान करता है तो उसे उस दुःख में मन स्थिर करके उस दुःख का ध्यान या अध्ययन करने पर उस दुःख का सही-सही ज्ञान होगा कि यह दुःख का क्या स्वरूप है ? और इसके साथ-साथ इस दुःख को उत्पन्न या रचना करने वाला कारण कौन है ? इससे उस दुःख के कारण तथा जड़ का भी ज्ञान हो जायेगा। जैसे कोई जन नशे में पड़ जाये अर्थात् उसे नशा पीने या खाने की आदत बन जाये तो जब कभी वह नशा या तो किसी रोग वश या अन्य कारण से बरता न जा सके तो उस प्राणी को उसके वियोग का दुःख अवश्य प्रतीत होगा। वह उसी की ओर लपके रहने वाले मन से परेशान रहेगा। प्राकृत (साधारण प्रकृति वाला) जन तो उसी के पाने के ध्यान करेगा, उसी में खोया

रहेगा, परन्तु विचारवान् जन उस नशे के वियोग से होने वाले दुःख को ध्यान में अध्ययन करके प्रथम उस दुःख को पहचानेगा कि यह दुःख क्या है ? नशे बिना मन का न लगना, उसके बिना मन का कष्ट महसूस करना, उसके बिना मन की प्रसन्नता न होना, उस प्रसन्नता बिना किसी से उचित व्यवहार भी न कर सकना, बाहर मिथ्या जीवन की प्रेरणा होना इत्यादि-इत्यादि सब ध्यान में इसके दुःख और उसके साथियों (दुःख के संग रहने वालों) का ज्ञान भी होगा। और यह भी ज्ञान होगा कि ऐसे जन का समय भी पुनः नहीं कटता यदि उसके आदत वाली वस्तु का संग या सुख प्राप्त न हो। परन्तु उस वस्तु का संग तो भयंकर दुःख का कारण बनता है। ऐसी अवस्था में विचार रहित तथा असंयमी जन न इधर का रहे न उधर दूसरी ओर का ही। उस आदत वाली वस्तु या उसके संग की दासता इतनी बढ़ जाती है कि चारों ओर सब जीवों से भरा हुआ यही जीवन का सागर रूप परमात्मा या उसकी सृष्टि की ओर मन झाँकता तक भी नहीं जिसमें कि बालपन से जीव सुखी होता हुआ पला है। यही अज्ञान का पर्दा है। जब पुनः इस सब दुःख के कारण का ज्ञान होगा कि जब यह नशा नहीं था तो कभी भी इसके बिछोड़े का दुःख नहीं था। अब इसके बरतने के दोष (इल्लत) के कारण यह मन ऐसा बन्ध गया है कि इसके बिना जीवन भारी हो रहा है। यदि यह न होता तो (इस दुःख को देखते हुए) पहले सुख ही सुख था। इसलिये अभी भी मैं किसी दूसरे छोड़कर सुखी हुए जन के निदर्शन (मिसाल) से प्रेरित होकर इसे छोड़ दूँ

तो इसी के समान मैं भी पुनः सुखी हो जाऊँगा। इस प्रकार दुःख के कारण का ज्ञान होने से उसे कारण सहित दुःख को मिटाने की प्रेरणा (करने का भाव) वाला मन भी तैयार हो जायेगा और उस दुःख के कारण की हानि करने के लिये आगे प्रयत्न या उद्योग भी करेगा। इसी प्रकार उस अपने दुःख के साथ-साथ विषयों के सुख की इच्छा या काम और लोभ तथा सुख न मिलने या प्राप्त होने पर क्रोध आदि विकार जो हो रहे हैं वह सब जाने जायेंगे और जानने पर ज्ञानपूर्वक दुःख पा कर भी कटु औषध के सेवन के दुःख के समान उस खोटी आदत के त्याग के दुःख को भी सहन करके सब काम, क्रोध आदि विकारों को भी ज्ञान के साथ टालता ही जायेगा। और उनके टालते-टालते एक दिन उस नशे की आदत से मुक्ति के समान सब संसार की तृष्णा के दुःखों से मुक्ति भी पा जायेगा। यही दुःख का परिहार (त्याग) है अर्थात् अत्यन्त (बिल्कुल या पूर्ण रूप से) उन दुःखों से विमुक्ति या छुटकारा है।

आसन पै टारे और टारता ही जाये,
रहे चाहे एकाकी व सभी में सुहाय।
शील को रखाये और मन को बचाय;
निर्मल बुद्धि राखे, दुःख सुख न बुझाय।। ।११७।

गत पद्य में दर्शाया गया कि दुःख में मन को स्थिर करके दुःख को पहचाने, दुःख से भागे नहीं, दुःख से झटपट भड़क कर सुखों की याद में न खोया रहे। इस प्रकार दुःख के ध्यान करने से उसके कारण या जड़ की भी खबर लगेगी। दुःख से भागने पर कैसे दुःख रूप रोग

समझ में आ सकेगा ? जब उस दुःख रूप रोग का ज्ञान हुआ और उसका कारण भी समझ में पड़ गया तो अपने आप ही मन दुःख से बचने या उसको मिटाने के लिये प्रेरित (कुछ करने के लिये तैयार) होगा। और दुःख में मन स्थिर करने पर उस मन में जो क्रोध, द्वेष और मिथ्या दूसरों की वैरी आदि की दृष्टियां आदि विकार उपजेंगे उन सब को सही ज्ञान जगा-जगा कर बुद्धि या समझ के साथ-साथ टालता जायेगा, अर्थात् उनके बहाव में बह कर पुनः संसार में ही सुख के लिये अनर्थ में या व्यर्थ कर्मों के चक्र में पड़ कर अपने दुःखों को और नहीं बढ़ायेगा। विपरीत इसके उन सब विकारों को साक्षी भाव से, धैर्य के साथ देखते-देखते टालता जायेगा। ऐसे टालने पर जब मन को परेशान करने वाले विकार शान्त हो जायेंगे और पुनः ज्ञान से मनुष्य यह समझकर कि पहली आदत के सुख पुनः देने से और भी तृष्णा बढ़ कर दुःख ही बढ़ायेगी। इस प्रकार समझता हुआ काम, क्रोध आदि जो कि आदत के सुख को पाने के लिये होते हैं, उन सब विकारों का आज्ञाकारी दास न बन कर काँटे के लगने के दुःख जैसे उन सब विकारों के दुःख को सहता जायेगा। मन तो क्षण-क्षण बदलता ही रहता है, इसकी एक जैसी दशा तो टिकती नहीं, इसलिए समय पाकर दुःख में स्थिर रहने पर मन में यह काम, क्रोध और संशय आदि सब विकार टल ही जायेंगे और इन्हीं के रूप में बसी रहने वाली तृष्णा भी साथ ही साथ मिट जायेगी। और पुनः सत्य ज्ञान से संभला मन हल्का हो जायेगा। विषय की तृष्णा भी, सत्य ज्ञान के

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

कारण, पूरी न होने पर भी समय पाकर टल जायेगी। तब सब दुःख का परिहार (टलना) होने पर मन शान्त हो जायेगा। यही इन दो पद्यों का तात्पर्य है।

शब्दार्थ :- चाहे मनुष्य एकान्त में बसे या समाज में सब के साथ हो, जब-जब विकार जन्में, याद को ठिकाने रख कर उन को टालता ही जाये और इन विकारों के झुकाव के अनुसार इन का दास बन कर इनकी आज्ञा पालन न करे। परन्तु विकारों की दशा में कामी या क्रोधी मन बाहर सही बर्ताव नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में बाहर सब सही बर्ताव यत्न से रखे। मान आदि या अहंकार इत्यादि बन्धन इसी व्यक्ति को दुःखी करने का बर्ताव भी कर सकते हैं। इच्छा अधूरी रही हुई मन को राक्षस जैसा बना देती है। इससे बच कर सही बर्ताव करे। यही शील को रखना है। विकारों के शिकार बनने से मन को बचाये और बुद्धि में दूसरों के अपराध भी न बसाये या समझे। दूसरों के अपराध को सोचता हुआ बुद्धि द्वारा उनके विपरीत या वैरी जैसी दृष्टि (नज़र) न बनाये, यही बुद्धि को निर्मल रखना है। एक ही ज्ञान स्वरूप सदा चेतते रहने वाला चेतन रूप परमात्मा या ब्रह्म ही सब को पहचानने का भाव बनाये रखे। यही ब्रह्म दर्शन बुद्धि की निर्मलता है। विकारों के साथ यह बुद्धि नहीं बनती, इसलिये यत्न से दुःख में व परेशानी में भी स्मृति टिका कर ही यह मति बनानी पड़ती है। अधिक दुःख सुख को बूझने या समझने में मन को न रखे अर्थात् 'दुःखी हूँ' या 'पहले यूँ यूँ सुखी

था', इस प्रकार अधिक इन्हीं को बूझने में न खोया रहे। इस प्रकार सदा सब में व अकेले में अभ्यास करे। पद्य की प्रथम पंक्ति में जो कहा कि 'आसन पर टारे और टारता ही जाये', इसका तात्पर्य यह है कि दुःख और दुःख में होने वाले अधीरता, क्रोध या चिढ़ आदि भावों को क्षण-क्षण मन को सम्भालने का यत्न रखता हुआ टाले। और हर क्षण जैसे-जैसे विकार सन्मुख पड़ें उसमें अपना धैर्य बनाये रखे। और यूँ समझे कि इस दुःख से मैंने बचपन से लेकर अब तक कितने बड़े दुःख भी ज्वर आदि के देखे हैं, यदि उनमें धैर्य नहीं खोया और भुगता दिये गये तो यह प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय वस्तु प्राप्ति का दुःख भी कितना है ? ऐसा मन में दृढ़ता और धैर्य रख कर क्षण-क्षण उन्हें जाने और जानता हुआ ही टालता जाये, उस समय निद्रा का सुख भी गिनती में न लाये। क्योंकि जो मन इन सब तृष्णा के विकारों को उपजाता है वही मन विकारों को रोकने पर या रोकने का यत्न करने पर निद्रा रूप में छिपा रहता है। ऐसी विकारों की दोष वाली निद्रा का सुख लेना उत्तम नहीं है। जब ऐसी निद्रा को भी हटा कर मन तृष्णा के विकारों से रहित रह सका तभी इन से मुक्ति का सुख अपनी आत्मा में प्रकट भासेगा। यही परमानन्द की अवस्था है। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि एक ही दिन में कहीं पूर्णता पाने की नहीं है। निद्रा आदि को जीतने का अभ्यास भी बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ धीरे-धीरे ही करने का है। यह बात नहीं कि निद्रा को एकदम या अत्यन्त वैरी

जैसे समझना है, परन्तु यह भी नहीं कि जब-जब निद्रा की प्रतीति हो तभी-तभी इसको आत्मसमर्पण कर देना है। जब आवश्यक हो तो इसे रोक कर अभ्यास में रहना है। जो भी इसके रोकने में संशय, भ्रम, भय आदि विकार आयें उन्हें ज्ञान या विचार जगाकर दूर करते-करते निद्रा को अपने वश में करना है। जब चाहिये तभी निद्रा लेनी है।

ऐसा दीर्घ काल बोध संग अभ्यास,
साधे पावन जीवन जो दे आत्मा में वास।
सहज समाधि इसकी खण्डित न होये;
सब कुछ करते, सब में रहते, बुद्धि भी न खोये।।
। ११८ ।

यह पद्य पूर्व पद्य के भाव का परिशिष्ट है, अर्थात् पूर्व कहे गये भाव को पूर्णता की ओर ले जा रहा है।

इस प्रकार दुःख को देखते-देखते उसी में मन स्थिर रखकर बुद्धिपूर्वक सहन करते-करते और उस काल में मन में दुःख द्वारा उपजाये गये काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, संशय आदि विकारों को निद्रा आलस्य के साथ ही टालते-टालते जब आसन आदि पर समय व्यतीत करने की युक्ति और बल मनुष्य के हाथ लग गया तो वह मनुष्य आराम के साथ अध्यात्म मार्ग का अभ्यासी बन गया और एक दिन इसमें पूर्णता प्राप्त करेगा। अब ऐसा दुःख के ध्यान के साथ-साथ ज्ञान और दुःख का सहन और दुःख से जन्माये गये विकारों को टालते जाने का अभ्यास जब स्वभाव से होने लग गया तो अब यह पद्य दर्शाता है, कि ऐसे दीर्घ काल के

卐卐卐

बोध या ज्ञान के साथ अभ्यास से पावन (पवित्र) जीवन सध जायेगा। अर्थात् दिनों दिन, हर मास और सारा वर्ष यह अभ्यास नियम से करने की आदत पड़ जायेगी। यही पवित्र जीवन बन गया। पवित्र जीवनचर्या हो गई और इस पवित्र जीवन से मनुष्य संसार में दूसरों से उलझने की बजाये अपने आप (आत्मा) में ही शान्त होगा, अपने आप में ही वास पायेगा। अधिक अपने को झांकेगा, अपने अन्दर विकारों को पहचानेगा, उनकी उत्तेजनाओं (जोशों) को सह लेगा। उनका आज्ञाकारी दास न बन कर कोई खोटा या मिथ्या कर्म नहीं करेगा। सहन, तप, त्याग उसमें स्वभाव से बैठ जायेंगे। बाहर सही बर्ताव (शील) रहेगा। दूसरे उसकी ओर अंगुली भी नहीं कर पायेंगे। ऐसी स्थिति में उसका आत्मा में ही स्वाभाविक वास होगा। जब आत्मा में ही वास रहा तब संसार में भटकना मिट गई। संसार में मन व्यर्थ की बातों में उलझता नहीं गया तो उसकी अपने आप में होने की समाधि भी कभी न टूटेगी। कार्य से अधिक वह बाह्य (बाहर) कुछ भी समझने के लिये आँख, कान, मन और वाणी आदि को क्यों प्रेरित करेगा ? बिना मतलब कोई भी कोई काम नहीं करता। ऐसी अवस्था में सब में रहते हुए और सब कर्म करते हुए भी इस मनुष्य की बुद्धि भी नहीं खो पायेगी। काम आदि विकार ही तनाव उत्पन्न करके मन, बुद्धि को भटकाते हैं और मनुष्य मिथ्याकारी बन जाता है। जब विकार अपने आप (आत्मा) में ही शान्त होने लगें तो बुद्धि क्यों खोयेगी।

निज में होने लगा, जब निज का भी प्रकाश,
दूजों का भी पता पड़े, दीखे बन्ध पाश।
गुणों के विकास संग मन शक्ति जुटाये;
जीवित मुक्ति पाये, सकल दुःख को मिटाये।।
। ११६ ।

गत पद्य में पावन (पवित्र) जीवन साधने की चर्चा की गई थी जिससे मनुष्य को अपनी आत्मा में वास (स्थायी ठिकाना) प्राप्त होगा। पावन जीवन का अर्थ है कि जो सब हिंसादि पापों से रहित व काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों के प्रभाव में न आने वाला तथा राग, द्वेष, मोह, मान, अविद्या आदि बन्धनों को अतीत करने वाला जीवन। यही जीवन पावन है। इसी से आत्मा में वास मिलेगा और इस वास से जगत् की भागदौड़ वाली थकावट शान्त होगी। अब यह पद्य ऐसे पावन जीवन में उत्साह के बल की वृद्धि के हेतु आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान की आवश्यकता को सूचित करता है। जब सत्य सम्मुख आ जाये तो वह स्वयं मनुष्य को सही मार्ग (रास्ता) अपनाने के लिये प्रेरित कर देता है।

पद्यार्थ :- निज (अपने आप) में जब अपने आप का भी (निज का) ज्ञान होने लग गया अर्थात् जैसे मन दूसरों को तो खूब समझता है परन्तु अपने आप में अन्धेरा ही रहता है, अपनी बुराइयाँ आदि देखने या समझने में उसकी आँख शीघ्र नहीं खुलती। जब यह अपने आप को भी समझने पहचानने की योग्यता हो गई (यही यहाँ प्रकाश शब्द का अर्थ है), तब उसी आत्मा के ज्ञान से समष्टि (अर्थात् सर्वव्यापक जीवन) या सब जीवों के समुदाय का

भी ज्ञान या प्रकाश अपने अन्दर ही होने लगेगा और जब अपने सुख दुःख के कारण राग, द्वेष आदि बन्धन दृष्टि में अपने अन्दर आने लगें तो दूसरों के भी यह दीखने लगेंगे। तब मन इनको टालने के लिये सब प्रकृति के विकार या बन्धन रूप दोषों के स्थान पर वैराग्य, क्षमा, संतोषादि गुण तथा मैत्री, करुणा, मुदितादि बलों को विकसित करेगा और अपने अन्दर ऐसी शक्ति एकत्रित करेगा जिससे वह जीवन काल में ही सब प्रकृति के या जगत् के बन्धनों से छुटकारा (मुक्ति) पा जाये। इससे मुक्ति मिलते ही सकल दुःख भी टल जायेंगे।

भावार्थ :- इस पद्य का भावार्थ यह है कि जैसे कि प्रकृति (संसार की शक्ति) सब पशु, पक्षी आदि जीवों को अपने काम, क्रोध आदि विकारों द्वारा बहिर्मुख करके जगत् में ही नाना प्रकार से जिवाती है; मनुष्य को भी प्रेरणायें या उत्तेजनायें तो उसकी वैसी ही हैं। यदि मनुष्य 'इन सब उत्तेजनाओं (जोशों) के जीवन का अन्त कहाँ होता है ? पुनः किस दुःख में ये सब प्रकृति के विकार मनुष्य को पटकते हैं' ? इस सत्य का पूर्ण ज्ञान या प्रकाश अपने आप में ध्यान से पा जायेगा तो मनुष्य व्यापक, या सर्व जीवों के समुदाय या जीवन का सागर रूप परमात्मा को भी पहचानने लगेगा कि जैसे मुझ में प्रकृति अपने बल से मुझे बाध्य (लाचार) करके, बुद्धि आदि को मिथ्या निश्चयों में डालकर, मन को उत्तेजित करके मिथ्या कर्मों में रुलाये रखती है, ऐसे ही सब जीवों में यही उसका बल सत्य को पाने नहीं देता। जीव बाहर-बाहर भागता है। बाहर ही

उसका ज्ञान, बाहर ही रमण (क्रीड़ा) और अन्त उसका भयंकर दुःख रूप ही है। अपने आप में सही वस्तु का ज्ञान ढके रहना रूप अज्ञान और उसका फल विपरीत कर्मों से होने वाला दुःख इत्यादि सब जीव अपनी दुर्बलता के कारण ही पाता है। जब बाहर जग की पहचान वाला मन अन्दर की बातों और सत्यों को भी समझने लग गया तो अन्दर की अविद्या या अज्ञान टलने लगेगा। इससे सब जीवों की लाचारी की खबर भी पड़ने लगेगी। और साधनारत (साधन में खेलने वाला) मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) पुरुष तब दूसरों के प्रति भी कर्तव्य वाला होकर सब गुण और बल जुटाने लगेगा। प्रकृति के दोष काम या राग के विपरीत वैराग्य गुण, क्रोध और द्वेष के विपरीत क्षमा का गुण, लोभ के विपरीत संतोष, ऐसे ही धैर्य आदि गुणों वाला ही प्रकृति के प्रवाह से निकलने के लिये सतत् (लगातार) यत्न करता रहेगा। और दूसरों की अपने प्रति अवहेलना (लापरवाही) में या प्रकृति के बन्धनों से होने वाले अपराधों में भी दूसरों के अपराध न मानता हुआ क्षमा आदि रख कर वह अपना जीवन परम पवित्र बना ही लेता है और उन सब दूसरों को देखकर उन्हीं के समान वह कभी भी मन की उत्तेजनाओं के वशीभूत होकर कोई मिथ्या कर्म या मिथ्या मन का भाव तक भी नहीं बनने देता। यही उस मुमुक्षु या साधना वाले मनुष्य का अपना मन सबल है। यही मुक्तिदाता है। इस प्रकार एक दिन प्रकृति और जगत् के सब बन्धनों से जीवन काल में ही मुक्त हो जाता है। पुनः उसे कोई भी जगत् का दुःख नहीं व्यापता। सब दुःख

उसका मिट जाता है। दुःख तो बाहर के सुख की तृष्णा बढ़ने का है। सुख के कारण बाहर फैलता हुआ या भटकता हुआ अपना ज्ञान और कृति (करने की शक्ति) अन्त में अपने आप में ऐसी दुःखी होती है कि उसे मृत्यु ही प्रिय जंचती है। जब बाहर से मुक्ति मिली तो आत्मा का अनन्त (अन्त रहित) ज्ञान स्वयं भासता रहता है जिससे यही आत्मा का वास मीठा प्रतीत होने लगता है। परन्तु जब तक तृष्णा बाहर की है, वही आत्मा पर पर्दे का काम करती है। इस ज्ञान के ढ़कने की शक्ति को ही अविद्या के नाम से कहा जाता है।

बाहर जगत् में फैला, भटका, मनुष्य का ज्ञान और कृति (कर्म करने की प्रेरणा या शक्ति) अन्त में इतना मनुष्य को श्रान्ति या थकावट उत्पन्न कर देती है कि उसे निद्रा या मौत ही प्रिय लगने लगती है। जागते रहने की इच्छा तक नहीं रहती, तभी वह सब कुछ पटक कर सो जाता है। यही सब संसार या जगत् का दुःख है। संसार के सुख कभी भी भारी मूल्य के बिना नहीं हैं। इस मूल्य का चुकाना किसी को भी रुचिकर नहीं लगेगा, यदि इसका पूरा ज्ञान किसी को हो जाये। इसी प्रत्यक्ष रूप ज्ञान को यह पद्य दर्शाता है कि 'निज में निज का प्रकाश' जब होने लगे तो ही सब जगत् के जीवन की खबर लगे, और खबर पड़ने पर मन इसी सही ज्ञान से उत्साह युक्त होकर कष्टपूर्वक भी सब गुणों को और मैत्री आदि बलों को उपजा कर इस दुःख से जीवन काल में ही (जीते जी) मुक्त होने का प्रयास करेगा और उस प्रयास से मुक्त

होकर सब दुःख की समाप्ति करेगा।

जब तक भासे दुःख तब लो मन न रमाये,
जहाँ टरे दुःख; तहाँ-तहाँ को ही धाये।
पावन प्रकार से जो टारना न आये;
अभ्यस्त पथ पै तृष्णा खींचे, दुःख को बढ़ाये।।
। १२० ।

गत पद्य में यह चर्चा थी कि अपने आप (निज) का प्रकाश भी जब होने लगे तो सब जीवों को भी फंसाने वाले राग, द्वेष आदि बन्धनों का ज्ञान अपने आप में होने लगता है। बन्धन नाम है बांधने वाली शक्तियों का। कोई भी बन्धनों से बन्धना नहीं चाहता। जब किसी की रुचि के विपरीत उसे कहीं बाध्य (लाचार) किया जाता है तो वह दुःखी होता है। यही बन्धन राग, द्वेष आदि मनुष्य को या साधारण जीव को बांध कर मिथ्या कर्मों में पटक कर उनको दण्ड दिलवाने में कारण बनते हैं। जीव इस दुःख को नहीं चाहता। परन्तु इनके (बन्धनों के) रहते दुःख कभी भी नहीं मिट सकता। इनसे बन्धा प्राणी सम्मुख दुःख को टालने के लिये झटपट छटपटाहट या शीघ्रता में जो भी सूझे वही कर बैठता है।

परन्तु विचार, ध्यान के बल वाला पुरुष अपना सही हित पहचान कर सही मार्ग को ही अपनाता है। झटपट दुःख से क्लेश मान कर जैसा कुछ प्रकृति की उत्तेजना या जोश जो कुछ दुःख से बचने के लिये दर्शाते हैं, वह तो विवेकहीन होने से दुःख तो क्या मिटायेगा, विपरीत इसके दुःख को ही बढ़ायेगा। इसलिये दुःख से बचने का पावन

(पवित्र) मार्ग ही होना चाहिए, जिससे दुःख सदैव के लिये समाप्त हो। इसी सब भाव को यह पद्य प्रकट करता है।

पद्यार्थ :- मनुष्य को बुरा लगना या अनुकूल रूप से न प्रतीत होना ही दुःख शब्द का अर्थ है। जब ऐसी स्थिति दुःख वाली जीव के सामने उपस्थित होती है तो उसका मन इसके साथ रमण नहीं करता अर्थात् इससे दूर भागना चाहता है अर्थात् इसमें अपनी खेल या क्रीड़ा के योग्य हल्कापन प्रतीत (महसूस) नहीं करता जिसमें कि यह आराम से खेलता रहे। ऐसी स्थिति में जहाँ भी, जैसे भी, इसका दुःख टल सकता हो उसी दिशा में भागता है। वहीं के संस्कार जगाता है। तो अधिक करके संसार के ही राग, द्वेष, काम, क्रोध वाले मार्ग को या ढंग को पूर्व के अभ्यासों या आदतों से झटपट अपनाता है, जिससे कि दुःख और भी बढ़ता ही है और बाहर का सुख सदा रहता भी नहीं, परन्तु इस दुःख को मिटाने का पवित्र मार्ग नहीं जानता। जब सदा के लिये दुःख को मिटाने का व्यवस्थित मार्ग (सिलसिलेवार) नहीं जानता तो आदत से पहले वाले संसार के उपायों वाले पथ (मार्ग) पर ही उसे तृष्णा खींचती है। केवल खींच है खाने पीने में, व्यक्तियों की संगत में, मिथ्या कई एक प्रकार के कर्मों में जो कि समय पाकर एक दिन एक भी नहीं बन पायेगा। ये सब बाहर के ही उपाय हैं। केवल अपने आप में ही या आत्मा में ही दुःख टालने के लिये तो आत्मा में ही ठिकाना होना चाहिए, वह तो गुणों और बलों की भक्ति से ही सम्भव है। यही इन्हीं वाला जीवन पावन (पवित्र) होगा। यदि यह स्वभाव से ही आ गया

卐卐

या बन गया तो केवल आत्मा में ही शान्त होना सम्भव है जो कि संसार से मुक्ति और आत्मा का वास आदि शब्दों से शास्त्रों में कहा गया है। यदि यह न बना या साधन करने में न आ सका तब तो पुनः वही बालपन से अभ्यस्त (आदत में लाये गये) उपायों से संसार में ही होना या धक्के खाना पड़ेगा। मरने पर पुनः जन्मना पड़ेगा। यह सब कभी भी समाप्त होने वाला नहीं है।

ॐ इति ध्यान समृद्धि वर्ग ॐ



卐卐卐

卐 अथ जीवन शुद्धि वर्ग 卐

रहे निज का बोध तो मन निज में रम जाये,
कुछ करने की भी सूझ हो, तो पूरा जीवन पाये।
जग के सुखों संग दोष, दुःख व विकार;
जूँ-जूँ दीखे, बोद्धा मन सोचे जाना पार।।

। १२१ ।

गत पद्य में यह चर्चा थी कि दुःख को प्रतीत करने वाला मन अपने आप में नहीं लगता; इसी को कहा गया था कि दुःखी मन का रमण नहीं होता। जब दुःख में रमण नहीं है तो तृष्णा उसे पुराने जगत् के ही प्राणी और पदार्थों के संग वाले सुख की वासनाओं को स्फुरित करके उधर ही खींचती है। परन्तु यदि पावन, दुःख मिटाने का मार्ग मिल जाये तो पुनः संसार में उस जीव को होने की तृष्णा (भव तृष्णा) न रहे।

यह पद्य उसी पावन प्रकार वाले जीवन को ही दर्शा रहा है और उसमें मन के रमण को बताता है।

पद्यार्थ :-जैसा यहाँ जगत् में सुख पाने के लिये मन सदा बाहर के ही पदार्थों के ज्ञान में सदा भटका रहता हुआ जीवन व्यतीत करता (बिताता) है, ऐसे ही यदि वह मनुष्य अपने आप के बोध (ज्ञान) में संलग्न रहे तो उसका मन अपने आप को जानने में रमा रहेगा। अपने आप को जानने में लगा-लगा समय को सुखपूर्वक व्यतीत करेगा। और यदि कुछ अपने आप को समझ बूझ कर कुछ अपनी पवित्रता (सफाई) की भी सूझ (सुध) रही तो पूरा जीवन ही पायेगा। अर्थात् उसे पवित्र जीवन का रास्ता मिल

जायेगा कि जीवन को कैसे चलाना है ? कैसे ढालना है ? खाने, पीने, सोने, जागने, इन्द्रियों और मन बुद्धि आदि सब की चेष्टाओं की अपने को खबर रहनी चाहिए। शरीर आदि के कर्मों के पुनः सुधार में यत्न भी बना रहे। अर्थात् शरीर, वाणी और इन्द्रियों से मिथ्या कर्म न होकर सब सही या बन्धनों से छुड़ाने वाले भले कर्म ही बनें। जब यह अपने अन्दर के ज्ञान वाला या बोध वाला होगा तो उसे यह खबर भी मिलेगी कि जिन संसार के सुखों में मेरा मन अटक रहा है उनके संग में क्या दोष है ? जगत् का सुख सदा रहता नहीं; समय या आयु के परिवर्तन के साथ-साथ सुख के स्थान पर रोग, वैर, संघर्ष आदि शोक और दुःख को ही जन्माते हैं। और इन सुखों के संग वाली 'मैं' या पहले की आनन्द वाली आत्मा भी वह इनके न रहने पर कभी भी नहीं मिलती; पुनः इनकी तृष्णा के काम, क्रोध, लोभादि विकार मन को घेरे रहते हैं और दुःखी करते हैं। ऐसे और भी बहुत से राग, द्वेष आदि बन्धन विकार जैसे-जैसे बोधा (जानने वाला या बोध वाला) मन समझेगा और इनके संग की तृष्णा पूरी करने पर या अधूरी छोड़ने पर दुःखों को पहचानेगा, तो इन सबसे स्वयं ही पार जाने की सोचेगा कि जिस प्रकार से दुःखों से पार पाने का यत्न हो सके वही सब साधन किये जायें और उसके लिये भले अल्प दुःख भी क्यों न हो। राग आदि उन सब बन्धनों को यदि वही आदत वाला सुख मिले तो मन प्रसन्न हो, तभी वह अपनी 'मैं' आदत वाली को आनन्दमय पाये। बदलते हुए समय के अनुसार सुख यदि बिछुड़ गये तो वह पहले वाली 'मैं' या आत्मा (अपना आपा) पर भी पर्दा पड़ गया;

अर्थात् जिस सुख वाले अपने आपे को यह सब लोगों में बनी, बसी समझ रहा होता है वह सब समय के अनुसार आदत के सुख न रहने पर प्रतीत करने में या महसूस करने में भी आती। अपनी 'मैं' का नाश सब से बड़ी हानि है जिसे कोई भी सहन नहीं कर सकता। इसी कारण से जीव का उन सब आदत के सुखों के चिन्तन में खोया हुआ मन अज्ञान के अन्धकार में पड़ा-पड़ा दुःखी होता रहता है; अपने आप में रमण नहीं कर पाता; अर्थात् अपने आप में आनन्द नहीं पाता। परन्तु तृष्णा न छूटने के कारण उसी से आक्रान्त (घिरा हुआ) मन संसार की सुख की झांकी या साधारण देखने सुनने की जगत् की सब ओर फैली रौनक को भी नहीं अनुभव कर सकता। यदि निज में कोई विचार द्वारा सत्पुरुषों के मार्ग में श्रद्धा करके मन का अध्ययन करके पीछे कहे गये बोध को जगाये तो मन इसमें खूब रम जायेगा और बहुत कुछ करने की भी शिक्षा पायेगा। तब उसे अपने पीछे बीते हुए सुख भी स्मरण (याद) करने में नहीं आयेंगे। क्योंकि जगाया हुआ सत्य का ज्ञान रूप बोध इस जीवन की तथा संसार की सही झांकी उस जीव के मन के सम्मुख उपस्थित कर देगा जिससे कि वह जीव इन्हीं सुखों को सदा न बने रहने वाला समझ कर और इन्हीं को दुःख रूप समझ कर अपनी आत्मा में ही टिकने के लिये प्रेरित होगा। केवल बीते हुए सुखों की याद करता हुआ अज्ञान या अविद्या के अन्धकार में ही न पड़ कर भले इन इन्द्रियों के देखने सुनने वाले संसार में ही बच्चे के समान रम जायेगा। यह भी एक स्वर्ग की स्थिति है।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यह स्मरण रखना पड़ेगा कि जगत् के मन से या जन्म पा कर संसार में पाये जीवन मात्र से 'मुक्ति सुख रूप है' यह सत्य समझ में नहीं आयेगा। इसके लिये इसी व्यापक सब जीवों का गुथा हुआ संसार या इसी संसार में सब में बैठा हुआ ज्ञान विज्ञान स्वरूप परमेश्वर भी पहचानना पड़ेगा। जैसे आप संसार में अपने लिये संघर्ष करते हैं वैसे ही दूसरे भी करते हैं, ऐसा समझ कर कुछ सत्य सीखना पड़ेगा। कुछ सीख कर चलने का रास्ता भी समझना पड़ेगा। उद्वेग (जोश) या समय का भाव इस सारे व्यापक जीवन में सब जीवों को प्रेरित करता हुआ कैसे लाचार बना कर दुःखी करता है ? इसी सब समझ में सच्चा वैराग्य उपजेगा। संसार की दौड़ धूप से मन मुक्त होना चाहेगा। इसी संसार में रहते हुए दुःखों का खात्मा न देखते हुए उसे इसी संसार से परे कहीं आत्मा या परमात्मा में शान्ति दीखेगी।

बाहिर पवित्र जीवन, अन्दर ही पहचान,
विकारों के वारने में, सुख का भी भान।
इनके संग देवन में पूजित पद को पाये;
केवली की मुक्ति, जब लो निकट नहीं आये।।
। १२२ ।

गत पद्य में बतलाया गया कि शरीर के सब कर्मों में, इन्द्रियों की सब चेष्टाओं में, मन के सब काम, क्रोधादि विकारों में तथा बुद्धि के निर्णयों में और वैसे ही सुख तथा दुःख की प्रतीति में भी मनुष्य को सदा अपने आप का पता लगता रहना चाहिये; इन सब का बोध या ज्ञान सदा मनुष्य को बना रहना चाहिये; तब अर्थात् ज्ञान बना रहने

से इन्हीं के ज्ञान से अविद्या या अज्ञान टलता रहने से मन भी निज में रमा (लगा) रहेगा। और यदि इन्हीं सब शरीर आदि के कर्मों को कुछ भला या बुरा पहचान कर कुछ सही करने का विवेक रहा तो सारा जीवन ही सही मार्ग पर चल पड़ेगा। यही पवित्र जीवन है। अब यह पद्य इसी पवित्र जीवन के फल को दर्शाता है, जो कि अन्त में मुक्ति या मोक्ष में ही पूर्णता पायेगा।

पद्यार्थ :-जैसा कुछ जीवन पवित्र बनाया जायेगा उस जीवन को अपने मन में ही पहचाने। इसका भाव यह है कि अपनी जीवनचर्या या रहने, सोने, उठने, बैठने, खाने, पीने और सोचने आदि के ढंग को मन में पहचाने; मन के सामने लाकर उसे विचारे कि ऐसा जीवन जैसा कि मुझ से चला जा रहा है प्रकृति के जोशों या तनावों के कारण से रखा जा रहा है या कि मैंने स्वयं समझ के साथ अपनी भलाई को सम्मुख रख कर ऐसे ढंग को अपना रखा है। अधिकतर तो स्वभाव से ही सांसारिक जीवन प्रकृति की काम, क्रोध, लोभ आदि की उत्तेजनाओं की ही पूर्ति करने के लिये चलाया जाता है। जब इच्छा हुई खाया, जैसी इच्छा हुई वैसा ही पीया, सोया या लेट गये; बातचीतों या गप्पों में व्यर्थ समय व्यतीत करते रहे, जब मन चाहा उठे। ऐसे सब थोड़े से तुच्छ या मिथ्या सुख की आदत वाला जीवन बाहर रखा हुआ दूसरों में भी बोलचाल में या रहने में सही बर्ताव नहीं कर पाता; व्यर्थ में वैर विरोध में उलझा रहता है। जब अकेला हुआ तो अन्दर अविद्या का राज छा जाता है जो कि या तो निद्रा आलस्य रूप तमोगुण वाला; या फिर वही संसार की या संसार के ढंग वाली बातें रूप

रजोगुण वाला जो सब एक दूसरे के बारे में ज्ञान रूप सत्त्वगुण वाला भी है, वह भी काम, क्रोध आदि के पक्ष वाला होने से मैला ही होता है। यही तीन गुण वाली प्रकृति या अविद्या छायी रहती है। भलाई साधने का ज्ञान ही नहीं हो पाता। थोड़ा पहचान कर या समझ कर चलना ही अन्दर की पहचान है। यही ज्ञान रूप से प्रथम मोटे रूप में अविद्या का नाश करेगी। पुनः परिणाम में दुःख को बढ़ाने वाले जान पहचान कर काम, क्रोध आदि विकारों को कुछ टाल कर सही ढंग से शरीर, इन्द्रियों की चेष्टाएं और मन के भाव और विकार और बुद्धि के विपरीत सांसारिक सुख की लग्न वाले निश्चयों को शान्त करने में अपने में सुख की प्रतीति होना, ये सब देवताओं में या यूँ कहा जाये देव भाव वाले पवित्र आचरण वाले मनुष्यों में पूजा या आदर भाव को दिलाने वाले हैं। तब ऐसे पवित्र आचरण वालों का संग तब तक प्रिय लगेगा जब तक मनुंष्य केवल, अकेला, अपने आप में सुख पाने योग्य न हो जाये। अर्थात् जगत् के सब बन्धनों से मुक्त न हो जाये।

केवली की मुक्ति का तात्पर्य यहाँ यही है कि जो केवल ज्ञान मात्र ही अपने आप निरन्तर सदा जब बसा रहे; और जगत् में 'मैं' भाव या 'मैं' की उत्पत्ति के लिये मन चेष्टा ही न करे, तब केवल ज्ञान मात्र में तृप्ति मानने वाले की मुक्ति भी केवली की मुक्ति कही जायेगी।

जैसे कोई मार्ग चलता हुआ प्राणी चमकीली वस्तु की चमक को अपने दायें या बायें साधारण रूप से बिना अपने यत्न के भी समझा, अर्थात् उसकी दृष्टि में कोई वैसी वस्तु झलकी; परन्तु झटपट सांसारिक मन पुनः उसके बारे में

卐卐

निर्णय करने के लिये गर्दन घुमा कर देखता है कि वह चमकीला पदार्थ क्या है ? मेरे मतलब की वस्तु या चांदी तो नहीं, यह ज्ञान बाहर जन्म गया। सांसारिक प्रयोजन के लिये जो कुछ उस साधारण रूप से जाने गये पदार्थ के लिये अधिक जानने की इच्छा है, यह अविद्या के कारण से ही है। वह अधिक कुछ जानने का तनाव सदा बाहर जानने का बना ही रहता है और वह मन का तनाव दुःख रूप से उधर पदार्थ की ओर ही जीव को धकेलता है। परन्तु मुक्त पुरुष चमक वाली वस्तु में भी स्वार्थहीन होने से उसके बारे में विशेष या अधिक और कुछ भी समझने की इच्छा नहीं करता क्योंकि वह सब सांसारिक स्वार्थ से मुक्त होने के कारण जितनी जो वस्तु जैसी दीखी उतने में ही संतुष्ट है, अधिक जानने तक की इच्छा भी नहीं करता। वह जानता है कि जानने की वस्तु केवल ज्ञान या चेतन मात्र है। तो पुनः गर्दन भी वह उस चमक के लिये क्यों घुमायेगा। दूसरे स्वार्थी जन को तो सामने पड़ने वाली चमकीली वस्तु में चांदी के संस्कार झटपट प्रबुद्ध (स्फुरित) होकर मतलब वाली वस्तु होने की कल्पना करवा कर उसे (चमक वाली वस्तु को) पूरा जानने के लिये प्रेरित करते हैं। और यदि मतलब की ही वह समझ में पड़ी है तो वह पुरुष उसे उठा कर अपने अधिकार में लाने का भाव भी रखता है। जो मुक्त पुरुष या केवल ज्ञान भाव में ही तृप्त है वह उतनी सब कल्पना ही नहीं रखता; उसने पहचान या समझ रखा है या अन्दर ही अन्दर हर समय समझता रहता है कि कैसे पहले वस्तु शिशु (बच्चे) के सामान्य या साधारण रूप से ज्ञान में

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

पड़ती है। यहाँ तक तो शुद्ध ज्ञान ही ज्ञान है परन्तु अविद्या पुनः संसार की तृष्णा के अंश वाली उस सामान्य या शुद्ध ज्ञान वाली वस्तु को विशेष (खास) रूप से सांसारिक प्रयोजन के रूप में जानने के लिये तनाव उत्पन्न करती है। जितना कुछ उस वस्तु के बारे में अज्ञात (न जाना हुआ) है, यही न समझने की अवस्था का नाम अविद्या है। परन्तु इस नासमझी (अज्ञान) में सारा संसार छिपा है। यही (नासमझी) गर्दन घुमाती है; उसी में दृष्टि बनाती है, चांदी है या कोई व्यर्थ की वस्तु ही; पुनः यदि मतलब की वस्तु है तो उसे पाने का भाव भी होता है, यही सब संसार चक्र है। अविद्या की शक्ति इसे अपने में लिये बैठी है। केवल ज्ञान मात्र अचानक चमक का या और कोई जितना भी किसी को हुआ; जैसा भी हुआ, उतने में ही संतुष्ट रहने वाला केवली जन तो वहाँ तक भी मन नहीं दौड़ाता कि और कुछ समझे। यही मुक्त पुरुष पुनः जो कोई अन्य पुरुष भी उसके पास से निकलते हैं उनके बारे में अधिक कुछ भी नहीं पहचानना चाहेगा। उसे जितना कुछ सुनाई पड़ा उससे अधिक सुनना या मन से समझना भी नहीं चाहेगा कि वह कोई क्या बातें कर रहे हैं, इत्यादि। यह सब अधिक कुछ किसी के बारे में समझने की लपक संसार की तृष्णा लिये बैठी अविद्या (नासमझी) की ही दशा है। यही रूप राग या अरूप राग में बान्धती है तथा राग, द्वेष ही अधिक कानों को खड़ा करके, अधिक समझने के लिये मन को जगाते हैं। इन्हीं सब बन्धनों की लीला से परे केवली ज्ञान वाला पुरुष रहता है। संसार की सब वस्तुओं में जितना कि जीवनोपयोगी व्यवहार है उससे

卐卐卐

अधिक व्यर्थ में वह और कुछ भी संसार के बारे में समझना ही नहीं चाहता। जो कुछ भी संसार के बारे में समझा जायेगा वह सब अपनी दृष्टि या नजर में ही होगा वास्तव (असलीयत) में नहीं। 'जितना कुछ मन में संसार के बारे में अभी छिपा पड़ा है' या 'नहीं समझ में पड़ रहा', यही अविद्या का रूप है। साधारण अर्थ भी अविद्या शब्द का यही है कि 'पता नहीं कि क्या है' ? या खबर नहीं कि क्या हो सकता है ? परन्तु है यह सब संसार के बारे में ही अज्ञान या नासमझी। जो इस सब संसार को जानने की इच्छा या लग्न भी नहीं रखता वह अपने मन को कहीं भी भटकने नहीं देता चाहे वह आसन पे हो या सब में, वह केवल जैसा वा जितना सादा ज्ञान है, जैसी भी वह लीला करता है वैसे में ही तृप्त रहता है। दुःख का ज्ञान हो या सुख का; कहीं भी कुछ संसार की वस्तु के बारे में अधिक जानने या व्यर्थ में करने के चक्र में नहीं रहता। यही केवली की मुक्ति है।

पद्य का शब्दार्थ तो इतना ही है कि बाहर सब जो कुछ भी जीवन राग, द्वेष आदि सब बन्धनों के मैल वाला है उन बन्धनों के सब मैल को धोकर इसी अपने जीवन को पवित्र रूप से रखना है। उसको ध्यान में अपने अन्दर ही पहचानना है, बाहर केवल पुस्तकों के पढ़ने से या केवल सत्संग में जाने से होने या करने के योग्य सब नहीं जाना जा सकेगा। कल्याण चाहने वाला पुरुष पुनः जो भी विकार राग, द्वेष आदि बन्धन उत्पन्न करते हैं उनको टालने में आनन्द का अनुभव करे। इसका यह तात्पर्य है कि रोते पीटते या दुःखी होकर टालना न करे। समझ-समझ कर

卐卐

तर्क, अनुकूल युक्ति को साथ रखते-रखते टालने की आवश्यकता समझता हुआ सब दोषों का या बन्धन विकारों का परित्याग करे। इससे उसे पूज्य तथा आचरण वाले पुरुषों में आदर, सम्मान मिलेगा। यही पूजने योग्य है। अन्त में जब सूक्ष्म से सूक्ष्म वही दृष्टांत में कही गई अविद्या तथा उसी से होने वाली दृष्टि तथा काम (इच्छा) और भव (बाहर होने का भाव), ये बिना यत्न के हटने या टलने लग गये तो यही केवल आत्मा में वास पाना है। यही अपने आप में बसे रहना केवली पुरुष की मुक्ति है।

मन को पवित्र पूरा कर ले, इतना तर्क जगाये,
फिर देखे जग राखन खातिर को तेरी चाह रखाये।
ऐसा हुये पै कौन समाधि विघ्न करन को आये;
'मैं' तेरी जो रही न जग में, सहज समाधि सुहाये।।
। १२३ ।

गत पद्य में जीवन को पवित्र करने के लिये अन्दर की पहचान बतलाई गई। उसी के ही परिशिष्ट (बाकी अंश) को यह पद्य दर्शा रहा है।

जब दृष्टि, संशय, राग, द्वेष आदि सब बन्धनों की मैल को धोना ही है तो इसके लिये प्रथम बुद्धि को मनाना पड़ेगा। जब बुद्धि इन्हीं बन्धनों के साथ सुख समझ रही है तो यही उसी के अनुसार मन को उत्तेजित (जोशीला) करके सब इन्द्रियों और शरीर को उधर ही ले चलेगी। इसलिये बुद्धि को मनाने के लिये उतना तर्क जगा ले कि जिससे बुद्धि ही अपना निर्णय करे कि यह सब बन्धन छोड़ने के ही हैं। यहाँ तक तर्क (युक्ति या दलील) को जगाये या जगाता जाये कि मन पूरा (पूरे का पूरा) मलों

को छोड़कर पवित्र हो जाये और पुनः संसार में कुछ भी अधिक जानना या कुछ भी मित्र, वैरी आदि होना ही न चाहे। साधारण जन (आम आदमी) का तो दूसरों के संग रूप संसार में ही होने से मन प्रसन्न होता है। अपने आप में या अकेले में उसे सुख नहीं है। सोई कहा गया है कि फिर देखना है कि कौन सा ऐसा कारण है जो मनुष्य को संसार में घसीटता है। अर्थात् फिर कोई भी संसार में पटकने वाला कारण नहीं रहेगा। क्योंकि संसार में तो सिवाय दुःख के और कुछ है ही नहीं। ऐसा विचारवान् पुरुष का युक्ति वाला ज्ञान या तर्क उसे प्रकट रूप से सुझा देगा। यहाँ तर्क शब्द का यह अर्थ है युक्ति युक्त विचार, जैसे कि अधिक खाने आदि से कोई कष्ट हो रहा हो तो मनुष्य यूँ सोचे कि जिस दिन अधिक खाता हूँ तभी कष्ट होता है। जिस दिन ठीक ही खाता हूँ तो कष्ट भी नहीं होता। इसलिये कष्ट टालने के लिये अधिक न खाना ही ठीक है। यह निर्णय तर्क जगाने से हुआ। इसी प्रकार तर्क जगा-जगा कर सर्व बन्धनों को पहचान कर उन्हें त्याग दे; यही निर्मल, पवित्र जीवन होगा।

ऐसा होने पर पुनः कोई भी ऐसे पुरुष की समाधि या मन के टिकाव की अवस्था को विघ्न में डालने की शक्ति नहीं रख सकता। यदि संसार वाली 'मैं' न रही; अर्थात् संसार में कुछ भी होने के लिये न रहा तब मन सदा अपने आप समाधि में शोभा पायेगा अर्थात् सुखी रहेगा।

'मन को पवित्र पूरा कर ले इतना तर्क जगाये' का भाव यह है कि आसन पर एकान्त में दृढ़ता से बैठ कर वितर्क विचार वाले ध्यान में लगो। मन में विचार को जगाने

वाले शब्द; जो मन में बोल-बोल कर विचार को जगायेंगे वही यहाँ वितर्क शब्द से कहे गये हैं। जब भी किसी वस्तु का विचार किया जाता है तो मन विचार को जन्माने वाले शब्द बोल कर ही विचार जगाता है। इसे यूँ समझना चाहिये कि जो हमने बाहर विषयों के सुख देखे हैं मन संस्कारों वश उधर ही भागता है; खाली समय में ज्ञान को जगाये रखने वाला धन्धा न रहने से जब भी अविद्या छा जाती है अर्थात् ज्ञान पर पर्दा पड़ जाता है तो मन विषयों के चिन्तन रूप ज्ञान से तथा उन्हीं के काम आदि विकारों से चेत कर (प्रेरित होकर) विषयों को अनुभव करने में सुख रूप ज्ञान से अपने आप में अविद्या के बन्धन को थोड़े समय के लिये दूर करके सुखी हुआ मानता रहता है। परन्तु ऐसे यह अविद्या की टाल उत्तम या सदा के लिये हितकर न होकर समय पाकर रोग, शोक, बाहर दूसरों की दासता और संघर्ष में ही सदा के लिये उलझा देती है। इसलिए उन सब विषयों के सुख के परिवार से अपने को प्रथम थोड़ा दूर रखकर आसन पर एकान्त में जागते-जागते निरालस होकर समय व्यतीत करने का अभ्यास करे अर्थात् वैसे बैठने की आदत डाले।

अब जब खाली नहीं बैठा जा सकेगा; इसका यही तात्पर्य है कि मन अपने अन्दर ज्ञान रूप आत्मा नहीं जगा सका तो मन इसी ज्ञान रूप आत्मा के चेते बिना चैन या सुख नहीं पाता; अपना आपा ज्ञान रूप खोया सा दिखाई देता है, यही ज्ञान का ढकना है। मरा नहीं,उजड़ा नहीं; जीवित शरीर है, परन्तु ज्ञान की प्रकटता या प्रकाश खाली बैठे पुरुष के मन में नहीं है। यही मन पुनः ज्ञान जगाने के

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

लिये पुराने संस्कार प्रबुद्ध (प्रकट) करता है और वे संस्कार हैं विषयों के और जगत् में होने (भव) के। जब वैसे संस्कार जागते हैं तो उन्हीं के साथ बन्धे काम, क्रोध, लोभ आदि के विकार भी संसार में कुछ करने के लिये प्रेरणा देते हैं, उससे मनुष्य इसी संसार में कर्म करके कुछ बन गया या जन्म गया, उससे ज्ञानदेव रूप आत्मा की लीला होने लग गई तो मनुष्य का मन लग गया, या यूँ कहो कि रमण करने लग गया या रम गया। परन्तु यह लीला सदा सुख देने वाली नहीं। यह सब बाहर के सहारे से, प्राणी पदार्थों के संग से ज्ञान देव जागते रहते हैं। अपनी ज्ञानमयी अटूट सी लीला करते रहते हैं; परन्तु ये सब सहारे समान रूप से सदा कैसे बने रह सकेंगे ? एक दिन सब बिछुड़ेंगे, तब प्राणी की अविद्या का बन्धन कैसे छला जायेगा ? अर्थात् कैसे थोड़े समय के लिये भी टाला जा सकेगा ? इसलिये शास्त्रवेत्ता या महापुरुष कहते हैं कि इस अविद्या के कलंक को बिना सहारे के सदा के लिये टाल कर अपने ज्ञान के सूर्य का प्रकाश पाने के लिये मनुष्य को मार्ग पाना चाहिये। मार्ग है; देखने वाले देख गये हैं, इसमें कोई मूल्य नहीं लगता; परन्तु उद्योग, त्याग,तप आदि की आवश्यकता है। पुनः आसन, ध्यान और ध्यान में विचार द्वारा सत्य की खोज और पहुँच की आवश्यकता भी है। इसी के लिये तर्क जगाना है।

अब तर्क जगाने का तात्पर्य या भाव यह है कि मन में बोल-बोल कर विचार को जगाना और निरन्तर (लगातार) विचार को जगाते ही जाना। आदत वाला मन या तो

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

संसार के प्यार से बाहर की दृष्टि (नज़र या चित्र) बनायेगा; विषयों को सम्मुख रखेगा; और उनकी इच्छा या काम को उत्पन्न करेगा; कहीं विपरीत दु:ख वालों की दृष्टि (नज़र) बना कर चिढ़ या क्रोध जन्मायेगा; इन्हीं के साथ होने वाले कई एक प्रकार के संशयों में पड़ेगा। इस प्रकार बाहर के संसार में ही आदत वाले मन की तृष्णा रूप शक्ति अपने रास्ते से मनुष्य में मलिन सत्त्व या मैले ज्ञान जगा-जगा कर मनुष्य को जीवन तो देगी परन्तु कल्याण नहीं।

यदि ये सब बाहर के विचार तथा बहुत सी कल्पनाओं के संसार में होने वाले सुखों का परिवार नहीं तो आलस्य, निद्रा आदि के सुखों में आपका मन लीन होना चाहेगा; यही लय का विघ्न है। इस प्रकार आसन पर बैठे मनुष्य के मन को ये पांच विघ्न परेशान करते हैं। दृष्टि, काम या इच्छा, संशय, क्रोध, आलस्य (सुस्ती), ढीलापन और उससे निद्रा जैसी अवस्था में मन का खो जाना।

इन पांच विघ्नों को आसन पर टालते रहने से ध्यान की ओर मन अग्रसर होगा। इसी ध्यान में पवित्रता हेतु तर्क जगाया जायेगा। जिधर-जिधर मन विषयों में खिंचे उधर-उधर ही अन्त में अनर्थ का मन द्वारा दर्शन करना होगा; आदत वाला मन ऐसे शुद्ध, पवित्र विचार को जागने नहीं देगा; निद्रा, आलस्य आदि में खोने लगेगा तो वहाँ निद्रा के सुख का राग छोड़कर शब्द जगाता जाये; विचार का शब्द बोलता जाये; जिससे मन के सामने विचार बना रहे। ऐसे अवसर पर किसी एक भगवान् के नाम को बोल-बोल कर निद्रा आदि से मन को बचाये रखा जा

卐卐

सकता है, परन्तु अन्त में तो सबसे मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही मन के सामने लाकर समझ से जगत् के द्वन्द्व से मुक्ति पानी पड़ेगी। इसलिये जैसे कोई मनुष्य दलील (युक्ति) द्वारा किसी से कोई बात मनवाता है ऐसे ही मन में बोल-बोल कर विचार उत्पन्न करके अन्त में मन को मनवाना है कि उसे स्पष्ट दीखे कि हाँ जगत् के सुखों का संग या बाहर का जीवन अन्त में दुःख, शोक, व्याधि आदि में ही समाप्त होने वाला है। और संघर्ष आदि में ही पहुँचाता है और घोर अज्ञान या अविद्या में ही ले डूबता है। क्योंकि बाहर का सब कुछ सदा बना न रहने के कारण जब इसका संग छूटेगा तो ज्ञान जगाने का मार्ग भी बन्द हो जायेगा तो हर समय घनघोर अविद्या ही छाये रहेगी।

यही सब विचार पूर्व के महापुरुष हमें दे गये हैं। इन्हें मन में बोल-बोल कर जगाते ही जाना है। मन इस विचार के मार्ग पर चलना नहीं चाहेगा; इसे ही 'अरति' कहते हैं। यह विघ्न करेगी। मन पुनः सुस्ती, आलस्य, निद्रा के सुख का लोभ दिखायेगा; विचार और विचार के शब्दों को बन्द करना चाहेगा। आपके उद्योग की यहाँ आवश्यकता है। निद्रा आदि के सुख, लोभ, मोह को उचित रूप से त्यागने की भी आवश्यकता है; और सुख त्याग कर दुःखी होते हुए मन में ऐसे दुःख को सहने में धारण करना रूप तप के गुण की भी पूर्ण आवश्यकता है।

वही जाय बसने को वृन्दावन,
जिसने निज में न पाया शमन।
उलझे वही सघन काम के वन;
सूझे जिसे न मुक्ति का उपवन।। ।१२४।

गत पद्य में यह वार्ता कही गई थी कि संसार में पटकने वाले राग, द्वेष आदि मलों को धोने के लिये मनुष्य इतना युक्ति युक्त विचार (तर्क) जगा ले जिससे यह मन पुनः जीवन के समय को व्यतीत करने के लिये जग में भटकन रूप दूसरों की संगत की अपेक्षा (जरूरत) ही न रखे। दूसरों की संगत चाहे अच्छी हो या बुरी अन्ततः (आखिरकार) हैं दोनों बन्धन स्वरूप ही। इसी सत्य को यह पद्य इस प्रकार दर्शा रहा है कि :

पद्यार्थ :- वही जन भक्तों के समुदाय में बसने के लिये वृन्दावन या अन्य किसी स्थान पर जाये जो कि अपने आप में सांसारिक चाह को या अन्य जग में ही भटकाने वाले मान, द्वेष, क्रोध आदि को अपने आप में विचार जगा कर शान्त न कर सके। यदि अपने आप में हर समय इन जगत् में खींचने वाले राग, द्वेष आदि मलों और विकारों का शमन (शान्त करना) हो सका तो अन्य किसी भी संगत की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी।

जिन पुरुषों को इन मलों से मुक्ति या मोक्ष (छुटकारा) न मिल सका तो वही जन सघन काम के वन में उलझते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि जब राग, द्वेष, मान आदि बन्धनों का मल मन में छा जाता है तो मन में इनके ही काम, क्रोध आदि विकार पुनः पुनः मनुष्य को संसार में कुछ करने की या करके शान्ति पाने की ही प्रेरणा करते हैं। उस प्रेरणा का बल इतना बढ़ जाता है कि अकेले में मनुष्य उन्हीं के दुःख से चलायमान होकर इन्हीं मलों की इच्छाओं को पूरा करने के लिये जगत् में या दूसरों में पहुँच जाता है और इस जग के बन्धनों से छूट

कर अपने आप (आत्मा) में टिकाव नहीं पा सकता। जब जीवन काल में ऐसी दशा रही तो मर कर पुनः कैसे वह संसार में आये बिना रह सकेगा ? अब यही काम या कामनाओं की उलझन इतनी अधिक होती है कि एक दूसरे के साथ संघर्ष आदि में आगे से आगे ही बढ़ती जाती है। तो जिस प्रकार सघन वन में भटके प्राणी को उससे निकलने का मार्ग नहीं मिलता उसी प्रकार कामनाओं के वन (जंगल) में उलझे जीव को भी इनसे निकलने का मार्ग नहीं मिलता। यदि कोई काम पूरा न करे तो मन सुखी नहीं होता। पूरा करने पर रोग, दूसरों से वैर, विरोध आदि अन्दर बाहर की कई एक प्रकार की उलझन ही उलझन बढ़ती है। यही सब सघन (सघना) काम का वन है जिससे निकलना दुष्कर (मुश्किल) हो जाता है।

एकाकी का मन न रमाय,
जिसको करना ही करना सुझाय।
दुःख में जीवन की पायी जिसने सूझ;
कृति शमन की हुई उसे बूझ।। ।१२५।

गत पद्य में कहा गया कि यदि अपने आप में मल विकारों का रोग नहीं शान्त हो सका तो उस संग दोष से बचने का कोई और मार्ग नहीं है। चाहे संगत कैसी भी हो उसमें कई एक प्रकार के संग दोष होते ही हैं। एक दूसरे का उत्कर्ष (श्रेष्ठता) या दूसरों से मिलने वाले मान की न्यून अधिकता (कम या ज्यादापना) के कारण दूसरों में मत्सर या दूसरों में जलन (मत्सर) का दोष संग के जीवन को सुखी होने नहीं देता। परन्तु यह सब संगत क्यों करनी पड़ती है ? इसी का कारण यह पद्य दर्शा रहा है कि :-

पद्यार्थ :- अकेले (एकाकी) पुरुष का मन अपने आप में नहीं लगता (रमता), अर्थात् अपने आप में सुख नहीं पाता, यही साधारण जन संसार में अनुभव करता है। जब उसका अकेलेपन में मन नहीं लगता या रमता तो उसे मन लगाने या रमाने के लिए पुराने अभ्यासों (आदतों) के संस्कारों से कुछ करने की सूझती है। चाहे कहीं किसी के समीप जाना, या कुछ खाना पीना करके मन को रमाना, या कोई बाहर का कर्म करते-करते समय व्यतीत करना, खाली उससे बैठा नहीं जायेगा। इस में वह साधारण जन, दुःखी या खिन्न होकर कई प्रकार की बातों को मन लगाने के लिये सोचेगा।

कारण केवल अकेले के मन न लगने का है कि पुरानी आदतें या संस्कार उसे खींच कर रहे हैं कि उसी कर्म बन्धन में पड़ो जिसमें पहले बचपन से समय व्यतीत किया है। यही बन्धनों की और विकारों की खींच ही तृष्णा के रूप में दुःख की जड़ बनी हुई है। यही अकेले में दुःख उसे टिकने नहीं देता। दुःख के साथ यदि कोई टिक सके और दुःख में स्थिर रहने की सूझ (सुध) तथा अभ्यास बना रहे तो ऐसा पुरुष सब प्रकार के बन्धनों की खींच या अपने बन्धनों के ही ढंग से कर्म चक्र में डालने की शक्ति को शान्त करने की बुद्धि या बोध पा सकेगा। इसका तात्पर्य यही है कि जब तक किसी को दुःख में या मन की तंगी में टिकने की समझ तथा अभ्यास नहीं तब तक जगत् की खींच का भी पता नहीं लगेगा कि वह कैसे कर्म चक्र में जीव को डालती है ? और उस खींच का क्या बल है? यह सब बिना दुःख में मन टिकाने की आदत या अभ्यास के

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

जानना असम्भव है। जो व्यक्ति थोड़े से भी दुःख से चलायमान होकर झटपट उससे बचने के लिये सांसारिक उपायों की ही शरण ले लेता है उससे यह बन्धनों की खींच रूप शक्ति छिपी रहती है और छिपी-छिपी जन्माती मारती रहती है।

रमा जो न मन, तो यह तृष्णा को जगाय,
जहाँ-जहाँ लगे वहीं-वहीं को ही धाय।
इसमें चेते सोई जो इसके दुःख को पचाय;
शिव, सत्य, सुन्दर शरण को न भुलाय।।
। १२६ ।

पद्यार्थ :- यदि अकेले में मनुष्य का मन नहीं रमा, अपने आप में नहीं लगा, तो वह संसार की ही तृष्णा जगायेगा, और जहाँ-जहाँ उसका मन लगना चाहता है या रमण करना चाहता है उसी-उसी दिशा में वह व्यक्ति भी भागेगा। इसमें अनन्त प्रकार के कर्म हैं जिन सब से बचपन से मनुष्य ने क्षणिक तृप्ति का अनुभव किया है। इन में वैर विरोध, होड़बाजी, दूसरों पर विजय पाना, दूसरों को तिरस्कृत करके अपना सुख मानना इत्यादि-इत्यादि बहुत प्रकार से शंका, भय आदि में उलझाने वाले कर्म भी हैं, खाली मन को अकेले में ये सब संस्कार पीड़ित करते हैं। जैसे-जैसे बन्धन जगेंगे, वैसे-वैसे व्यक्तियों के व्यवहारों के चित्र मन के सामने आ-आ कर कई एक प्रकार के विकार और भाव उत्पन्न करके संसार में ही मनुष्य को खींचेंगे। यही सब संसार में पटकने वाली कृति अर्थात् कर्म करवाने वाला मन का यत्न है। यदि कोई उधर न जाना चाहे तो दुःख का अनुभव उस प्राणी को खिन्न करता है।

मन लगने या रमने नहीं देता, समय व्यतीत करना समस्या बन जाता है।

ऐसी स्थिति में जो मन चेत सके वही उस अकेलेपन के दुःख को पचायेगा (हज़म करेगा) और दुःख को शान्त भाव से वितर्क (विचार जगाने वाले मन में ही बोले जाने वाले शब्द ही वितर्क नाम से यहाँ कहे गये हैं) विचार जगा-जगा कर ज्ञान द्वारा हज़म करता हुआ आसन पर स्थित रहेगा, अकेले में समय व्यतीत करता रहेगा। बीमारी आदि की दशा में भी तो वैसा सब कोई करता ही है। उसी दृष्टान्त से तंगी नहीं मानेगा। तब विचार में लगे-लगे का समय व्यतीत होने लगेगा और ज्ञान और अभ्यास भी बढ़ने लगेंगे। जब-जब संसार की खींच होगी तभी-तभी वहाँ के दोषों की उलझन की भयंकरता को विचार में समझ कर और उसके दुःख का ध्यान में माप लगाकर इसी सामने के उन विषयों के न होने के थोड़े दुःख को शान्त भाव से पचाता (हज़म करता) जायेगा। यही सब चेते शब्द का अर्थ ही वितर्क या विचार जगा-जगा कर दुःख में मन को सम्भाले रखना है। तब एक दिन दुःख भयानक या डरावना भी नहीं दीखेगा। यही इसके साथ का जीवन है।

जब भी संसार की कोई इच्छा हुई, यदि आवश्यक नहीं तो उसे पूरा न करने पर यदि मन दुःख माने तो स्मृति (सूझ) रख कर आसन पर व सब में रहते हुए भी अपने आपको विचार द्वारा सम्भाले रखना; और सम्भाल कर सब देह के कर्म कर जाना यही 'चेतन' शब्द का तात्पर्य है। इससे शिव (कल्याण स्वरूप), सत्य और सुन्दर प्राप्त होगा।

卐卐卐

शिव, सत्य, सुन्दर को भुलाना नहीं चाहिए अर्थात् जब साधन का दुःख मन में तनाव उत्पन्न करे तो अपने नित्य बने रहने वाले आत्मा में होने वाले शान्त, आनन्द रूप उद्देश्य को न भूले। सत्य, शिव, सुन्दर रूप अपने जीवन के उद्देश्य को न भूले। मन में आलस्य और मिथ्या कामनाओं के विचारों को हटाता हुआ मन में ही इन्हीं विचारों के शब्दों को बोल-बोल कर विचार जगाता जाये कि सदा बना रहने वाला (सत्य) और सदा आनन्द रूप कल्याण (शिव) और सब को समान रूप से भाने वाला (सुन्दर) उद्देश्य ही यदि जीवन के सम्मुख रखा है तो थोड़े साधना के दुःख से फिर क्यों घबराना ? इस प्रकार जैसे स्वास्थ्य (तन्दरूस्ती) के महान सुख को दृष्टि में रखे तो आदत के भोजन जो कि स्वास्थ्य के विपरीत हैं उनको भी त्यागने का दुःख प्रत्येक जन स्वीकार करता ही है। चाहे वह सब भोजनादि का सुख पहले कितना भी प्रिय था। इसी प्रकार सत्य, शिव, सुन्दर को मन में रख कर सब मिथ्या सांसारिक सुखों के त्याग के दुःख को भी हज़म करे।

ॐ इति जीवन शुद्धि वर्ग ॐ



卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 अथ प्रज्ञा सम्पत्ति वर्ग 卐

जड़मति में धँसा है विश्वास,
कि अपनों में ही आवे सुख का श्वास।
सत्य सुझाये न बिना सम्यक् ध्यान;
सत्य की सूझ (प्रज्ञा) नाशे घोर अज्ञान।।
। १२७ ।

पिछले पद्यों में दर्शाया गया कि जब अकेले का मन नहीं रमता और फिर ऐसी अवस्था में जहाँ कहीं मन रमे तृष्णा उन्हीं सब के संस्कार जगा-जगा कर मनुष्य को संसार में ही बांधती है। इस सब का तात्पर्य यही हुआ कि अपने आप या आत्मा में ठिकाना न मिलने पर संसार में ही होना पड़ता है। इसी संसार में होने को शास्त्र में भव कहते हैं। इसी संसार में 'होने की तृष्णा' को 'भव तृष्णा' के नाम से कहा जाता है। इससे मुक्ति पाकर आत्मा मात्र में स्थायी वास पाने के लिये केवल प्रज्ञा और उसका भी प्रसाद (प्रसन्नता युक्त प्रज्ञा) होना आवश्यक है। अगले चार पद्यों में इसी प्रज्ञा (सत्य का प्रकट ज्ञान) की चर्चा है।

पद्यार्थ :- जो बाहर जगत् के जड़ पदार्थों के सुख में बंधी मति या बुद्धि है वही यहाँ जड़मति शब्द का अर्थ है। ऐसी जड़मति में या जड़मति वाले पुरुष में यही विश्वास बलपूर्वक घुस कर बैठा हुआ है कि जो कोई अपने प्रिय या बन्धु, पुत्र, मित्र आदि हैं इन्हीं में ही सुख का श्वास प्राप्त होता है। जो अपने नहीं उनमें यह सुख का श्वास भी नहीं और न अकेलेपन में या अपने आप में केवल रहने में सुख का श्वास आता है। इसलिये अपनों को पाने के लिये

संसार में ही होना पड़ता है।

परन्तु वास्तव (असल) में यह बात नहीं है, इन्हीं अपने या प्रियजनों में सदा एक जैसा सुख का श्वास नहीं मिलेगा, समय पाकर प्रेम (प्यार) के स्थान पर घृणा और वैर भी हो जाता है। सब समय एक जैसा स्वार्थ एक दूसरे से पूरा नहीं हो पाता, तो मित्र शत्रु और शत्रु मित्र भी बन जाते हैं। परन्तु मनुष्य किसी एक समय की सूझ से अपनों में सुख देखता है। परन्तु यदि ध्यान करके सारे जीवन को सम्मुख रख कर विचार करे और दूसरों के जीवन से अनुमान लगाये तो इस ध्यान से उसे पता चलेगा कि सुख का श्वास केवल अपने आप में ही सदा के लिये आयेगा। इसी सत्य ज्ञान का नाम प्रज्ञा या सत्य की सूझ है जो कि बिना सही ध्यान के नहीं मिलती। इसी सत्य की सूझ होने पर अज्ञान नष्ट होगा। सत्य को छुपाने वाला ही अज्ञान है।

जन के भले के मिथ्या विश्वास,
बांधे इस उसमें आशा का उल्लास।
सत्य हित ध्यान, करे छानबीन;
सत्य पाकर हो, प्रज्ञा प्रवीन।। । १२८ ।

गत पद्य में जैसे अपने प्रियजनों में सुख का श्वास का विश्वास मिथ्या बतलाया गया, अब इस पद्य में वैसे ही मनुष्य के अपने भले (कल्याण) के मिथ्या विश्वास भी इसे उस मिथ्या आशा में बांधने वालों की चर्चा है। इन सब से निकलने के लिये तथा अपने आप में स्थायी शान्ति पाने के लिये सत्य ज्ञान को दीप्त (प्रचण्ड) करना चाहिये। यही इस पद्य का आशय है।

पद्यार्थ :-मनुष्य को अपने भले या कल्याण के कई एक प्रकार के मिथ्या विश्वास उस को इस या उस मिथ्या कर्म या वस्तु में बांधते हैं और मनुष्य की उछलती हुई आशा उन्हीं का अनुसरण (पीछा) करती है। जैसे कि कई एक तो साधारण रूप से यही कहेंगे कि मनुष्य की भलाई तो इसी में है कि जैसे दूसरे रहते हैं वैसे ही हम भी रहने का यत्न करें, परिवार, ऐश्वर्य, अधिकार, धन, शक्ति का संचय करें। इसके बिना सफल जीवन नहीं बन सकेगा। यही विश्वास जन साधारण में व्यापक रूप से बना हुआ है। यही जगत् का कामदेव सब में जन्म से ही बैठ जाता है। इससे पीछा छुड़ाना कोई साधारण मानसिक बल वाले व्यक्ति का काम नहीं है।

केवल वही व्यक्ति इससे मुक्त हो पायेगा जो सत्य को पाने के हित का (लिये) ध्यान करे और ध्यान में छानबीन (अन्वेषण या खोज) करे कि वास्तव (असलीयत) में सत्य क्या है ? यदि मनुष्य सारे जीवन को सम्मुख रख कर अपने और दूसरों के जीवन की शोध (खोज) करते-करते ध्यान द्वारा सत्य को पा गया तो वह जन सत्य ज्ञान में निपुण (प्रवीण) सब जगत् के बन्धनों को काट कर अपनी आत्मा का प्रसन्न (प्रसाद युक्त) ज्ञान पाकर कल्याण पा जायेगा और पुनः यत्न द्वारा संसार में होने (भव) की तृष्णा के सागर को भी पार कर लेगा। पद्य में जो कहा 'सत्य को पाकर प्रज्ञा प्रवीण होती है', इसका यह तात्पर्य है कि संसार के सुखों का मिथ्या विश्वास और संसार का थोड़ा सुख; अपने से विपरीत तत्त्व ज्ञान को विकसित नहीं होने देता। इसलिए इस संसार से मुक्ति देने वाले ज्ञान की

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

भावना करनी पड़ती है। भावना से ज्ञान, बल युक्त होकर मनुष्य सब संसार के बन्धनों को काट देता है। सही भाव बनाने का नाम भावना है। जन्म से विषयों में तथा उनके सुख में मनुष्य का उत्तमता का भाव बना हुआ बैठा है। इस भाव से विपरीत है विषयों के सुख में दुःख का भाव। यह अपने आप तो बनेगा नहीं। एक दो बार वैसा सुनने, पढ़ने या सोचने से भी अभी विषय सुख में दुःख का भाव बल वाला तो बनेगा नहीं। इस भाव बिना खींच रहेगी उसी विषय सुख की ही, तो सही तत्त्व ज्ञान कैसे उपज सकेगा? इसलिये बार-बार चिन्तन करते हुए; थोड़ा दुःख सह कर ही सही भाव बनेगा।

सत्य सूझे पै हो, प्रज्ञा प्रसाद,
मन हर्षाये सब टले झूठ प्रमाद।
बिना मन को लगाये, न सधे सही ध्यान;
प्रज्ञा नाशे पाश, और कूट अज्ञान।। । १२६ ।

गत पद्य में बतलाया गया कि संसार से बन्धन काटने वाली बुद्धि रूप प्रज्ञा पाकर मनुष्य उसमें प्रवीण बने। अर्थात् इतनी इसी प्रज्ञा की इस प्रकार भावना करे कि यह बलवती होकर सरलता या आराम के साथ ही मन को संसार से मुख फेर लेने के लिए प्रेरित करे तथा दीप्त (प्रचण्ड) और हर्षित (हर्ष युक्त) करे। तब मन को संसार से हट कर अपनी आत्मा में स्थायी शान्ति पाने के लिए कोई भी कठिनाई नहीं रहेगी।

यह पद्य इसी प्रज्ञा की प्रवीणता की व्याख्या करता है। प्रज्ञा की प्रवीणता का तात्पर्य है प्रज्ञा का प्रसाद; अर्थात् सत्य ज्ञान के साथ-साथ मन में इस ज्ञान को पाकर हर्ष

卐卐

या प्रसाद होना चाहिये तभी प्रज्ञा का प्रसाद (प्रसन्नता) है। होता क्या है कि जब मनुष्य आरम्भ में इस सत्य को पाने के लिये ध्यान में छानबीन करता है तो आदतों से मिलने वाले सांसारिक सुख वाला मन अपने पक्षपात से ऐसे ज्ञान को अपनी रुचि (पसन्द) का नहीं मानता। उसी आदत वाले सांसारिक सुख को बनाये रखने में पक्षपाती है जो कि एक दिन न चाहने पर भी वियुक्त हो ही जायेगा (बिछुड़ ही जायेगा) और बिना विचार के उसका संग अधिक दुःखों में ही उलझा देगा; पुनः तृष्णा का अत्याचार फिर भी छोड़ने न देगा और अन्त में रोग, शोक; पराधीनता और तिरस्कार की नरक की आग में जलना पड़ेगा।

जब मन इन सब सांसारिक सुखों के दोषों को सम्मुख रख कर ध्यान में अपने मन को जगाये रखेगा और बाह्य सुख को केवल एक प्रकृति का छल रूप पहचान लेगा तो यही दीर्घ काल तक भव सागर से मुक्ति की भावना होगी। मन आलस्य, निद्रा आदि को ला-ला कर इस भाव को या भाव बनाने को (भावना को) विघ्न में डालेगा। कभी संसार के शब्द सुनने लगेगा, ध्यान को बाहर भटकायेगा, संशय, इच्छा, क्रोध और मिथ्या दृष्टियां (नजरें) खड़ी कर-कर के ध्यान को भंग करेगा। भावना बिगाड़ेगा। परन्तु दीर्घ काल के वैसे जाग्रत युक्ति युक्त विचार से एक दिन अत्यन्त जागते मन में सही ज्ञान बैठ ही जायेगा। और जैसे ही मन में ज्ञान का दीपक प्रज्वलित होगा कि मन हर्षयुक्त हो जायेगा और संसार के झूठे सुख का बहाना सब मिथ्या झलकने लगेगा और उस मिथ्या

卐卐

सुख के निमित्त जो मनुष्य अपना भला साधने में ढिलाई (ढीलापन) करता है वह प्रमाद (ढीलापन) भी टल जायेगा। परन्तु मन को यत्नपूर्वक लगाये बिना यह ध्यान सधता नहीं और ध्यान सधे बिना प्रज्ञा नहीं। प्रज्ञा उत्पन्न होकर सब बन्धन काटती है और संसार के सुख के झूठ या अज्ञान को हरती है। सांसारिक सुख में अच्छाई समझना रूप विपरीत मति ही यहाँ अज्ञान शब्द का अर्थ है तथा 'सांसारिक सुखों में दुःख ही दुःख अन्त में जीव के हाथ लगता है'। इस सत्य पर पर्दा पड़े रहना या यह सत्य पर्दे में रहना भी अज्ञान ही है। सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञा ही इसका नाश करती है। कूट अज्ञान का यह तात्पर्य है कि अपनी स्थिति या जगत् में सत्ता में दुःखों को देखकर दूसरों की स्थिति या सत्ता को सुख मान कर उनकी उस हस्ती (सत्ता) को चाहना या चाह की दृष्टि से देखना। परन्तु है यह उस विवेकहीन व्यक्ति का भ्रम ही; दुःख सुख तो सब संसार की स्थितियों में समान ही हैं अन्तर केवल थोड़ा ही है। यह बात तो झूठी ही है कि 'दूसरे हम से सुखी हैं', इस असत्य (झूठ) पर भी पर्दा पड़ा हुआ है। दूसरों के सुख तो दीखते हैं; उन्हीं में छिपे उन सुखों से भी अधिक दुःख सब को दिखाई नहीं पड़ते। इसलिये मनुष्य अपनी स्थिति या सत्ता में दुःख मान कर दूसरों के सुखों को ललचाई दृष्टि से देखता है। यही सब कूट है। कूट नाम झूठ का है। परन्तु यह झूठ ही छिपा हुआ, जन साधारण की समझ में या ज्ञान में नहीं आता। इसी कूट के अज्ञान या नासमझी को प्रज्ञा ही नाश करती है।

卐卐

सुख इसमें उसमें है, मिथ्या विश्वास,
छाये जग में चौ दिशि आसपास।
बिना प्रज्ञा के कौन इनको मिटाये;
बिन छानबीन कैसे प्रज्ञा भी आये।। ।१३०।

गत पद्य के अन्त में जो प्रज्ञा को सब संसार की पाश (फांसी) को नाश करने वाली बतलाया और झूठे सांसारिक सुख (कूट) की नासमझी (अज्ञान) को भी समाप्त करने वाली कहा गया उसी का स्पष्टीकरण यह पद्य करता है।

पद्यार्थ :-सुख इस उस खाने पीने की वस्तुओं में है या भाई बन्धु, मित्र प्रियजनों के संग में है; या अधिकार, ऐश्वर्य, धन, परिवार, शक्ति जुटाने आदि में है, इत्यादि-इत्यादि। बहुत से मिथ्या विश्वास जो कि जीवन को संघर्षमय बना कर सुख के स्थान पर दुःखी, भयभीत और विरोध आदि की अग्नि को प्रचण्ड करके मनुष्य की दुर्गति करके मारते हैं। ये सब संसार या जगत् के चारों ओर (आसपास) छा रहे हैं। यही सब कूट अज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि इन सब का वास्तविक ज्ञान नहीं है कि ये सब झूठे हैं। इन में सुख तो क्या दुःख ही दुःख बन्धा है। केवल सुख विश्वासमात्र में है जो कि प्रकृति की मौलिक (मूल या जड़ से ही होने वाली) अवस्था का है। एक क्षण की प्रकृति की तरंग रूप काम से कोई वस्तु प्रिय लगती है। वह सदा प्रिय नहीं दीखती। क्रोध में किसी पर चोट करनी प्रकृति से अच्छी लगती है, परन्तु उसका परिणाम स्वयं प्रकृति दृष्टि में या ज्ञान में नहीं ला सकती। परन्तु परिणाम तो बुरा ही होगा। यह जब सामने आयेगा

तब पता चलेगा। यदि भगवान् का ज्ञान जाग जाये तो इन सब प्रकृति की उत्तेजनाओं से होने वाले कर्मों में प्रकृति के बल का प्रयोग करने से पहले मनुष्य जान कर उस मिथ्या प्रकृति की प्रेरणा (उकसाहट) को सहन करके बच जाये। किन्तु यह बल प्रज्ञा ही दे सकती है जो कि भगवान् का ही बल करके शास्त्रों में माना गया है। नहीं तो प्रकृति का पर्दा रूप अज्ञान इस सब झूठ को छुपाये रखता है और झूठ का ही पीछा करना अच्छा लगता है। इस कूट या झूठ पर जो अज्ञान का पर्दा पड़ा है उसे हटाने के लिये ही प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) की ऊपर कही गई भावना करनी चाहिये। इसलिये इसी प्रज्ञा को पाने के लिये सदा ध्यान को साधते रहना चाहिये और ध्यान में छानबीन (खोज) करते रहना चाहिये। इसके बिना प्रज्ञा या सत्य का प्रसन्न ज्ञान नहीं बन पाता।

सुख इस या उस वस्तु में है यह चारों ओर विश्वास छा रहे हैं, का तात्पर्य यहाँ तक समझ में बैठाना चाहिये कि जब कोई धन, पुत्र, परिवार, ऐश्वर्य, अधिकार आदि शब्दों का प्रयोग करता है तो इन शब्दों का उच्चारण करते-करते एक ऐसा भाव भी साथ-साथ ही उस व्यक्ति का स्पष्ट प्रकट होता है कि जैसे ये सब विभूतियां अति उत्तम पाने के योग्य हैं और उत्तम भाग्य के चिन्ह (निशानी) हैं। यह भाव बोलने वाले व्यक्ति के स्वर में व्यक्त या प्रकट होता है तो यह सब भाव लोक में बन चुका हुआ है। वही सब को जन्म से मिलता है। इधर ध्यान में इन के दोष देखकर विपरीत भाव बनाना है। यही भावना का स्वरूप है जो कि साधक, मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाले) को अपने में अभ्यास में लाना पड़ेगा।

卐卐

इस प्रकार लोक से विपरीत भाव अपनाने के लिये, सत्य को सम्मुख लाने के लिये ध्यान में खोज (छानबीन) भी करनी होगी। खोज से ही सत्य प्रकट होकर लोक के प्रसिद्ध भाव को मिटायेगा। पुनः पद्य १३२ में प्रज्ञा प्रसाद पर विशद (विस्तार से) प्रकाश डाला जायेगा।

बैठे आसन पै आलस न आये,
भले दुःख देख मन को जगाये।
संशय इच्छा को टालता जाये;
बहु विध दृष्टि व क्रोध न आये।। ।१३१।

गत पद्य में जिस प्रज्ञा की चर्चा की गई है उसी प्रज्ञा का प्रसाद ही सब बन्धन और दुःखों की समाप्ति करेगा। प्रज्ञा के प्रसाद का तात्पर्य है कि जैसे ही सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञा मन में अपनी चमक दे कि साथ ही मन में प्रसाद (प्रसन्नता) भी हो तभी प्रसाद युक्त प्रज्ञा सब बन्धन तुरन्त काट देगी।

इस पद्य तथा आगामी (आने वाले) कई एक पद्यों में इसी प्रसाद युक्त प्रज्ञा को उत्पन्न करने का व्यवस्थित साधन दर्शाया गया है।

पद्यार्थ :-श्रद्धायुक्त साधन में लगन रखने वाला पुरुष अपने बाह्य कर्तव्यों से अवकाश ग्रहण करने पर रात्रि के अन्तिम पहर में उठ कर आसन पर बैठे, आलस्य को त्यागे; आलस्य पुनः आने भी न दे। यदि आलस्य के सुख में प्रीति रखी जायेगी तब आलस्य का टालना कठिन है। इसके सुख में प्रीति न रखे तो आलस्य का त्याग बन पायेगा। यदि आसन पर बैठने पर और आलस्य को त्यागने पर दुःख ही तो भले इस दुःख को देखते-देखते

मन को जगाता हुआ समय व्यतीत करे। यहाँ जगाये का तात्पर्य यही है कि जब आदतों के बाह्य कर्मों से मन अवकाश ग्रहण करता है तो वह प्राणी को आलस्य निद्रा के सुख की ओर आकृष्ट करता है। उसे इस सुख को त्यागने में दुःख प्रतीत होता है। इसी दुःख को मन में एकाग्रता से देखता-देखता समय व्यतीत करे।

जब मन जगने लगेगा, आलस्य टूटने लगेगी तो वही आलस्य का सुख भंग होने से कहीं संशय, कहीं बाहर की इच्छा को उत्पन्न करेगा। इन्हें विचार करके टालता जाये; इनकी तुच्छता; इनके सुख की दुःखरूपता को देख-देख कर ध्यान द्वारा इन्हें हटाता जाये। मन कई एक बाहर के रंगीन सुखों के चित्र सामने लायेगा। यही दृष्टि रूप बन्धन कई एक प्रकार से इच्छा आदि जन्माता है। इसे भी विवेक से चिन्तन करता हुआ साधक पुरुष टालता ही जाये। इसी प्रकार बैठने पर कहीं वैरी आदि की दृष्टि में या अपमान की दृष्टि में क्रोध आदि मन को उलझायेंगे। इन सब को विवेक, चिन्तन द्वारा टालता ही जाये। ऐसा नित्य अभ्यास करे। यहाँ 'दुःख देख मन को जगाये' का तात्पर्य है कि आसन पर बैठने का समय बढ़ाने या लम्बा करने पर मन केवल इसीलिये दुःखी होता है कि उस समय कोई सुख लिया जाता था, उस ऐसे सुख त्याग का भले ही दुःख भी देखता हुआ समय व्यतीत करे और आसन पर ही रहे। इसी पद्य के उत्तरार्ध (नीचे के अर्ध भाग) का यह तात्पर्य है कि जब किसी भी व्यक्ति से किसी को सुख व विशेष करके दुःख होता है तो उस व्यक्ति के बर्ताव से मनुष्य उसे किसी प्रकार की सत्ता देता है। उस

व्यक्ति की देह को दृष्टि में बसाये हुए उसे दुःख आदि देने वाला समझता है; यही उस व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी के मन में बैठा रहता है। यद्यपि वह केवल दुःख देने वाला ही नहीं, किन्हीं को सुख देने वाला भी होगा; परन्तु इस एक के मन में तो वह दुःखदाता के रूप में ही टिका बैठा रहता है। यह इस मनुष्य की अपनी दृष्टि ही है जो कि मिथ्या दृष्टि रूप से कही गई है। यही इसे बांध कर उस देहधारी के लिये द्वेष, क्रोध की विष और अग्नि मन में रख कर इस को उसके लिये बुरा करने के लिये प्रेरित करती रहती है। इससे मनुष्य बाहर मिथ्या कर्मों में उलझ कर और भी अधिक दुःखी होता रहता है। यही दृष्टि कहीं संशय, कहीं काम, कहीं क्रोध आदि उत्पन्न करके मनुष्य को संसार चक्र में ही उलझाये रखती है। ऐसे सारा जगत् विविध दृष्टियों से ही है।

यदि कोई अल्प (थोड़ा) दुःख जो कि किसी दूसरे से होता है उसे अपने तप भाव से शान्त मन द्वारा सहन कर ले तो उसे किसी भी दुःखदाता में वैरी आदि की दृष्टि न बनेगी। यदि वह उस दुःखदाता रूप से समझ में पड़ने वाले को केवल अपनी ज्ञान रूप आत्मा के समान ही केवल शुद्ध ज्ञान रूप चेतन ही समझ ले तो वह पूर्ण ज्ञानी, तत्त्व को पहचानने वाला ही हो जाये।

यही मिथ्या दृष्टि किसी के एक आध बार के व्यवहार या कर्म से मनुष्यों के देह में किसी सदा बने रहने वाले वैरी आदि की मिथ्या दृष्टि ही है। कोई वैसा सदा बने रहने वाला वैरी आदि नहीं है। देहात्म रूप दृष्टि भी इसी

卐卐

का नाम है, 'देहों में किसी सदा बने रहने वाले की दृष्टि'। ऐसे ही सुखदाता में अपनापन या मित्र आदि की दृष्टि ही होती है। 'वैसा कोई मित्र आदि सत्य है', ऐसा वहाँ कुछ भी नहीं है। यही सब दृष्टि बन्धन है। इसे मन में समझ कर टालता रहे। जिन-जिन की दृष्टि होती है वह किसी एक देह में कभी प्रतीत अवश्य हो जाता है; परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वहाँ कोई वैसा आत्मा रूप से सदा बने रहने वाला वही एक वैरी या मित्र रूप ही है। यही बसा है। शुद्ध ज्ञान का रूप तो अवश्य सब में समान है, आत्मा वही है। इसकी ही सर्वत्र दृष्टि रखे।

छानबीन से उपजेगा जो ज्ञान,
देगा मधुर मुस्कान, सत्य का भान।
ऐसा जो पायेगा प्रज्ञा प्रसाद;
पाश कटेगा उसका निर्विवाद।। ।१३२ ।

पीछे कहे गये अनुसार एकान्त में आसन पर बैठ कर आलस्य और निद्रा के सुख को त्यागने पर जब मन बहिःर्मुख होकर विषयों की व उनके सुख की दृष्टियां (नजरें या चित्र) बना-बना कर इच्छा आदि को उत्पन्न करे तो यह सब प्राकृतिक खेल समझ कर ज्ञान या विवेक को मनुष्य जगाये और उसी विवेक से ही सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञा उपजेगी। तब प्रज्ञा के साथ-साथ मनुष्य के मन में प्रसन्नता भी होगी। यह ज्ञान रूप प्रसाद युक्त प्रज्ञा होने से मन में मधुर मुस्कान भी होगी। क्योंकि इस ज्ञान के साथ-साथ ही संसार के विषयों का बन्धन ढीला पड़ेगा। मन उन में नीरसता को पहचान कर मुस्कान के साथ टालना ही चाहेगा। ऐसे सत्य का प्रकट मन में भान होगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ऐसा प्रज्ञा का प्रसाद (प्रसन्नता) जो कोई जन यत्न से पायेगा उसकी संसार की पाश (फांसी) बिना किसी विवाद के ही स्वयं कट जायेगी।

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि जैसे मीठा, घी, दूधादि पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन करते-करते किसी को कोई भयंकर रोग हो गया हो तो उसे वैद्य या डाक्टर इन पदार्थों को बरतने का निषेध (मनाही) करे तब स्वास्थ्य हेतु इन पदार्थों को छोड़ना ही पड़ता है, परन्तु इन पदार्थों से सुखी होने वाला मन तो अवश्य दुःख मानेगा। यद्यपि रोगी को भी पता है कि मेरे रोग का ये सब मीठादि पदार्थ ही कारण है। परन्तु वह ज्ञान उसे इनसे मुक्त नहीं कर सकता; रोग के दुःख के भय से इन्हें टालना भले पड़े परन्तु इन पदार्थों से अभी मुक्ति न होगी।

यदि यही रोगी मनुष्य ध्यान में बैठ कर आसन पर अपने पुराने इस मीठे आदि के सुख का ध्यान करके पुनः अपनी रोग की अवस्था को मन की दृष्टि के सम्मुख (सामने) रखे तो भी आदत वाला मन, मीठा आदि पदार्थों से सुख मानने वाला, उन्हीं की सुख देने वाली दृष्टि (नज़र) बनायेगा। उनके सुख बिना जीवन सुखी होने में संशय करेगा। इच्छा या काम भी उन्हीं का होने पर और पुनः वह पूरा न हो कर अधूरा रहने पर क्रोधी या चिढ़ युक्त भी मन होगा; और जीवन को नीरस या भार रूप भी समझेगा। यद्यपि वैद्य द्वारा उसे ज्ञान है कि ये सब रोगी के शत्रु हैं परन्तु उसे अभी सब शत्रु नहीं दीखे। वे मन की बारीकी में नहीं दीखे जहाँ पर कि बैठा हुआ मन उनकी तृष्णा लिये बैठा है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे

卐卐

सत्य का भान रूप प्रज्ञा नहीं हुई; न ही जन्मी। इसलिये वह इन्हीं में बन्धा है; इन्हीं के रागादि बन्धनों में पड़ा दुःख पा रहा है। ज्ञान तो है कि यही रोग और दुःख की जड़ हैं, परन्तु विवेक नहीं । वह केवल दूसरे से सुने हुए का ही ज्ञान है। यदि वही रोगी मनुष्य स्वयं एकान्त में बैठ कर अपनी सारी स्थिति को और रोग की अवस्था को जागते मन के सामने एकान्त में लाये तो उसे उन पदार्थों के सुख और वर्तमान में होने वाले रोग के दुःख का अन्तर स्वयं झलकने लगेगा यद्यपि उनमें सुख मानने वाला मन सत्य की स्थिति को सामने लाने भी नहीं देगा। जब मन की इच्छा या कोई क्षणिक सुख का चमकीला चित्र या किसी दृष्टि को मनुष्य वैरी समझना चाहेगा तो मन निद्रा या आलस्य का सुख दिखाकर उसे छलना चाहेगा। जहाँ तक मन की बारीकी है; इसी अवस्था में बैठा हुआ मन सारा संसार अपनी लपेट में रखता है। निद्रा आदि की अवस्था लाकर मनुष्य को सत्य समझने योग्य रहने ही नहीं देता। इसी मन की बारीकी से पार पहुँच कर जो जागता रहेगा वही मन में छिपी संसार की सारी तृष्णा को जीत कर अपनी आत्मा में स्थायी सुख पायेगा। यदि आलस्य आदि को हटाकर वह इस सत्य का पूर्ण ध्यान करके मन के सम्मुख लायेगा तो स्वयं बुद्धि इस निश्चय पर भी पहुँचेगी कि ऐसा सुख मित्र कैसे जो कि मृत्यु तुल्य दुःख दिखाये? तब प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रभावित होकर मन उस एकान्त की विवेक वाली अवस्था में उनका त्याग करने में ही प्रसन्नता मानेगा। परन्तु यह त्याग करवायेगा वही सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान। जब इस वैरी सुख को त्यागने की प्रेरणा मन में

जन्म गई तो यही ज्ञान मन में मधुर मुस्कराहट उत्पन्न करेगा कि 'अहो ! मुझे कितना प्रिय सत्य दिखाई दिया जो कि मिथ्या वस्तुओं के बन्धन से छुड़वा रहा है'। इसकी प्रसन्नता ही प्रज्ञा प्रसाद है। तब वही साधक महसूस करेगा कि 'अभी तक मैं अज्ञान में पड़ा-पड़ा दुःख पा रहा था'।

इसी प्रकार संसार के परिवार, धन, जन, अधिकार, ऐश्वर्य और मान, यश आदि के सुख सब ध्यान में छानबीन करने पर झूठे ठहरेंगे; मिथ्या ही इनका सुख प्रतीत होगा; अनन्त दुःखों के साथ बन्धा हुआ इनका सुख दीखेगा। यही सब प्रकट ज्ञान इनसे मुक्ति दिलाने वाला विवेक, चिन्तन से मन में प्रकट होगा। तब सब अज्ञान टलेगा; एक भी बन्धन नहीं रहेगा। संसार की पाश (फांसी) कटेगी अर्थात् संसार में होना नहीं पड़ेगा। तब आत्मा में ही आनन्द प्राप्त होगा। संसार में भय ही भय और सब दुःख ही दुःख दिखाई पड़ेगा। यही संक्षेप से प्रज्ञा प्रसाद का तात्पर्य, अर्थ बतलाया गया। यही प्रज्ञा का प्रसाद मुस्कराती भगवान् कृष्ण की मूर्ति रूप से ज्ञानी भक्तों को दर्शन देता है।

यदि किसी को यह प्रज्ञा उत्पन्न करने के ध्यान का सामर्थ्य नहीं तो इसी आत्मा में उतरने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान रूप भगवान् की मूर्ति का ध्यान या नाम स्मरण वह भक्त करता है। ऐसे व्यक्तियों का मन ध्यान के विघ्नों को अभी नहीं जीत पाता। इसीलिए ज्ञान रूप से भगवान् छिपे ही रहते हैं। जहाँ तक विवेक चिन्तन करे कि बाहर जगत् में

卐卐

कोई भी सुख भयंकर दुःख या अनर्थ को ही करने वाला प्रतीत हो। अन्त में इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से सम्बन्ध करना भी दुःख रूप समझ में पड़े। 'बाहर जगत् में इन्द्रियों का खुलना आत्मा की भटकना ही है', ऐसा अनुभव में आये। बाहर इन्द्रियों का बने रहना थकावट, खेद उत्पन्न करता है। पुनः आलस्य, निद्रा, तन्द्रा (सोयी हुई सी अवस्था) आदि अवस्थाओं में जाकर भय दिखलाता है। इसी प्रकार संसार के बारे में मन का चिन्तन भी खेद और दुःख में ही पहुँचाता है। जब यह सब प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रज्ञा रूप से सम्पन्न होगा तो सब बन्धन ही कट जायेंगे। यहाँ तक ही भव सागर है, इससे पार प्रज्ञा रूप प्रत्यक्ष ज्ञान ही ले जायेगा।

ॐ इति प्रज्ञा सम्पत्ति वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ प्रज्ञा पूर्णता वर्ग 卐

बैठो आसन पै करके निश्चल मन,
देखो ! रहे न ता पै शिथिल तन।
होगा समय पै प्रज्ञा का प्रसाद;
जिससे मिटे सकल बन्धन विषाद।। ।१३३।

गत पद्य में यह वार्ता चर्चा में आयी थी कि छानबीन अर्थात् सत्य की खोज (शोध) से ही सत्य सम्मुख आयेगा जिससे सब बन्धनों की पाश (फांसी) कटेगी और सत्य का ज्ञान पाने के साथ-साथ ही मन हर्षायेगा भी।

अब आगे के कुछ पद्यों में इसी प्रज्ञा प्रसाद को पूर्ण रीति से अपने में पाने के लिये व्यवस्थित प्रकार (कायदे के ढंग) से आसन पर बैठने के साथ अन्य कर्तव्यों का निर्देश (इशारा) किया गया है।

पद्यार्थ :- मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) जन एकान्त में अपने आसन पर मन को निश्चल करके बैठे। मन को निश्चल करने का तात्पर्य है कि मन को चलायमान न होने दे। मन को चलायमान करने वाले मनुष्य का अपना बाहर का स्वार्थ होता है। स्वार्थ है यही बाह्य सुख; इसी के निमित्त मन काम (इच्छा) द्वारा चलायमान करता है; सुख की इच्छा से सुख वाले पदार्थ और व्यक्तियों की इच्छा करता है। यही इस मन की चंचलता रूप चलायमानता है। इसी सुख के स्वार्थ के कारण कई एक संशयों से भी चलायमान होता है। वैसे ही क्रोध से भी। इन्हीं सबसे अपने मन को सम्भाले रखने का नाम है निश्चल मन करना।

卐卐

और तब, जबकि मन को आप निश्चल रखने का यत्न करते रहे तो मन शरीर को शिथिल कर देता है। ढीला हुआ-हुआ बाह्य स्वार्थ की पूर्ति का अवकाश न देखता हुआ आलस्य (सुस्ती) या निद्रा के ढंग के सुख की तृष्णा खड़ी कर देता है। इस आलस्य और ज्ञान के लोप रूप निद्रा आदि अवस्थाओं से भी मन को जगाये रखने के लिये शरीर को शिथिल न होने दे। कमर में झुकाव या बल न पड़े। गर्दन भी टेढ़ी न हो, सिर सीधा रहे। इसी यत्न से शरीर धारण रखने से थोड़ा पहले पहल कष्ट तो होगा परन्तु इसके बिना या इसके दुःख को देखे बिना ध्यान के योग्य मन जाग्रत नहीं रह सकता।

इस प्रकार समय पाकर ध्यान की एकाग्रता प्राप्त होने पर सत्य के ज्ञान रूप प्रज्ञा का प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त होगा जिससे कि सकल जगत् या भव के बन्धनों की पाश (फांसी) कटेगी और मन का विषाद (रंज) भी मिटेगा।

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि जब साधक अपने बाह्य सुख के काम या इच्छा को ठुकराता है, विचार द्वारा संशय, क्रोध को भी टालता है तब यही स्वार्थी मन निद्रा या आलस्य आदि दोषों में छिप जाता है और यही तमोगुण का सुख मनुष्य के मन को बांधता है। इसकी तृष्णा बड़ी बल वाली है। जैसे बाहर के प्राणी पदार्थों के संग सुख की तृष्णा, ऐसे ही बाहर से मन की टालने की तृष्णा भी उतने ही बल वाली है। इसमें छिपने वाला मन सब कुछ संसार में रहने के बन्धन सम्भाले रखता है। इस आलस्य निद्रा के सुख को जीते बिना न तो पूर्ण बन्धनों का ज्ञान, और न ही उन के दुःखदातापने का ज्ञान ही हो सकेगा और न ये

छूटेंगे ही। इसलिये इसी असमय (बिना समय की) की निद्रा आलस्य को जीतने के लिए मनुष्य को सदा देह को धारण रखने का यत्न बनाये रखना चाहिये। जब तक आसन पर बैठा रहे तब तक तन को शिथिल न होने दे। उसके धारण के दुःख को देखता-देखता भी मन को जगाये रखे और दूसरी ओर जब मन जगने पर अपने सर्पों जैसे कुटिल काम (इच्छायें) उगले तब वहाँ बुद्धि जगा कर उनसे वैराग्य साधता जाये।

यही सब साधन का बल है। इस पद्य में दो ही बातें बताई गई हैं। विषय विकारों से मन चलायमान न होने पाये और आलस्य निद्रा आदि से मन लय को प्राप्त न हो। निद्रा को जीतने का यह तात्पर्य नहीं कि निद्रा लेनी ही नहीं; परन्तु यह बात भी नहीं कि जब भी निद्रा आयी हुई सी प्रतीत होने लगे तभी-तभी उसके सुख में खोया हुआ मन उसी के सुख का अनुभव करता रहे। यह बिना अपने उचित समय वाली निद्रा दोष वाली निद्रा ही है, इसे ही जीतना है।

स्मृति देखो ! कहीं चूकने न पाए,
दृष्टि फिर फिर वहिः (बाहिर) काम फैलाये।
मिथ्या आशा को मन में बसाए;
जामें इसकी चाह, ता में ही ललचाये।।

। १३४ ।

गत पद्य में आसन पर बैठ कर मन को काम, क्रोध, संशय आदि विकारों द्वारा चलायमान होने से बचाना बतलाया गया था और वैसे ही अनुचित या दोष वाली निद्रा तथा आलस्य आदि के सुख से भी बचने की वार्ता कही

卐卐

गई थी। ऐसे मन को दोनों ओर से सम्भालने के लिये सावधानता का पाठ यह पद्य स्मरण करवाता है कि:-

पद्यार्थ :- जब आसन पर निश्चल मन करता हुआ कोई बैठे तो उसकी स्मृति चूकनी नहीं चाहिये। स्मृति चूकने का तात्पर्य यह होगा कि मन झट-पट ध्यान में सम्भाले रहने के यत्न को शिथिल करके दृष्टि (नज़र) को बाहर कहीं उलझा देगा। बाहर के सुखों के चित्र खींचने लगेगा और उनको दृष्टि में शुभ रूप से बसाये रखेगा। संस्कारों में बसे थोड़े से सुख की नज़र (दृष्टि) बनते ही वह प्रिय (प्यारा) लगेगा और झट-पट स्मृति और मन की उपस्थितिहीन मनुष्य में उन्हीं काम सुखों को पाने का लोभ (लालच) उत्पन्न होगा । तब ध्यान का कर्म अल्प बल वाला रह जायेगा; ध्यान में मन भी नहीं लगेगा; निद्रा भी तब सताने लगेगी। ऐसी अवस्था में पुनः स्मृति रख कर प्रकृति के सब जीवों को चलाने वाले मन को अपने में भी प्रबल होते पहचान कर पुनः विवेक जगा कर प्रकृति के काम आदि के बल का सामना करते रहना चाहिए। यह सब ध्यान को बनाये रखने का उद्योग है। इस प्रकार जब भी प्रकृति का बल सर्व साधारण जीव में बाहर के उद्देश्य (मतलब) को सामने रखे, उसकी प्रियता झलकाये, और ऐसे अवसर पर यदि स्मृति दुर्बल रही, मन की उपस्थिति भी नहीं रहे तो झट मन बाहर की सकल अच्छाई देखकर उधर के ही इरादे, उधर की ही उत्तेजना (जोश) और उधर के ही हीन ध्यानों में पहुँच जायेगा। इन सब से स्मृति (याद) तथा मन की उपस्थिति (हाज़री) रख कर बचते रहना चाहिए।

卐卐卐

इधर उधर दृष्टि न जाये,
निज मन को ही देखना सुहाय।
मिथ्या काम को देवे भगा;
रखे ऐसे निज मन को जगा।। ।१३५।

जैसे गत पद्य में बाहर के सुख और सुख दुःख वाले सब तृष्णा के परिवार की दृष्टि (नजर) से सम्भलना बतलाया गया, इसी प्रकार इस पद्य में आसन या ध्यान पर बैठे जन की बाहर चक्षु आदि की दृष्टि भी भटकनी नहीं चाहिए और दृष्टि को भटकाने वाले काम (इच्छा) आदि से भी सचेत तथा जागरूक (जागते रहने वाला) रहना चाहिए, यह वार्ता बतलाई गई है।

पद्यार्थ :- मन की चंचलता वश या इन्द्रियों के सुख के कारण चक्षु और श्रोत्र आदि भी बाहर के दृश्य देखने या शब्द सुनने में ही न लगे रहने चाहियें। ऐसे अवसर में निज मन को ही देखने में लगे रहना चाहिये; बाहर की मिथ्या बातों को समझने, पहचानने में मनोयोग रखना या मन को जोड़ना भी सही नहीं है।

मिथ्या चक्षु से देखने या श्रोत्र आदि से व्यर्थ की सब की बातें सुनने के काम या इच्छा को भगा दे, और ऐसा व्यर्थ का देखना, सुनना करते मन को झट पहचान कर विचार के शब्द को जगा कर अपने मन को विचार में लगाये कि व्यर्थ की बाहर इन्द्रियों की दौड़ से क्या लाभ होगा ? केवल मन को लगाना और समय को व्यतीत करना ही होगा। ऐसे विचार में मन को जगाने पर मन यदि चक्षु और श्रोत्रादि का साथ नहीं देगा तो बाहर की बातों की समझ भी नहीं पड़ेगी। सांसारिक सुख के लिये

卐卐

पुनः इन्हीं इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने के परिणाम स्वरूप दुःखों को भी विचार से पहचानने की चेष्टा करे। जितनी इन्द्रियां बाहर भटकती हैं उतनी ही श्रान्ति (थकावट) बढ़ती है; उतनी ही आलस्य निद्रा आदि की दासता भी बढ़ती है; और इससे ध्यान विचार बनने नहीं पाता। सत्य का ज्ञान भी ढकता है। यह सब मन से विचार के शब्द बोल-बोल कर सम्भलने का यत्न करे। ऐसे व्यापार या कार्य में मन लग जाने पर मन अन्तर्मुख रहेगा।

खाली समय को जाने न दे,
फुरसत में भी काम न लदे।
बुद्धि का राखे पूर्ण योग;
साधित रहे विकृति वियोग।। ।१३६।

गत कई एक पद्यों में (पिछले दो पद्यों में विशेष करके) दृष्टि की चर्चा रही है। दृष्टि चाहे चक्षु आदि की बाहर पदार्थों पर पड़ने की हो अथवा मन अपनी दृष्टि में किसी सुख दुःख का चित्र खींचे; यह भी एक दृष्टि ही है। और चाहे यह जीव किसी प्राणी में कोई भी सांसारिक मित्र, वैरी, बन्धु आदि की दृष्टि बनाये, इन सब प्रकार की दृष्टियों से काम या इच्छा का सम्बन्ध रहता है। काम ही मनुष्य को जगत् में घसीटता है, कर्म चक्र में उलझाता है। परन्तु इस सब दृष्टि बन्धन की भी माता है 'अविद्या' जो कि खाली चित्त (खाली या केवल सोचने की दशा) में जीव में प्रबल होती है। जब यह अविद्या जीव पर सवार होती है तो उस समय जीव ऐसा अपने आप में प्रतीत (महसूस) करता है कि 'कुछ भी मैं समझूँ'। अविद्या की दशा में समझ या ज्ञान तो कोई प्रकट होता नहीं, केवल कुछ भी

समझने या जानने की भूख इतनी प्रबल होती है कि वह किसी भी पुराने संस्कार को जगा कर उसी संसार चक्र में डाल देती है जहाँ से कि ये सब संस्कार इकट्ठे किये गये हैं। ज्ञान जीव का असली स्वरूप है, ज्ञान के बिना जीव अपने आप में नहीं होता। इसे अपना आपा भी अनुभव में नहीं आता। अविद्या इसी अपने आपे को ढांकने की शक्ति है। यदि कोई सदा बसे रहने वाले केवल ज्ञान मात्र में ही अपने आप को पहचान ले; संसार की तृष्णा वाले ज्ञान में ही न डूबा रहे तो वह सुख, दुःख आदि किसी भी ज्ञान की दशा में अपने आपे रूप आत्मा को पा जायेगा। तब अविद्या का अन्धकार उसे परेशान करके जगत् के संस्कार नहीं जगा सकेगा। संस्कार न जगने पर संसार में जन्म भी नहीं होगा।

अविद्या ही पुराने संस्कारों को प्रबुद्ध (जगा) करके कोई एक दृष्टि रचकर पुनः काम या इच्छा को रचाती है। काम और इच्छा से संसार में मनुष्य को पुनः कुछ होने का भाव बनेगा या कुछ करके अपना स्वार्थ पूरा करने का यत्न होगा। इस प्रकार से ज्ञान की धारा बहती रहने से अपने आप का बना रहना प्रतीत होता रहेगा और अपने विनाश की शंका न होगी और ज्ञान के बने रहने से खाली मन में अविद्या का राज टलता सा रहेगा, ज्ञान भले कोई भी हो। यही सब चक्र सब जीवों के अन्दर चलता रहता है। इसे अर्न्तदृष्टि जन अपने में देखे, बुद्धि योग या ज्ञान का संग रखे और अपने अन्दर इस प्रकार से खाली मन में अविद्या से कोई दृष्टि संसार की उत्पन्न ही न होने दे और बाह्य सब विकारों (काम आदि विकृतियों) को टालने

卐卐卐

का यत्न रखे। यही सब भाव वाला यह पद्य है जो कि खाली आलस्य (सुस्ती) या प्रमाद (ढिलाई) में समय व्यतीत करने से वर्जित करता है।

पद्यार्थ :- आसन पर बैठा व्यक्ति अपने समय को, खाली रह कर व्यतीत न करे। यदि मन फुरसत (अवकाश) पाता है तो खाली (रिक्त) समय में झट यही खाली मन की सोचने की दशा रूप चित्त, बोध शून्य होता है; यही अविद्या की दशा है। इस अवस्था में ज्ञान स्वरूप अपना आपा, खो जाने से या न प्रतीत पड़ने से आत्म विनाश की शंका परेशान करती है। यही पुनः किसी भी संस्कार को जगाकर उसकी दृष्टि रच देती है और दृष्टि में कोई काम लदा रहता है। काम मनुष्य को संसार में ही भटकाता है। इस प्रकार सांसारिक ज्ञान जगाकर अपनेपन की प्राप्ति करनी पड़ती है। इसलिये इन सब विकारों को और अपने अन्दर के सत्यों को यदि मनुष्य पहचानता रहे तो बुद्धि का योग (जोड़) बना रहेगा। ज्ञान का सम्बन्ध बना रहेगा। इसी ज्ञान से ही अविद्या टलती रहेगी। संसार में भटकना नहीं पड़ेगा और सब काम, क्रोध, संशय आदि विकार भी विवेक द्वारा टलते रहेंगे। यदि कोई खाली, बिना ज्ञान जगाये; और बिना मन की दशाओं को पहचाने बैठा या लेटा रहेगा तो केवल बोध शून्य मन में नासमझी की दशा रूप अविद्या मिथ्या काम आदि का जाल ही फैलायेगी। इसलिये बुद्धि विवेकपूर्ण सम्बन्ध रखे जिससे सब विकारों का वियोग सधता रहे।

इस सब ऊपर कहे गये का सारांश यही है कि कल्याण को चाहने वाला मनुष्य, जब-जब अविद्या संस्कारों

को जगाकर संसार में खींचना चाहे तो बुद्धिमान् जन संसार में भटकने के दुःख को पहचानने के ज्ञान को जगाकर अन्त में केवल ज्ञान स्वरूप अपने आप स्वरूप आत्मा में ही रमा रहने का यत्न बनाये रखे। अविद्या को पहचान लेने से इससे सहज में मुक्ति मिल जाने की योग्यता बन जाती है, जैसे रोग का कारण पहचानने पर उसे टालने का यत्न बन जाता है। जब भी मन भले व्यर्थ के चिन्तन जगा-जगा कर ही अपने में ज्ञान युक्त होकर समय व्यतीत कर रहा हो वह यदि व्यर्थ का चिन्तन समझ कर थोड़ा समय भी शान्त रहना चाहे तो खाली मन में कोई भी ज्ञान न जन्मने से जीव अपने में सुखी नहीं होता। वह चाहे या न चाहे उसी खाली छोड़े मन की अवस्था में संस्कार जागने लग जाते हैं। कहीं दुःख के; कहीं सुख के; कहीं शिकायतों के; कहीं भय के; कहीं दूसरों की यादें और उनके संग से कई एक उनके व्यवहार; पुनः भले बुरे भाव यह सब अविद्या ही मन में ज्ञान शून्य अवस्था में जगा-जगा कर जीव को संसार में ही बांधे रखती है। इस सब को स्वयं मनुष्य पहचाने।

देखो काम जब आये, मोह मान फैलाय,
संशयादि सब बन्धन का जाल रचाय।
इसके आगे न देना माथा टेक;
इरादे इसके नहीं हैं कहीं नेक।। ।१३७।

गत पद्य में दर्शाया गया कि खाली समय में फुरसत पाये मन में बाह्य जगत् का काम लदता है और वह अपनी जगत् की ही दिशा में मनुष्य को घसीटता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब बाहर ही उलझ जाते हैं। परन्तु

卐卐

बाहर का सुख या बाहर जगत् में पाया गया आत्मा या अपना आपा सदा प्राप्त नहीं रह सकता; वह अल्प काल तक ही रहता है। पुनः वह अदृश्य (न दीखने वाला) हो जायेगा, पुनः अविद्या का ढक्कन आत्मा पर (अपने आप के जाग्रत ज्ञान पर) पड़ जायेगा; और इससे आत्मा (अपने आपे) के खो जाने या विनाश की शंका का सा भाव बनने लगेगा। इस भाव को यदि शास्त्र की रीति से अन्तरात्मा का सहारा लिये बिना केवल बाहर की वस्तुओं (प्राणी या पदार्थों) के सहारे से टाला जायेगा तो पुनः-पुनः यह भाव उत्पन्न होगा और मरना रूप संकट से छुटकारा नहीं हो सकेगा, क्योंकि बाहर का कोई भी सम्बन्ध या सम्बन्ध से या संग से प्राप्त सुख व सुख वाला अपना आपा रूप आत्मा सदा बने रहने वाला नहीं है। संग या सम्बन्ध सब बदलते-बदलते एक दिन सुख के स्थान पर दुःख रूप से विपरीत हो जाते हैं। उनके संग से सुख और ज्ञान का दीपक सदा जला नहीं रह सकता। इस ज्ञान के दीपक को तो अन्दर अपने आप में ही जलाये रखना होगा, पुनः जहाँ तक कि अन्त में न बुझने वाला सहज, स्वाभाविक सुख स्वरूप ज्ञान, सदा चमकता हुआ आत्मा रूप से हमें अनुभव में न आ जाये। इससे पुनः अपने आप के विनाश की शंका सदैव काल के लिए टल जायेगी। तभी अविद्या जड़ मूल सहित टली कही जायेगी। इसके लिये हमें ज्ञान को अन्दर ही अन्दर जगाये रखना पड़ेगा। ज्ञान तो एक ही ओर जगेगा, मन जो एक है। जिधर मन रहे, मन जगे, वहीं ज्ञान रहे। यदि मन बाहर विषयों में जाग्रत है; उन्हीं के चित्र (दृष्टि) रच कर काम फैलाता या

लादता है तो अन्दर अपने आप में अन्धकार या अविद्या का राज रहेगा। और यदि अन्तर्मुख हो अन्दर के सत्यों को पहचानने में जुड़ा रहे; स्मृति और वीर्य का सहारा लेकर अपने आप को समझता हुआ हिम्मत करके विकारों को टालता रहे; और ध्यान रत हो, आलस्य निद्रा का अति दास न होकर मन की लीला पहचानता रहे तो बाहर से छुट्टी (छुटकारा या मुक्ति) पाने के मार्ग पर आरूढ़ हो जायेगा। बाहर से मुक्ति पाने पर अन्दर का सदा बना रहने वाला ज्ञान रूप आत्मा भी प्रकट हो जायेगा और पुनः आत्म विनाश की शंका से इसी ज्ञान रूप आत्मा को पाने के लिये जगत् में जाना या जन्मना भी नहीं पड़ेगा। आनन्द का सागर अपने आप में ही प्रकट होकर सदा तृप्ति का स्रोत बहाता रहेगा।

नया साधन की सरणि चढ़ा मन,
पाए जो न आदत का सुख धन।
थोड़े दुःख में शोक रंज दे फैला;
दुर्बल चित्त धैर्य छोड़े, साधे न भला।।

। १३८ ।

गत पद्य के साथ-साथ इस पद्य में भी बाहर के काम से सचेत रहने के लिये मनुष्य को सदा यत्न बनाये रखने की प्रेरणा है। यदि स्मृति युक्त रह कर बाहर के काम या इच्छा से बचते रहे तो अन्दर ज्ञान का दीपक जल जायेगा। जैसा कुछ जगत् का बांधने वाला सत्त्व (सत्य) है, उसकी भी खबर पड़ जाएगी। और सर्व में समान रूप चेतन तत्त्व का भी मनुष्य को ज्ञान मिलने पर दूसरे स्थान पर या दूसरों से कुछ भी अधिकता या विशेषता भी नहीं

卐卐卐

दीखेगी। इसलिये बाह्य काम या काम के सब विकारों से बच-बच कर अपनी आत्मा में बसा रहे, इसके साथ जुड़ा रहे। यही दो पद्यों का भाव है।

दोनों पद्यों का अर्थ :- जब मन ने फुरसत पायी तो वह ज्ञान रूप आत्मा को प्राप्त करने के लिए चित्त (चिन्तन धारा) को जगायेगा, पुनः आदत के सुख को स्मरण करके काम या इच्छा लायेगा; काम जब तक पूरा नहीं हुआ तो पुनः काम सुख के मोह को भी फैलायेगा; उसके न होने को महसूस करेगा; उस व्यक्ति को सुख वाली 'मैं' न मिलने से शोक के साथ रंज वाली विपरीत 'मैं' मिलेगी। यही मान का स्वरूप है। पुनः विविध दुःख पड़ने के संशय बन्धनों का जाल भी यही मन रचायेगा। परन्तु इस काम के आगे झुकना ठीक नहीं क्योंकि इसका या काम सुख का इरादा या संकल्प उत्तम नहीं है। इसमें दुःख, शोक, बहु संघर्ष, विरोध और इसके सुख की अनित्यता आदि दोष बन्धे हैं। इसके सुख वाला आत्मा या अपना आपा भी टिका रहने वाला नहीं। जब सुख न टिका तो सुख वाला अपना आपा भी कैसे टिका रहेगा ? इसलिये इस काम के सुख के इरादे या संकल्प नेक या उत्तम नहीं हैं। परन्तु संसार से थोड़ा वैराग्य को प्राप्त कर-कर जो मनुष्य अभी साधन को आरम्भ करने की दिशा में प्रस्तुत (तैयार) हुआ है उसे यदि आदतों वाला घना सुख न मिले; या वह आदत का सुख अड़चन में पड़ जाये तो वही पुरानी आदतों या सस्कारों वाला मन दुःखी होगा; थोड़े भी दुःख से शोक (व्यर्थ का फिकर) और दुःख पूर्ण सोच (रंज) को फैला देता है। यह भी एक अविद्या की ही दशा है। ऐसी अवस्था

卐卐
में दुर्बल चित्त वाला मनुष्य धैर्य को छोड़ कर पुनः संसार जाल में ही कामों और काम सुखों के पीछे भाग लेता है। अपना भला साधने में सफल नहीं हो पाता। इसलिये इस बाहर के काम से चौकस (चौकन्ना) रहना चाहिए। यदि बाहर काम घसीट कर ले गया तो अन्दर अन्धकार ही रहेगा। सदा जागता ज्ञान रूप आत्मा नहीं मिलेगा जो कि बिना किसी बाहर के निमित्त (शर्त) के आनन्द रूप है।

यदि उस अन्तरात्मा रूप अपने आप को पाना है तो अन्दर सब अवस्थाओं को पहचानते रहना; काम, क्रोध आदि विकारों को तथा राग, द्वेष, मान,मोह आदि बन्धनों को सदा समझ-समझ कर इन्हें टालते रहने का अभ्यास बनाये, यही एक जीवन बन जायेगा। यदि अन्दर का ज्ञान जागता न रहा तो बाहर का काम जाग-जाग कर बाहर के ज्ञान से ही जगत् में जीव को बना रहने के लिये उकसाता रहेगा जो कि सदा कभी भी बना नहीं रह सकता। यही सब दो पद्यों का भाव है।

चक्षु आदि की दृष्टि व्यर्थ में न जाए,
अपनी स्मृति में एकाकी रहना ही भाए।
हर कर्म में संयम साधन की लगन;
देवे सत्य ज्ञान कर दे ध्यान मग्न।। ।१३६।

गत पद्यों में चर्चा में आया कि आत्मा का सहारा ही अन्त में कल्याण रूप से सर्वोत्तम है। केवल आत्मा या अपने आप का सहारा ही सर्व दुःखों का अन्त करने वाला है। दूसरा कोई भी सहारा सदा एक जैसी तृप्ति करने वाला नहीं हो सकता। जैसे किसी का पुत्र या मित्रादि

अपने-अपने समय पर कुछ काल के लिये ही तृप्ति करते हैं। सदा उनका एक जैसा मधुर बर्ताव नहीं मिल सकता। प्रत्येक वस्तु बदलती रहती है, जो आज है, वह कल नहीं रहती, जो इस पहर में है, वह दूसरे पहर में नहीं मिलती; बदलते-बदलते एक दिन मीठी से कड़वी प्रतीत होने लगती है। प्रिय से अप्रिय भाव को प्राप्त हो जाती है। जैसे-जैसे उस वस्तु की नयी-नयी झाँकियां होती हैं, वैसे-वैसे ही वह मनुष्य को सुख दुःख देने वाली अपने समय पर होती हैं। इसलिये पुत्र आदि का अज्ञान या बाल्यकाल का समय ही मीठा है जबकि वह अपने पराधीन होता है। जब वह स्वयं स्वतंत्र हो अपने सुख के लिये स्वयं सोचने और करने वाला हुआ तो वह मनमुखी होकर दूसरे के सुख को अधिक नहीं विचार सकता। ऐसी अवस्था में भला उस से कोई अपने सुख की आशा कैसे कर सकता है ? परन्तु मन तो संसार में दूसरों के सहारे वही पुरानी आशा लगाये रहता है और पीछे जाकर जब आशा की वस्तु न मिली तो हाथ मलता हुआ पश्चात्ताप करता है। इसलिये मनुष्य को अपनी आत्मा की ही शरण खोजनी चाहिये और वैसा ही जीवन बनाना या साधना ठीक रहेगा। इस उद्देश्य (मतलब) के लिये उसे जीवन काल में ही अकेले में या अपने आप में ही स्थिर रहने का अभ्यास करना होगा। इसी साधन के स्वरूप को यह पद्य दर्शाता है।

पद्यार्थ :-आत्मा में सदा बना रहने के लिये मनुष्य की दृष्टि बिना प्रयोजन के इधर-उधर नहीं जानी चाहिए। मनुष्य को अपनी मन की उपस्थिति (हाज़री) और याद

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

(स्मृति) में सदा बसे रहना चाहिये। अपनी स्मृति में बस कर सब कर्तव्य के कर्म करता हुआ प्राणी अपने आप में ही अकेला रहने का अभ्यास करता रहेगा। उसे सब स्नान, खान-पान आदि कर्मों में अपने मन में लदने वाला संसार का काम भी दिखायी देने लगेगा। तब वह उस अपने प्रत्येक कर्म करने में अपने आप को लगाता हुआ, उसी कर्म करने में ही ध्यान रखता हुआ, उसी कर्म काल में ही उस काम से अपने मन को सम्भालता रहेगा। यही हर एक कर्म में अपने आपको सम्भालना रूप संयम की लगन है। इससे शनैः-शनैः मनुष्य को सत्य का ज्ञान होने लगेगा; और स्वयं ही मन सत्य को जानने और समझने के लिये अपने मन को टिकाकर विचार में मग्न हो जाया करेगा। यही ध्यान का स्वरूप है। किस प्रकार मन पुराने संस्कारों को जगा-जगा कर पुनः संसार में ही घसीटता है ? क्यों संसार में जाना पड़ता है ? दुःख होने पर भी कौन जीव को खींच कर उधर ले जाता है ? इत्यादि-इत्यादि सब सत्य अपने में बसे रह कर कर्म करने वाले मनुष्य को प्रकट ध्यान में भासने लगते हैं। इस प्रकार अपने में लगन रहने पर, अपने में ही जीवन मिलने पर; अपने आप में समय व्यतीत करना आ जाने पर मनुष्य अन्त में जागती हुई प्रकाशमान केवल आत्मा में ही टिकाव प्राप्त कर लेता है। यही पुनः अनन्त आनन्द रूप आत्मा अन्तिम शरण रूप से सिद्ध होता है। तभी अविद्या से पूर्ण रूप से मुक्ति मिल जाती है। नहीं तो अविद्या इतनी बलवती शक्ति है कि स्वयं पहचान में प्रत्येक

प्राणी के न पड़ती हुई छिपी-छिपी जीव को संसार में ही घसीटती रहती है। जैसे ही मन खाली हुआ या खाली रहा तो यह या तो आलस्य, निद्रा आदि तमोगुण के स्वरूप में छा कर उसे ज्ञान शून्य अवस्था में ले जायेगी; या फिर पिछले कुछ के कुछ संस्कार जगाकर कई एक विचारों (ख्यालों) में बांधे रखेगी। यही रजोगुण की या तृष्णा की अवस्था है। थोड़ा भी मन चिन्तन छोड़कर यदि बैठना चाहे तो चिन्तनधारा छूटते ही, संसार का ज्ञान रुकते ही ज्ञान शून्य चित्त की दशा में यही अन्धकार स्वरूप से बैठी रहती है। इसके रहते जीव को अपना ज्ञान स्वरूप आत्मा (अपना आपा) न मिलने से वह भी सुखी नहीं होता, तभी संस्कार जागने आरम्भ हो जाते हैं। संस्कार, सब देखी सुनी या अनुभव की हुई वस्तुओं या संसार के ही होते हैं। उन्हीं के संग सब काम (इच्छा), क्रोध, भय, शंका, मान, अपमान भी गुथे रहते हैं। यही सब संसार जीव पर लदा रहता है। इसलिये मनुष्य को इसी संसार के दुःख से निकलने या बचने के लिये अपने आप में ही टिकाव प्राप्त करना है। उसी सब की युक्ति यह ऊपर वाला पद्य दर्शाता है। यही जीवन रूप में सध जाने पर अविद्या का नाम व निशान तक भी नहीं रहता। परन्तु अविद्या को पहचाने और त्यागे।

अधूरे रहे मिथ्या काम का संताप,
तप भाव से ही धोए चढ़ा इसका पाप।
रुग्ण काया का दृष्टान्त, धैर्य को सिखाए;
समय यापन करता रहे, शीघ्र सुख पाए।।
। १४० ।

स्मृति में बसे रह कर, कर्म करते समय जगत् के पदार्थों में ही मन को भटकाने वाला बाह्य काम, मन के बहलाव के लिये व्यर्थ की वस्तुओं पर दृष्टिपात करता हुआ, व्यर्थ के शब्दों को सुनता हुआ, जगत् में ही बसा रह कर कर्म करने की आदत वाला है। ऐसा जगत् में बसा मन स्मृति से लग्नपूर्वक पूर्ण जुड़ कर कर्म करने के पक्ष में नहीं होता। उसे जगत् का काम बाहर खींचता रहता है। इससे बचाव के लिये यह पद्य साधन को बताता है।

पद्यार्थ :-जब स्मृति में रह कर, या स्मृति को कर्म में स्थिर रख कर एकाग्र मन से ही कर्म किये जायेंगे तो आदत वाले मन का बाहर का झुकाव अड़चन में पड़ेगा, उसका काम या इच्छा संसार में ही भटकने की पूरी न होने पर वह मन खिन्न होगा; उसका संताप या क्लेश तब मनुष्य को तप रूप समझ कर सहन कर लेना चाहिए। वह भटकने वाले मन का संताप पाप रूप है क्योंकि वह कल्याण के मार्ग का विरोधी है।

कल्याण मार्ग में चलने वाले पुरुष को प्रथम थोड़ा दुःख का अनुभव होता है। इसके उस दुःख को सहन करने से वह मन के भटकने का पाप नाश हो जायेगा। यही दुःख का सहन करना तप नाम से यहाँ कहा गया है। जैसे कोई रोगी मनुष्य अपने स्वास्थ्य (तन्दरुस्ती) के लिये, औषध सेवन काल में सब अपनी रुचि के भोजनों को त्याग कर भी वैद्य के बतलाये पथ्य (परहेज) के पदार्थों का भोजन करता है और अन्त में स्वस्थ हो जाता है। यह सब उसे अपने बड़े (लम्बे समय के) भले के लाभ के लिये

करना ही पड़ता है। इसी प्रकार साधक पुरुष को अपना बाहर का जगत् बन्धन रूप दुःख टालने के लिये भी, मन के भटकाव को रोककर ही संसार में उचित रीति से रहना पड़ेगा और सम्भल-सम्भल कर सब कर्म करने पड़ेंगे। सब कर्मों में भी, जैसे कि मार्ग चलते, दूसरों से वार्तालाप करते इत्यादि में मन को सम्भालते रहना होगा। मिथ्या काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि से बचते रहना होगा। तब ही वह अपनी स्मृति में अकेला जीवन पाने का अभ्यासी बन सकेगा। मिथ्या वचन या कर्म भी नहीं होने देगा। तब ध्यान के योग्य भी होगा और सत्य ज्ञान भी पायेगा और अन्त में जागते हुए अपने आप में या आत्मा में आनन्दमय आत्मा रूप सहारे (शरण) को प्राप्त होगा।

इन दो पद्यों का भावार्थ यह है कि जैसे बाजार में चलता हुआ जन केवल चलना रूप कर्म में ध्यान जोड़ता हुआ चले, न कि व्यर्थ में दूसरों के चेहरे पहचानता हुआ; व वेषभूषा को निहारता हुआ; व दुकानों की वस्तुओं को व्यर्थ में पहचानता हुआ; व दुकानों के नाम पढ़ता हुआ या दूसरों की बातों के सुनने और समझने में मन भटकाता हुआ अपने चलने के कर्म को बिगाड़े। यह इन्हीं सबसे बच कर कर्म करने से मन की व्यर्थ की भटकन मिटने लगेगी। मन को थोड़ा दुःख या तनाव तो प्रथम प्रतीत होगा, परन्तु इसे तप समझ कर रोगी मनुष्य के समान पथ्य भोजन के रूप में स्वीकार करे और सब कर्मों में अपने आप में बसा रहने का अभ्यास करे। इससे एक दिन सफल आध्यात्मिक (केवल आत्मा में) जीवन पायेगा।

卐卐卐

और संसार में जीवन के उपयोग वाला कुछ बिगड़ेगा भी नहीं परन्तु आत्मा का धन प्राप्त होने से मार्ग अवश्य मिल जायेगा।

धीरे धीरे उन्नत होगा ध्यान,
पावे दिव्य गुप्त वस्तुओं का ज्ञान।
पर प्रथम हो ललचाया हुआ मन;
सही उलझे, निश्चय फंसे काम के (ही) वन।।
। १४१ ।

गत दो पद्यों में जो तीन साधन बतलाये गये किः

(१) अपनी स्मृति में रह कर कर्म करना,

(२) चक्षु आदि की दृष्टि को व्यर्थ में इधर-उधर न भटकाना अर्थात् अपनी इन्द्रियों का संयम रखना और मन के काम, क्रोध आदि विकारों को रोकने की लगन बनाये रखना।

(३) पुनः जो मन की आदत के अनुसार भटकना है, उसे रोगी पुरुष के समान तप भाव से स्वीकार करना; अर्थात् उसमें दुःख नहीं मानना परन्तु साधन भाव से भटकना रोकने के दुःख को सहर्ष सहन कर लेना।

यही तीन साधन पीछे बतलाये गये थे जिससे जगत् की उलझन से छूट कर मन अपने आप में (आत्मा में) प्रतिष्ठा या टिकाव प्राप्त करेगा।

अब इस पद्य में यह दर्शाया गया है कि जब ये ऊपर कहे गये तीनों ही साधन परिपक्व अवस्था में पहुँचने लगेंगे तभी मनुष्य आगे ध्यान और पूर्ण सत्य ज्ञान के मार्ग को पायेगा।

पद्यार्थ :-जब मनुष्य प्रथम अपनी दृष्टि आदि का संयम रखकर स्मृति और मन की उपस्थिति को रखता हुआ कर्म

करने का अभ्यास करेगा तब ही उसका ध्यान धीरे-धीरे उन्नत होगा, तभी सब छिपे हुए सत्य उसके मन में ध्यान द्वारा प्रकट होंगे। जैसे कि वह हाथों को धोते या दातुन आदि करते हुए इन्हीं कर्मों में मन को जोड़कर कर्म करेगा और इधर उधर दृष्टि और कान को नहीं भटकायेगा। यदि दृष्टि उधर आदत से जाना चाहे तब भी वह हाथ धोने के शब्द को या दातुन के दांतों पर घिसने के शब्द को सुनता हुआ; और मन को दातुन करने के ढंग को पहचानने में लगाता हुआ अपने मन को बाहर दूसरे स्थान पर भागने या भटकने से रोकता रहेगा और कर्म करते-करते ही मन की काम, क्रोध आदि उत्तेजनाओं को भी समझते-समझते दातुन आदि के कर्म को करेगा और इसमें उसे अपने मन के बन्धनों का ज्ञान भी ऐसे होता रहेगा। पुनः एकान्त में अपने समय पर आसन पर बैठकर अपने मन के सब वृत्तान्त या दिन की दौड़ धूप का स्मरण करके ध्यान करेगा तो सब ग़ुप्त सत्य प्रकट होने लगेंगे और मन भी अकेले में अपने आप को ध्यान में पहचानने के लिये लगा रहेगा। तब पता चलेगा कि कैसे बिना प्रयोजन के भी मनुष्य की इन्द्रियां और मन इस जीवन को व्यर्थ के झगड़े में उलझाये रख रहे हैं। परन्तु यदि बिना इन्द्रियों के सम्भाले कोई सत्य को झटपट पाना चाहे तो ऐसा होना असम्भव है क्योंकि इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टाओं को रोकने के कष्ट से वह परेशान होकर आदत से भटकने में ही कर्म करेगा। और तब कामनाओं के वन में ही उलझा रहेगा जहां से कि पुनः निकलने का मार्ग भी नहीं मिलेगा। जो जन थोड़े भी साधना के दुःख को सहन नहीं कर सकता, वह आदत वाले

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

मन का ही आज्ञाकारी दास बनेगा जो कि इस जीव को सदा संसार में ही भटकाये रखना चाहता है और साधना के दुःख से भी कई गुना अधिक दुःख में अन्त में डालेगा। इसी अन्त में या परिणाम में होने वाले दुःख का ध्यान द्वारा अनुमान लगाकर बुद्धिमान, श्रद्धा धन वाला मनुष्य थोड़े साधन के दुःख रूप तप को अपना कर सदा के लिये, संसार के दुःख और दुःख के कारण तृष्णा के बन्धनों से निकल कर आत्मा में स्थायी वास पाता है।

अधूरी रही तृष्णा अबोध को फैलाये,
बढ़ी चढ़ी तृष्णा अधूरी रह ही जाये।
पूरी जितनी हुई खिले हर्ष की कली;
शीघ्र छाये तम, खो दे ज्ञान वह बली।।

। १४२ ।

गत पद्य में यह कहा गया कि स्मृति से कर्म करने के अल्प दुःख को पचाये (हज़म किये) बिना, और इन्द्रियों के या दृष्टि आदि के संयम बिना, पहले से ही झटपट ध्यान और ज्ञान को जो पाना चाहे तो वह व्यक्ति ध्यान, ज्ञान और उसकी तृप्ति को झटपट न पाकर पुनः तृष्णा की शक्ति से संसार या विषयों के वन में ही अपने मन को लगाये रहेगा और उसी वन में उलझा हुआ उन से निकलने का मार्ग या मुक्ति का मार्ग भी नहीं पायेगा। इसी अर्थ या तात्पर्य को आगे के तीन पद्य स्पष्ट करके बतला रहे हैं। वन शब्द से यह सूचित किया गया है कि विषय सुख के साथ वन की झाड़ियों में उलझने के समान उलझनें ही बढ़ती हैं और उनकी कभी भी मनचाही समाप्ति नहीं होती। ज्यूं ज्यूं उलझन को केवल आदत

卐卐

वाले मन को ही प्रसन्न करके कम करना चाहेंगे त्यूं-त्यूं यह और भी बढ़ती जायेगी।

पद्यार्थ :- जो तृष्णा पूर्ण न होकर अर्थात् अपना विषय का सुख न पाकर तृप्त नहीं हुई वहीं यहाँ अधूरी तृष्णा कही गई है। ऐसी अधूरी रही तृष्णा अबोध या अज्ञान (अविद्या) को ही फैलाती है अर्थात् दम घुटी हुई तृष्णा ही अविद्या या अबोध रूप से प्रतीत होने लगती है। ऐसी ज्ञान की मर्दित [ज्ञान की आवृत्त (ढकी)] अवस्था मन को कभी भी नहीं भाती। यही अविद्या है। और जो तृष्णा बालपन से बढ़ती चढ़ती गई है, वह एक दिन अधूरी ही रहना आरम्भ करेगी। और आगे-आगे अधूरी ही रहा करेगी। उसे पूरा करने में रोगों का भय है।

इस ऊपर कहे का यह भाव है कि जो मनुष्य मोक्ष या कल्याण के मार्ग पर चलना आरम्भ करेगा, वह व्यर्थ के या हानिकारक कई एक विषयों से मुख को मोड़ेगा। उन सब से पहले मन आनन्द मान कर उन्हीं में उलझा रहता था; उन्हीं में उसका ज्ञान रमा रहता था। जब वे त्यागे गये तो अब ज्ञान जगाने वाला पहला विषयों का जाल तो रहा नहीं, तो उस व्यक्ति का ज्ञान कैसे जागे ? ज्ञान जागे बिना मन में ज्ञान रूप आत्मा कैसे मिले ? यही अविद्या की दशा है। ज्ञान रूप आत्मा न मिलने पर व्यक्ति दुःखी होकर पुनः उसी विषयों के वन की ओर ही लपकेगा। क्योंकि जो मन विषयों के साथ 'कभी इस विषय के सुख का ज्ञान'; 'कभी दूसरे तीसरे विषय के सुख का ज्ञान'; 'कभी उन विषयों की सामग्री की चिन्ता में खोया रहता और समय व्यतीत करता था'; जब विषयों को त्याग कर

卐卐

एकान्त में वास करने लगा, या दूसरों से न्यारा रहने लगा तो वही पहले वाली तृष्णा की अन्दर मन में बहती धारा या नदी रुकने लगी। तब सुख नहीं मिलने पर सुख का ज्ञान खोने पर सुख रूप आत्मा भी खोया सा प्रतीत होता है और वही पुनः अधूरी तृष्णा अबोध या अज्ञान रूप से मनुष्य के मन को तनाव में रखने लगती है। इसका भाव यह है कि जितनी थोड़ी तृष्णा विषय के संग से पूर्ण की गई या पूर्ण हुई, उतने से तो हर्ष का पुष्प खिल गया, परन्तु यह हर्ष या आनन्द कहाँ तक मन में टिका रहेगा। जब इस तृष्णा पूर्ति का आनन्द या इसका ज्ञान चल बसा तो अब वह आनन्द या सुख वाला ज्ञान छुप गया; यही ज्ञान तथा सुख रूप आत्मा पर ढक्कन पड़ गया; ऐसी अवस्था में जीव पुनः सुख वाला अपना आपा (आत्मा) अनुभव में लाना चाहता है। यही आत्मा या अपना आपा पहले पहल विषयों के जाल या तान्ते से एक के पश्चात् दूसरे विषय के संग के सुख से प्रकट होता रहता है और मन सुखपूर्वक संसार में बने रहने की ही इच्छा करता है, परन्तु जब विषयों का सेवन रोगादि के भय से रुका तो अब इन से होने वाला सुख भी नहीं रहेगा। तब तो पुनः सुख विहीन अपना आपा (आत्मा) सुख तथा ज्ञान रूप आत्मा के लिए ही तड़पेगा। यही तम या अन्धकार की अवस्था अविद्या या अज्ञान नाम वाली है जो कि पिछली आयु में साधारण वृद्ध के अन्दर छायी रहती है। यह केवल आत्म ज्ञान से मिटाई जा सकती है जो कि तृष्णा के बन्धनों से मुक्ति पाने पर ही जीती जायेगी।

卐卐

टलती रहे अविद्या जो होता रहे बोध,
चैन, पर लेने न दे संशय, काम, क्रोध।
राग चित्त, द्वेष चित्त, मोह चित्त छाये;
शोक, रंज, मान संग, अविद्या को फैलाये।।
। १४३ ।

पद्यार्थ :- ऐसी अवस्था में यदि स्मृतिपूर्वक कर्म करते-करते मन को तथा इन्द्रियों को समझते-समझते कर्म किये जायें या इन्द्रियों के संयम का दुःख भी पहचानते-पहचानते समय व्यतीत किया जाये और इसी अभ्यास में लगे-लगे समय व्यतीत करना सीखता जाये तो अविद्या टलती रहती है; ज्ञान जागता रहता है; जीवन दुर्भर प्रतीत नहीं होगा। नहीं तो उस के विषय सुखों का रास्ता रोकने पर ज्ञान जागेगा नहीं; मन में अबोध (अविद्या) मनुष्य को एकान्त में अकेले शान्त बैठने भी नहीं देगा; ध्यान आदि में मन तो क्या ही लगेगा ? हां ! जैसे कोई पुस्तक का पाठ करता हुआ समय व्यतीत करता है ऐसे ही अपने जीवन को समझने की ही पुस्तक का पाठ करे। स्मृतिपूर्वक हाथों का धोना, नहाना, मार्ग चलना; दूसरों से बोलना, खाना, पीना आदि जो भी कर्म करे उन सब को पहले (साधन के आरम्भ से) से ही समझपूर्वक, मन टिका कर, उन्हीं कर्मों में ध्यान जोड़ता हुआ करने की आदत डाले (यही स्मृतिपूर्वक कर्म करना है)। इससे उनमें कैसा-कैसा मन बनता है यह समझ में आने लगेगा; मन को स्वभाव के मार्ग से रोकने के क्या-क्या कष्ट हैं, यह भी समझ में पड़ेगा। जैसे विषयों के सुख बिना (अर्थात् आदत का विषय सुख न मिलने पर) संशय, काम-क्रोध मनुष्य को चैन नहीं लेने देते; यह सब भी

जानने में आयेगा; राग, द्वेष, मोह आदि का चिन्तन स्वरूप चित्त कैसे छाया करता है ? इसका भी ज्ञान होगा। शोक या दुःखपूर्वक विषय का स्मरण, रंज और मान इन सब के साथ पुनः विषयों का ही संग यह वही अविद्या फैलाती है जो कि तृष्णा अधूरी रहने पर छा जाती है। तृष्णा एक विद्युत की सी धारा के समान सदा मन में छिपी-छिपी सांसारिक प्राणी में बहती रहती है; दीखती तो नहीं परन्तु अपने दबाव और तनाव से काम, क्रोध और ऊपर कहे सब बन्धन फैला कर मनुष्य को विषयों के संग में ही उलझाये रखती है। यदि बोध होता रहे; और इसके सब कार्य पहचानने में आते रहें तो यह सब इसकी लीला का ज्ञान होने से मनुष्य ज्ञान से तृप्त होता रहेगा। उसका एकान्त में भी मन अपने आप में लगा रहेगा। इसलिए सदा बोध का संग रखना चाहिये। बोध से अधूरी रही तृष्णा का अबोध टलता रहेगा। जैसे कोई अपने अन्दर जीवन का रचा नाटक समझता रहेगा, वैसे ही उसे दूसरों में भी यही नाटक समझ में आने लगेगा। वह खुली आँखों सब को देखता हुआ तथा सब में विचरता हुआ भी अपने ध्यान में सदा सुखी रहेगा और संसार की धारा के पार (भव के पार) पहुँच जायेगा तथा आत्म प्राप्ति का सुख पायेगा।

सदा रहे स्मृति क्षण (इक) चूक जो न जाये,
होता रहे बोध, अबोध अवसर न पाये।
जैसा है कुछ वैसा जाने, लादना न भार;
चाहे जो भला तो जाना भव के पार।।
। १४४ ।

इस सत्य को यह पद दर्शा रहा है कि यदि स्मृति

सदा जाग्रत रहे और एक भी क्षण दिनचर्या में स्मृति के बिना भूले-भूले न व्यतीत हो तो सदा बोध होता रहेगा। और वह अधूरी तृष्णा की ही अवस्था रूप अबोध या अविद्या अवसर ही क्यों पायेगी ? जब वह अबोध ही नहीं होगा तो उस अबोध में काम, क्रोध, संशय, राग, द्वेष आदि पीछे कहे गये कोई भी अपना अवकाश नहीं पायेंगे।

और यदि कहीं ये सब बन्धन विकार आयें भी, तो वे कैसे-कैसे मनुष्य को तनाव उत्पन्न करके तथा दुःख दिखला कर बाध्य (लाचार) करके विषयों की ओर प्रेरित करते हैं; यह सब वृत्तान्त मनुष्य की समझ में आने लगेगा; और इन बन्धनों के रास्ते पर चलने वाले के मार्ग में कौन कौन से कष्ट हैं, या क्या-क्या दुःख आते हैं, यह सब ध्यान में भासेगा। जो कोई जैसा बन्धन; जैसी प्रकृति या स्वभाव वाला; बांधने वाला या दुःखी करने वाला है, वह सब वैसा का वैसा ही समझ में आने लगेगा। वह इस जागते ज्ञान में छिपा रह कर मनुष्य को चक्र में नहीं डाल सकेगा। साधक मनुष्य जैसे-जैसे ये हैं (दुःख स्वरूप) इनको वैसे ही वैसे जानेगा; और तब विषयों के बन्धनों का भार भी लादना नहीं पड़ेगा। इस प्रकार यदि सही रूप में भला चाहे तो होने हवाने (भव) के संसार से पार जाना ही पड़ेगा।

ॐ इति प्रज्ञा पूर्णता वर्ग ॐ



卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 अथ समूल बन्धन परम्परा परिहार वर्ग 卐

मन ने सहारा लिया दूजों में रमन,
इसका होगा अन्त चाहे कुछ भी कर यतन।
जिसने मन के वेगों को मन ही में दिया मिटा;
बुद्धि सुलझी मन के शमन पै, उसी का कष्ट कटा।।
। १४५ ।

गत पद्य में यह दर्शाया गया कि अपने आप में ज्ञान को जाग्रत रख कर अबोध या अविद्या (अज्ञान) को हटाते रहने से संसार (भव) के पार पहुँच कर अपनी शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा में सब कष्ट शान्त हो जाते हैं। इस अबोध को टालते रहने के गत पद्य में कहे गये तीन साधनों को भी स्मरण रखना चाहियेः (१) सदा स्मृति से या मन की उपस्थिति रख कर सब कर्म करना। (२) पुनः इसी के मध्य अपने मन की अवस्थाओं (रागादि बन्धन और कामादि विकारों) को पहचानते रहना। (३) वैसे ही पुनः इन सब बन्धन और विकारों को परिहृत (हटा) करके केवल आत्मा में ही सब दुःखों के अभाव (न होने) को साक्षात् करना। यही तीन प्रकार से सदा अपने आप में ज्ञान जाग्रत रखने से अबोध या अविद्या टलती रहेगी और आत्मा मात्र में अनन्त टिकाव प्राप्त होगा।

इसी प्रकार कहे गये अर्थ (प्रयोजन) की पुष्टि के लिये ही यह पद्य दूसरे सब सहारों की तुच्छता को दर्शा रहा है, और केवल आत्मा में और वह भी केवल मुक्त आत्मा में ही सब दुःख या कष्ट टलने पर मनुष्य को परमपद (स्थायी शान्ति व सुख) प्राप्त होगा, इस सत्य को प्रकट कर रहा है।

पद्यार्थ :- जन्म काल से ही मनुष्य के मन ने दूसरों का या उनके संग का सहारा ले रखा है। इसी में सुखपूर्वक क्रीड़ा करता हुआ मन समय व्यतीत करता है। परन्तु यह सब सुख वाला या रमन वाला सहारा सदा एक जैसा किसी का भी रहने का नहीं, चाहे कोई कैसा भी यत्न कर ले। धन का संचय, दूसरों से स्वार्थमयी मैत्री, अधिकार प्राप्ति व अन्य भी बाह्य सांसारिक जो भी संपत्ति, ऐश्वर्य आदि हैं, वे सब सहारे मनुष्य का बल क्षीण होने पर तथा दूसरों की पराधीनता में पहुँचने पर कोई भी सुखकारी नहीं रहेगा। मनुष्य अकेला सा पड़ा हुआ दूसरों की प्रीति से हीन होकर अपने में दुःखी ही रहेगा; परन्तु सुख के लिए झांकेगा बाहर ही, आत्मा को नहीं; क्योंकि वैसा अभ्यास तो किया नहीं। इसलिये जिसने पीछे कहे गये साधनों के अनुसार मन के वेगों को मन में ही मिटा दिया; मिटाने के साधन का सही ज्ञान तथा उसी द्वारा अपनी आत्मा का भी अनुभव कर लिया तो उस मनुष्य की बुद्धि सुलझी रहेगी। संशय, काम, क्रोध और दूसरों की वैरी आदि की दृष्टि से उन्हीं में उलझी नहीं रहेगी। और मन का शमन, शान्त रखना भी विचार द्वारा होता रहेगा। और उसका सब कष्ट आत्मा में ही टल जायेगा। क्योंकि साधक मनुष्य दुःख को भी हजम करने का पाठ पढ़ता रहता है। केवल दुःख ही मनुष्य को अपने आप में शान्त न होने देकर बाहर धकेलता है और दूसरों में उलझाता है और सदा उलझाये ही रखता है। इसी उलझन रूपी महान् दुःख को देखते हुए मनुष्य दूसरों के सहारे के सुख को कुछ भी नहीं गिनता। इसी दूसरों से होने वाले सुख के न

मिलने के दुःख को भी वह अपने आप में ही शान्त कर लेता है। जैसे कि कांटे की चोभ या खुजली का दुःख देखते-देखते टाल दिया जाये, वैसे ही वह साधक इन सब सुखों के न मिलने के दुःख को भी अपने आप में ही शान्त करके केवल शान्त स्वरूप अपनी आत्मा के ही सुख में मग्न रहता है।

अन्दर ही सभी के विराजे वह तत्त्व,
दुःख को दिखाकर प्रकट करे बाहर सत्त्व।
मन बुद्धि से इसे ही अन्दर जिसने दिया टार;
परलोक जीता उसी ने हुआ भव से भी वही पार।।
। १४६ ।

गत पद्य में यह सत्य दर्शाया गया था कि जिसने मन के सब वेगों कों मन में ही मिटा दिया उसी का ही कष्ट कटा समझो, दूसरों का नहीं। इसी वार्ता को यह पद्य स्पष्ट रूप से व्यक्त (प्रकट) करता है।

पद्यार्थ :-सभी प्राणियों के अन्दर वह एक जैसा तत्त्व विराजमान है जोकि मनुष्य या जीव साधारण के भीतर कई एक प्रकार से दुःख को दिखला कर प्राणी को बाहर जगत् में ही कुछ का कुछ प्रकट करता है, अर्थात् जन्माता है; अन्दर अपनी आत्मा में ही दुःख की निवृत्ति या शान्ति सहज में करने नहीं देता। उसके तनाव से जीव बाहर जगत् में ही अपना सत्त्व (हस्ती) स्वीकार करता है। उस दुःख को मिटाने के लिये कुछ न कुछ मित्र, वैरी आदि रूप में दूसरों में ही होना स्वीकार कर लेता है। परन्तु यदि किसी उद्योगी, तपस्वी पुरुष ने बुद्धि बल उपजा कर इस दुःख को सहन शक्ति व तितिक्षा (दुःख में टिकाव) द्वारा

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बाहर के सहारे बिना अन्दर ही अन्दर अपनी आत्मा में इस का परिहार (हटाव) या टालना करने में सफलता प्राप्त कर ली तो उसने सही अर्थ में परलोक जीत लिया और वह जगत् में होने या सत्ता (हस्ती) स्वीकार करने के सागर को (भव सागर को) भी पार कर गया। वह पुनः संसार में, आत्मा में भासने वाले दुःख को मिटाने के लिये संसार में नहीं जन्मेगा। उसे अपने अन्दर व्यक्त (प्रकट) आत्मा की तृप्ति संसार में आने ही नहीं देगी जहाँ पर कि (संसार में) होने का दुःख ही दुःख है।

भावार्थ :- इस पद्य का भावार्थ यह है कि क्षुधा (भूख) चाहे झूठी ही क्यों न हो, तब भी मन के अन्दर तनाव उत्पन्न करके जीव के मन को बाहर की ओर झांकने के लिये तनाव उत्पन्न करती है कि मनुष्य बाहर जगत् में इसे तृप्त करने के लिये कुछ होवे या बने। इसी प्रकार अन्दर मान पाने के लिये, दूसरों से हुए दुःख के कारण या दूसरों से विघ्न में डाले गये अपने सुख के कारण वैर, विरोध आदि के तनाव से और शंका, भय आदि के कारण वही अन्दर बैठा तत्त्व जीव मात्र को जगत् में ही होने के लिये तनाव उत्पन्न करता है। यह तत्त्व संसार में जन्म के साथ-साथ ही बाहर सांसारिक काम रूप से मनुष्य का अपना आपा रूप से ही भासता है। मनुष्य इसकी इच्छाओं या उद्वेगों, उत्तेजनाओं को अपनी समझ कर इसी तत्त्व का दास बना रहता है। जब वह मन को स्थिर करके उसका बल प्राप्त करेगा तो उसे बुद्धि द्वारा ज्ञान उपजेगा और सत्य को समझ कर इन सबसे अपना छुटकारा अपने आप में प्राप्त करेगा और संसार धारा में नहीं पड़ेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

अन्दर लगी अग्नि को बाहर जो बुझाये,
वह दिनों-दिन सही अग्नि बढ़ती ही जाये।
इस अग्नि को पचाना सीखे, तप इसी का ही नाम;
मन बुद्धि आदि सही राखे, वर्षे शम जल वाम।।
। १४७ ।

गत पद्य में यह दर्शाया गया कि सांसारिक काम, अर्थात् जगत् में ही या बाहर सब प्राणियों में ही अपनी 'मैं' को रखने या पाने का काम या इच्छा रूप तत्त्व, सब प्राणियों को अन्दर क्षुधा आदि का मिथ्या दुःख दिखला कर भी बाहर संसार में ही सत्व (हस्ती) स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है। मनुष्य को, उस दुःख को मन बुद्धि को उन्नत करके, अपनी आत्मा में ही मिटा देने से, भव सागर से पार जाने में सफलता मिलती है। मन के सब उद्वेग और उत्तेजनाओं को मिटाना, मन की उन्नति है और ज्ञान, दर्शन शुद्ध रखना या सत्य को पहचानना बुद्धि की उन्नति है।

अब इस पद्य में यह दर्शाया गया है कि अन्दर लगी उस दुःख की अग्नि को, जो कि बाह्य सांसारिक काम अपनी उत्तेजनाओं या उद्वेगों (जोशों) द्वारा लगाता है, वह अग्नि बाहर जगत् में आप के कुछ भी होने पर शान्त नहीं हो सकती वरन् (प्रत्युत) जितना इस सांसारिक कामनाओं की अग्नि को बाहर के उपायों से कोई शान्त करना चाहेगा, उतनी ही यह अग्नि उसमें दिनों-दिन बढ़ती ही बढ़ती जायेगी। इसलिये इसे बाहर शान्त करने की आशा छोड़ कर इस अग्नि को अपने अन्दर ही अन्दर शान्त करने के लिये इसके दुःख को हज़म (पचाना) करना

सीखे। अर्थात् इस की तृष्णा पूरी न करने के दुःख को धैर्य रख कर सहन करे, यही तप के नाम से कहा जाता है। इसमें मन और बुद्धि को स्थिर रखे; मन, चिढ़ आदि से भड़के नहीं; समझ शक्ति या बुद्धि, बाहर जगत् के पदार्थों या प्राणियों के संग से दुःख मिटाने के पक्ष का निर्णय (फैसला) न दे और उस अल्प दुःख में भी स्थिर (कायम) रहे तो समय पाकर शान्ति का जल भी बरसेगा अर्थात् सब दुःख अन्दर ही अन्दर शान्त होकर भव सागर से मुक्ति मिल जायेगी। जब दुःख में मन धैर्य और स्थिरता बनाये रखे तो यह मन इतना बलवान् हो जाता है कि ऐसे बल वाले मन में बाहर की मिथ्या तृष्णा का या काम (इच्छा) का दुःख अधिक समय तक नहीं रह पाता। हां ! यदि मन तृष्णा को पूर्ण करने के पक्ष में ही डटा रहे या उसी तृष्णा की पूर्ति का ही भाव बनाये रखे तो अनन्त जन्मों में भी तृष्णा का दुःख नहीं टलेगा।

पद्यार्थ :- जो अन्दर सांसारिक काम के बन्धन व विकारों की अग्नि को बाहर बुझाना चाहे तो उसकी वह अग्नि दिनों दिन बढ़ती ही जायेगी। इसलिये इस अग्नि को अपने आप में धैर्य रखकर पचाना (हज़म करना) सीखे अर्थात् इस बाहर की कामनाओं के तनाव के दुःख में धैर्य, स्मृति आदि न खोने दे। इसे ही तप का नाम दिया गया है। मन का स्वभाव सदा बदलते रहने का है। धैर्य और स्मृति से अपने आप को स्थिर रखे तो यही सब बाहर के काम का तनाव स्वयं ही बुद्धिपूर्वक (ज्ञान द्वारा) सहन करते रहने से समय पाकर चल बसेगा और तब शान्ति और सुख का जल अन्दर आत्मा में ही बरसने लगेगा।

कामनाओं वाला मन शनैः-शनैः बदलते-बदलते निद्रा में समाना चाहेगा। यदि ऐसी निद्रा को भी क्रम से पार कर गये तो शान्त आत्मा का सुख प्राप्त होगा।

छोड़न लगे यत्न से जब राग द्वेष क्लेश,
मन को पड़ा फिकर, लेश चले नहीं पेश।
उलझा मन इनमें बुरी तरह से फँसा;
खींचे ऐसे जैसे हाथी कीच में धँसा।। । १४८ ।

गत पद्य में जो कहा कि अन्दर लगी अग्नि को जो बाहर सांसारिक प्राणी और पदार्थों के संग से बुझाना चाहे तो वह अधिक से अधिक ही होती जायेगी। इस प्रकार इससे पूर्व के पद्य में दर्शाया गया था कि मनुष्य के अन्दर ही ऐसा तत्त्व है जो कि अन्दर दुःख को दिखला कर, मनुष्य की बुद्धि को भ्रष्ट करके, बाहर संसार की ओर ही इसे धकेलता है। अब इस पद्य में उसी अन्दर बैठे तत्त्व की मोह रूप शक्ति की चर्चा है, जिस के द्वारा कि यही तत्त्व मनुष्य को क्षीण बल वाला बना कर पुनः संसार में ही पटक देता है।

पद्यार्थ :-जब बाह्य सुख के राग और दुःख से द्वेष रूप क्लेश को कोई व्यक्ति, इन की उलझन को समझता हुआ छोड़ने का यत्न करता है, तो यही अन्दर बैठा हुआ बाह्य जगत् में बांधने वाला तत्त्व, इस प्रकार से मनुष्य में भाव प्रकट करने लगता है कि जैसे मनुष्य की क़िसी उत्तम वस्तु की हानि होने लग रही हो। इस हानि के भाव को बना कर यही तत्त्व मनुष्य में या मनुष्य के मन में शोक को छा देता है। इसमें मनुष्य का राग, द्वेष और विषयों का संग त्यागने में अपना थोड़ा भी वश (पेश) नहीं जान

पड़ता। मन को यह फिकर (शोक) में डाल कर मनुष्य के बुद्धि, विवेक को भी खो देता है। यही अन्दर बैठा तत्त्व मनुष्य का अपना आत्मा जैसा प्रतीत होता है। यह तत्त्व वास्तव में मनुष्य के अन्दर जीव भाव से बैठा हुआ सांसारिक हस्ती या अस्तित्व वाला 'मैं' का भाव ही है। संसार में पायी हुई 'मैं' ही इस रूप में अपना बल दिखलाती है कि यह मनुष्य को अपना आत्मा जैसे प्रतीत पड़ता है। परन्तु यह मनुष्य का सच्चा आत्मा नहीं है। यह बाहर की मिटने वाली या क्षण-क्षण में बदलने वाली 'मैं' की धारा रूप ही है। यहाँ श्रवण से (सब शास्त्र सुनने से), इसी प्रकार मन में युक्ति द्वारा मनन करके और ध्यान द्वारा शुद्ध अपनी आत्मा को केवल अनन्त ज्ञान रूप से पहचान कर, अपनी दर्शन शुद्धि रूप बुद्धि की उन्नति करके मिथ्या संसार के सुख-दुःख के मोह रूपी कीचड़ में धँसे मन को बलपूर्वक खींचे। यद्यपि सम्मुख विषयों के सुख का दुःख दिखाई भी पड़ने लगता है, परन्तु मोह वश प्राणी इन्हीं विषयों के सुख वाली 'मैं' को छोड़ना नहीं चाहता। इसलिये ध्यान आदि में सावधानता बरतता हुआ मनुष्य इस उलझे मन को, मन और बुद्धि की शुद्धि करके, बलपूर्वक (इस मन को) मुक्त करे। इस दृष्टान्त से यह सूचित किया गया है कि जीवन काल में मोह से निकलना कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं। जैसे कोई हाथी किसी गहरे कीचड़ वाले गढ़े में धँस जाये और वह स्वयं जैसे-जैसे उस से निकलने का यत्न करे, वैसे-वैसे भारी काया वाला होने के कारण और भी अधिक ही धँसता जाता है। इसी प्रकार विषयों के सुख के मोह में धँसा प्राणी

भी बिना विवेक और ज्ञानपूर्वक यत्न के यदि थोड़ा बहुत यत्न करे भी तो उन विषयों का वियोग उसे और भी अधिक दुःखदायी प्रतीत होता हुआ पुनः उन्हीं में और भी अधिक संग करने के लिए प्रेरित करता है। इस दृष्टान्त का यही तात्पर्य है कि मोह रूपी कीचड़ से निकलने के लिये कुछ अधिक विवेक और त्याग का बल और विषयों के बिछोड़े के दुःख को भी सहन करने का बल मनुष्य को प्रकट करना चाहिये। मोह द्वारा जब-जब उन विषयों के सुख की खींच हो तब-तब उनके भविष्य के दुःख को स्मरण करके, अपने आप को सम्भाले रखने से एक दिन इस मोह की शक्ति क्षीण हो जायेगी। तब उन विषयों से टला हुआ मन अपने आप में आत्मा के स्वाभाविक नित्य सुख का अनुभव करेगा और कृत-कृत्य होगा।

समझ से इच्छा का पाछा करो, तो यह है काम का प्यार,
तुम ठुकराओ शिथिल मन में, बहे चले वही धार।
काम था जागे, तुम ठुकराओ, मन निद्रा वश जाये;
इसके प्यार से शिथिलित जन, कभी राग त्याग न पाये।।
। १४६ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में मोह का स्वरूप बतलाया था, इस पद्य में राग का स्वरूप बतलाया जा रहा है जिससे कि राग को मन में बहती हुई दशा में स्वयं साधक जान-पहचान कर, इस राग के त्यागने का उद्योग या यत्न भली प्रकार से कर सके। बिना अपने मन में पहचाने, अच्छी तरह से समझे, इस (राग) का त्याग करना असम्भव है।

卐卐

पद्यार्थ :- जिस वस्तु के सम्बन्ध से सुख होता है उस वस्तु की याद आकर्षक और मीठी प्रतीत होती है और उसी में इच्छा या काम उत्पन्न होते हैं। अब इस इच्छा का यदि समझपूर्वक पीछा करें अर्थात् इसको पूर्ण करने के लिये यत्न करें तो यह काम का प्यार है।

इस इच्छा को पूरा करने का दुःख रूप दोष या परिणाम दुःख रूप दोष, (नतीजे में) ध्यान द्वारा मन से समझकर, इसके पूरा करने को ठोकर मारो। परन्तु वह ठोकर यदि शिथिल (ढीले) मन में से होगी तो यह इच्छा मन से उतरेगी नहीं, परन्तु उसकी धारा बहती ही रहेगी और मन से इच्छा का विषय या पदार्थ उतरेगा ही नहीं। उसकी याद मन में बसी ही रहेगी। यही राग नाम का बन्धन या क्लेश है। इसी क्लेश से बार-बार विषय की इच्छा या काम उत्पन्न होता है। थोड़े, ढीले-ढाले यत्न से ठुकराने पर यह त्यागा तो जायेगा नहीं, तो अन्त में यही ढीला मन नींद की ओर जाना प्रारम्भ कर देगा। तब यह नींद भी मीठी लगती है। उधर इच्छा का विषय मीठा और उधर नींद मीठी, तो ठुकराने में ढीला-ढाला मन निद्रा के वशीभूत हो जायेगा और कभी भी इस राग को त्याग नहीं पायेगा।

ऊपर कहे का तात्पर्य यह है कि यदि ज्ञानपूर्वक ध्यान द्वारा, काम या इस राग का अन्त रहित (बेअन्त) दुःख समझ में आ जाये तो इससे अपने आप मन उनसे टल जायेगा या टलना चाहेगा। इससे ज्ञानपूर्वक ही राग और राग से उत्पन्न होने वाली इच्छा को ठुकराने पर राग पर विजय प्राप्त होगी अर्थात् राग से मुक्ति मिलेगी। तब

मनुष्य उचित रीति से, उचित मात्रा में निद्रा की अनुचित प्रीति त्याग कर इस राग रूपी वैरी को जागते-जागते मन से विदा करेगा। यदि ऐसा नहीं करे तो यह राग निद्रा में छिप जाता है और निद्रा की मिठास का लोभी मनुष्य, इस राग को त्याग नहीं पाता है। और जब निद्रा से जागेगा तो यही राग उसे पुनः परेशान करने लगेगा और वही इच्छा की धारा भी बहती रहेगी और मनुष्य उन्हीं विषयों के सुख में लीन रहता हुआ रोग, शोक तथा दुःख के चक्करों में पिसता ही रहेगा।

समझ से द्रोह का चिन्तन करना, क्रोध यही कहलाये,
तुम इसे टालो नहीं पर टलता, धार में निज की बहाये।
यही द्वेष चित्त नींद के लोभी में, जहर की अग्नि जलाये;
यदि जन जागे, मान को त्यागे, बल से इसे बुझाये।।
। १५० ।

भूमिका :-पिछले पद्य में राग का स्वरूप और उसके त्यागने की रीति दर्शायी गई थी। अब इस पद्य में द्वेष और द्वेष से उत्पन्न होने वाला द्वेष चिन्तन और क्रोध इत्यादि का स्वरूप वर्णन करते हुए इसके त्यागने का मार्ग दर्शाया जा रहा है।

पद्यार्थ :-जिस वस्तु से मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है उसका चिन्तन भी मन में बहता रहता है, उसी की अप्रीति वाला मन होता है। यही द्वेष है। दुःख देने वाली वस्तु से पीछा छुड़ाने के लिये मनुष्य सदा सोचता रहता है और दुःख देने वाले का बुरा करने के बारे में भी सोचता रहता है या ऐसी ही कई एक व्यर्थ की सोचों में पड़ा रहता है। इसी का नाम द्रोह चिन्तन है। यही द्रोह चिन्तन क्रोध

का स्वरूप है, जिससे दुःख देने वाले को मिटाने की इच्छा बनी रहती है।

अब यदि इस द्रोह के चिन्तन या क्रोध के परिणामों को थोड़ा विचार करके इनको टालने की इच्छा करें तो यह शीघ्र टलेगा नहीं। इसकी धार मन में बहती रहेगी। ज्ञान और ध्यान द्वारा द्वेष और क्रोध के दुष्परिणामों को जाने बिना इनको छोड़ना असम्भव है। दुष्परिणामों को जाने बिना यदि कोई छोड़ना चाहे तो छोड़ने में मन शिथिल (ढीला) ही रहेगा और ऐसी दशा में चिरकाल तक मनुष्य अपने को थाम नहीं सकता। उसको भी नींद की मिठास तंग करने लग जाती है और निद्रा की मिठास का लोभी इसी द्वेष रूपी जहर की अग्नि को अन्दर लेकर नींद में पड़ जाता है और द्वेष, क्रोध आदि निद्रा के पर्दे में छिपे रहते हैं। अब यदि जन ऐसी दोष वाली निद्रा को जीते और ध्यान, ज्ञान द्वारा इस द्वेष आदि के दुष्परिणामों को मन में याद करता हुआ जागता रहे तभी बलपूर्वक इस द्वेष की जहर की अग्नि को बुझा पायेगा। इसके साथ-साथ मान को भी त्यागे। मान को त्यागे बिना क्रोध व द्वेष कभी नहीं मिटते। यहाँ मान का यह अर्थ है कि मनुष्य को 'मैं' आ जाती है। वह 'मैं', 'मेरी' के चक्कर में पड़ जाता है। तब वह मन में यूं समझता (महसूस करना) है कि 'मेरे को दुःखी कर दिया', 'मेरा सुख बिगाड़ दिया', 'यह अपनापन दिखा रहा है', 'मैं यह कहाँ तक सहन कर सकूँगा', 'देखा जायेगा ! मेरे से भी जो बनेगा वह करूँगा'। यह सब 'मैं-मेरी' का चक्कर है। यह सब मान की लीला है। इस मान को विचार, ध्यान और ज्ञान द्वारा त्यागे तभी द्वेष और

क्रोध की अग्नि बुझेगी और मन में शान्ति का जल बरसेगा।

यदि इस प्रकार ज्ञान, ध्यान द्वारा बलपूर्वक इस द्वेष के परिवार को समाप्त नहीं किया तो यह नींद में छिप जायेगा और जागने पर फिर प्रचण्ड हो जायेगा और मरते समय तक और उसके पश्चात् भी दूसरों जन्मों में भी इसकी धारा बहती रहेगी और कई एक प्रकार की दुर्गतियों में भटकाता रहेगा।

राग-द्वेष यही दोऊ तृष्णा, इसकी बहु संतान,
परिहृति इसकी करे से सुखी हो, वही हुये मतिमान्।
चेते जो इससे, सोई हुये चेतन, बन्ध विमुक्ति पायें;
बहे जो इसमें जड़मति रह गये,जग में सदा रुलायें।।
। १५१ ।

भूमिका:- पिछले दो पद्यों में राग और द्वेष के पृथक-पृथक लक्षण (स्वरूप) बतलाये गये थे जिससे कि साधक इनको अपने मन में पहचान कर और इनको दुःख रूप समझ कर इनका परित्याग कर सके। अब आगे के पद्य में सकल बन्धन जड़ (मूल) सहित त्यागने के लिये तृष्णा के स्वरूप को बतलाया जा रहा है; जिसके त्याग से अन्त में आत्मा में प्रतिष्ठा (टिकाव) प्राप्त होती है और सदैव के लिये सर्व दुःख नष्ट हो जाते हैं।

पद्यार्थ :- ऊपर कहे राग और द्वेष, यही दोनों तृष्णा शब्द से कहे जाते हैं। सुख देने वाली वस्तु में प्रीति, राग शब्द से कही जाती है और दुःख देने वाली वस्तु में अप्रीति, द्वेष व वैर शब्द से कही जाती है। अब इन्हीं दोनों की इच्छा, क्रोध, लोभ, चिड़चिड़ापन, भय, ईर्ष्या, जलन

卐卐

और अधीरता आदि बहुत सी सन्तानें हैं जो कि मनुष्य को कितने भी बाहर के सुख के साधन होने पर परेशान ही करते हैं। जो सारे परिवार के साथ इस राग-द्वेष रूपी तृष्णा का परिहार (पूर्ण रूप से त्याग) कर सके सोई मनुष्य जग में सही मानों में बुद्धिमान् कहे जाते हैं। परन्तु इन सब को त्यागने के लिये मनुष्य को अपने आप को चेतन करना या जगाना पड़ता है जैसे कि राख (भस्म) में दबी हुई अग्नि किसी वस्तु को भस्म नहीं कर सकती जब तक कि उसको चेतन न किया जाये अर्थात् फूंक-फूंक कर घास फूस लगाकर चेताया न जाये। इसी प्रकार जब तक संसार में विषयों के संग से होने वाले सुख-दुःख और राग-द्वेष में सोयी हुई बुद्धि को जगाया न जा सके, तब तक वह बुद्धि सब दुःखों की जड़ या कारण तृष्णा (राग, द्वेष आदि) को भी त्यागने में सामर्थ्य वाली नहीं हो सकती। जिन्होंने ऐसी बुद्धि जगायी वही चेतन के स्वरूप को प्राप्त हुए और सब जगत् के राग, द्वेष इत्यादि सब बन्धनों से मुक्ति पा गये। और जो इस तृष्णा की नदी में बहते गये और विषयों में सोई हुई बुद्धि को नहीं जगा सके या नहीं चेतन कर सके वे न चाहते हुए भी संसार में ही रुलते रह गये और रुलते ही रहेंगे अर्थात् संसार की धारा में बहते हुए सदा दुःखी ही रहेंगे।

इस पद्य का भावार्थ यह है कि जन्म से संसार में होने वाले सुख और दुःख और इन्हीं के कारण से होने वाले राग और द्वेष आदि बन्धन मनुष्य को ऐसे-ऐसे भयंकर, उग्र तथा मिथ्या कर्म संसार में करने के लिए धकेलते हैं कि उन कर्मों के साथ कोई भी प्राणी सुख या शान्ति का

अनुभव नहीं कर सकता। यही नहीं, उन कर्मों से ऊपर से दीखने वाला सुख भी नहीं रहता। इसलिये इन सब राग, द्वेष आदि बन्धनों के दुष्परिणामों को दुर्गति रूप से ध्यान में अनुभव करके मन को इस प्रकार मनुष्य चेतन करे तथा प्रेरित करे कि जैसे इनको जड़ से उखाड़ कर अपनी आत्मा में सदा बनी रहने वाली शान्ति इसे सदा के लिये प्राप्त हो। ऐसी शान्ति पाने के पक्ष वाली बुद्धि से युक्त मनुष्य ही सही बुद्धिमान् है और जो इस बुद्धि को नहीं पा सके वही जड़मति इस संसार में दुःखों का शिकार सदा बने रहेंगे। उन्हें अपने अन्दर की या आत्मा की शान्ति कभी भी प्राप्त नहीं होगी। सही बुद्धि को चेतन किये बिना संसार की धारा में बहाने वाले बल को रोकना असम्भव है। यही इस सब ऊपर कहे का तात्पर्य है।

बाहर जो कुछ जानन चाहे, करे परेशान,
करना, पाना जो कुछ सोचे, वही नुकसान।
इन दोनों में निहित जानो, प्रिय वस्तु संग;
इनके त्यागे बिना, न हो सकल दुःख भंग।।
। १५२ ।

भूमिका : पिछले पद्य में राग, द्वेष, तृष्णा और उसके काम, क्रोध आदि परिवार के त्यागने के साधन की चर्चा थी अब इस पद्य में इस तृष्णा का ही व्यावहारिक रूप बतलाया जा रहा है अर्थात् जिस प्रकार सादे ढंग से मनुष्य के मन में यह बहती है उस की चर्चा की गयी है जिससे कि मनुष्य इसका हर समय ध्यान रख सके और ज्ञान द्वारा इसे त्यागने में यत्न कर सके।

पद्यार्थ :- यह तृष्णा मनुष्य की बुद्धि को बाहर जगत् में

सब कुछ पहचानने और जानने के लिये उकसाती (प्रेरित करती) रहती है। इससे मनुष्य बहुत परेशान भी होता है, क्योंकि जिस वस्तु को जिस प्रकार वह समझता है, वैसे ही अपने स्वार्थ के अनुकूल ही उसको झुकाना चाहता है अर्थात् बाहर के साधनों द्वारा सुख को पाना और दुःख को टालना, यही उसका स्वार्थ है। इसी स्वार्थ को पूरा करने के लिये वह मनुष्य बाहर मन को सब प्रकार की वस्तुयें जानने में प्रेरित करता रहता है और जान-जान कर अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये और सुख की वस्तुओं को पाने के लिये कई प्रकार के व्यर्थ चिन्तन तथा कर्मों में भी व्यस्त रहता है। इससे उसकी ज्ञान शक्ति और करने की शक्ति (प्राण की शक्ति) दोनों ही इतनी बाहर भटक जाती हैं कि इससे देह के अंग प्रत्यंग अपने कर्म भी ठीक रीति से नहीं कर सकते और इसीलिये रोग आदि का शिकार होना पड़ता है और चिन्ता, शोक और दुःख (पीड़ा) आदि से सदा मनुष्य पिसता रहता है। यह सब तृष्णा के मार्ग पर चलने का नुकसान (हानि) है। परन्तु इन दोनों में अर्थात् जगत की वस्तुओं को जानने में और पुनः उन्हें पाने में प्रिय वस्तु का संग ही कारण है। प्रिय वस्तु अर्थात् जो मन को प्यारी लगने वाली अर्थात् विषयों का सुख और उनके दुःख से बचना रूप अप्रिय वस्तु, यही दोनों स्वार्थ हैं। इन्हीं दोनों के कारण से ही मन या बुद्धि बाहर संसार की वस्तुओं को जानने और उन्हीं की सोचों के साथ-साथ कुछ कर्म करने और कर्म करके उन वस्तुओं को पाने या दुःख को टालने में ही सारा जीवन भर व्यस्त रहते हैं और सही जो अपने अन्दर की सुख शान्ति है उस तक पहुँचने में

असमर्थ ही रहते हैं। अब इन सब के त्यागे बिना सब दुःख भंग नहीं हो सकते।

जो वस्तु शरीर धारण करने के लिये आवश्यक है और जितना कुछ और मोक्ष मार्ग में उपयोगी है, उतनी तो बाहर की इच्छा रखना उपयुक्त (सही) है। परन्तु इससे अधिक व्यर्थ में जितना अधिक मन या बुद्धि को जग के बारे में जानने के लिये तनाया जायेगा या कर्म कर-कर के वस्तुओं को पाने के लिये झुकाया जायेगा, उतना ही मनुष्य का दुःख अधिक बढ़ेगा। इसलिये सकल आयु भर मनुष्य को बाहर की वस्तुओं को जानने और पाने के चक्कर में नहीं रहना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि शनैः-शनैः (धीरे-धीरे) अपने मन को व्यर्थ के जानने से या व्यर्थ के कर्म करने से मोड़ कर (हटा कर) अपनी आत्मा में टिकाव पाने का यत्न करे। अतः ध्यान, विचार द्वारा विवेक या ज्ञान प्रकट करके, अपनी आत्मा को चेता कर, सब बन्धनों से पार उतारे और अपनी शान्त आत्मा में ही सदा पाने वाला सुख प्रकट करे।

रहा न कुछ भी जानना तो मिटा अज्ञान,
करना पाना भी न रहे ब्रह्मात्मा पहचान।
जानना पाना जो रहा ये दो ही भव की पाश,
इन दो का बन्धन न रहे तो सर्व दुःख नाश।।
। १५३ ।

पद्यार्थ :- इस पिछले पद्य में कहे हुये भाव को ही यह पद्य स्पष्ट करता है। जबकि मनुष्य को बाहर कुछ जानने को रह ही नहीं गया तो समझो ! उसका अज्ञान मिट गया। इसी प्रकार बाहर वस्तुओं को जानकर और उनको

कर्म करके पाने की भी प्रेरणा न रही तो उसकी आत्मा की पहचान खुल जायेगी। इसका तात्पर्य यह है कि जो मन या बुद्धि बाहर की वस्तुओं को जानने और पहचानने के लिये प्रेरित होते थे, वे अब अपनी आत्मा में ही या आत्मा के ज्ञान में ही टिकाव प्राप्त कर लेंगे। क्योंकि जो ज्ञान बाहर भटकता था और करने की शक्ति प्राण रूप भी बाहर झलकती थी वह अपनी आत्मा में ही शान्त हो जायेगी। उसी से अपनी आत्मा का प्रकाश हो जायेगा। क्योंकि बाहर जो कुछ भी जानना है और जान करके कर्म द्वारा पाना है, यही दोनों भव अर्थात्, संसार की पाश (फाँसी) हैं। यही दोनों बन्धन अर्थात् जानने का और जानकर वस्तुओं को कर्म द्वारा पाने का बन्धन यदि नहीं रहा तो सब दुःख नाश हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व बालपन आदि की आदतों के कारण से जब-जब मन बाहर जानने के लिये और वस्तुओं को कुछ करके पाने के लिये उछले तो उसको ध्यान द्वारा अपने आप में ही शान्त करते रहने से थोड़ा त्याग का दुःख तो होगा। परन्तु जब यह ज्ञान हो जायेगा कि इन वस्तुओं के संग अनन्त दुःख (बेअन्त दुःख) ही अन्त में हाथ लगता है, इसलिये इनके त्यागने के अल्प (थोड़े) दुःख को स्मृतिपूर्वक मन को सम्भालते-सम्भालते सहन करने से यह दुःख अपने आप ही अर्थात् आत्मा में ही शान्त हो जायेगा। जैसे कि खुजली को रगड़ कर न मिटाने पर भी केवल धैर्य से उसके दुःख को देखते रहने से थोड़ी देर में अपने आप खुजली का दुःख मिट जाता है। इसी प्रकार बाहर की वस्तुओं की

तृष्णा बाहर ही वस्तुओं को जानने और उनको कर्म करके पाने या हटाने के लिये मन को प्रेरित करती रहती है। मनुष्य यदि इस मन को उधर जाने न दे अर्थात् ज्ञान द्वारा उधर से हटाता रहे, इससे जो भी उसको कष्ट प्रतीत होगा वह कष्ट खुजली के समान समय पाकर स्वयं ही टल जायेगा। कष्ट टलने पर अन्तरात्मा टले हुये कष्ट को भी पहचानेगा। जब कष्ट टल गया तो यही आत्मा का स्वरूप, कष्ट से विपरीत सुख रूप से अनुभव में आयेगा। यही आत्मा का सहज स्वाभाविक सुख है। इसलिये आत्मा ज्ञान रूप होता हुआ सुख स्वरूप से अपने आप में साक्षात् पहचानने में आयेगा।

ब्रह्मात्मा की पहचान का यह तात्पर्य है कि बुद्धिमान् जन अपनी आत्मा में ब्रह्म का दर्शन करे। जब कभी ऋतुओं के परिवर्तनों में, आलस्य (सुस्ती) आदि के कारण या रोगादि के कारणों से अपना सुख बिगड़ जाता है तथा बात-बात में दुःख ही प्रतीत होता है और सुख का लोभी तथा दुःख से भीरु (डरपोक) मन, अपने में सब विपरीत अनुभव करता है तो उसे क्रोध और चिड़चिड़ापन सदा घेरे रहते हैं। उन समयों पर दूसरे कुछ के कुछ ही समझ में या दृष्टि में नज़र आते हैं। यही सब उसकी मिथ्या दृष्टियां हैं। उनके लिये मिथ्या मन के संकल्प और मिथ्या ही उत्तेजनायें (मन में जोश) सवार रहते हैं। ऐसे समयों पर मनुष्य बुद्धिमान् होता हुआ, अपने को सम्भाले; और उन्हीं सब अपने दुःखों के कारणों को दूसरों में भी समयों के अनुसार समझता हुआ उन्हें अपने से भिन्न न माने। और अपनी समस्याओं को भी उन्हीं सबकी समस्यायें पहचानकर

卐卐卐
एक ही व्यापक रूप ब्रह्म सर्वत्र समान समझकर अपने में उन सब के प्रति मैत्री, करुणा आदि को धारण करे; उनके अवगुण या अपराधों के प्रति क्षमा और उपेक्षा की नीति अपनाने से इसे परम शान्ति प्राप्त होगी। यहाँ तक कि मनुष्य से अन्य दूसरे प्राणियों के प्रति भी करुणा आदि को मन में बसाये। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करे। यही ब्रह्मात्म पहचानने हैं। यही मिथ्या दृष्टियां तथा मन की मिथ्या उत्तेजनायें सब मिथ्या ही कर्म करने को प्रेरित करती हैं। और पुनः कल्पना में बसे मिथ्या ही सुख को पाने के लिये जीवों को प्रेरित (उकसाती) करती रहती हैं। जैसे-जैसे वह बुद्धिमान् दूसरे सब जीवों में भी समानता का दर्शन करेगा वैसे-वैसे उसका अपने में जानने, करने और पाने का बन्धन भी शिथिल होता जायेगा। अन्त में कुछ भी जानना या करना, पाना शेष नहीं रहेगा। जब सब एक ही आत्मा या ब्रह्म सर्वत्र समान है तो क्या कुछ करना और क्या कुछ करके क्या पाना ? ऐसे बुद्धिमान् का मन अपने आप में (आत्मा में) ही शान्त सुख का नित्य अनुभव करता है।

ध्यानों में ही निहित तेरे पावने का सुख,
परम पावनता से न हुआ जो विमुख।
यही ध्यान देंगे तुझे सत्य भी सुझा;
या से भव ताप लेगा जीवित बुझा।। । १५४ ।

भूमिका :- पिछले पांच पद्यों में तृष्णा के दो प्रकार के स्वरूप बतलाये, एक तो पदार्थों को पाने की तृष्णा। जिन पदार्थों से सुख मिला है उन्हीं पदार्थों के लिये मन की सदा बने रहने वाली प्यास जैसी पाने की लपक, यह प्रथम प्रकार की तृष्णा है। यह तो १४६ से १५१ पद्य तक कहा

गया और दूसरे १५२ और १५३ दो पद्यों में पदार्थों को पाने के लिये बाहर के पदार्थों का ज्ञान भी आवश्यक है। इसी ज्ञान के लिये जो मन की प्यास या तड़पन सदा बनी रहती है, यह अज्ञान रूप भी तृष्णा का ही एक स्वरूप है। यह दो प्रकार की तृष्णा हुई। इस प्रकार तृष्णा से आत्मा का स्वरूप ढका रहता है। दोनों प्रकार की तृष्णा के परिहार (त्याग) के लिये आगे के इन दो पद्यों में साधन बतलाया गया है।

पद्यार्थ :- हे साधक पुरुष ! तुम्हारे पाने का सुख ध्यानों में स्थित (टिका हुआ) है। यदि तुम परम पवित्रता के मार्ग से विमुख नहीं हुए तो तुमको अपने ध्यानों में अपनी आत्मा का सदा बना रहने वाला सुख प्राप्त होगा अर्थात् ध्यान द्वारा सब बन्धनों से मुक्त हुआ-हुआ आत्मा का साक्षात्कार होगा और उसी साक्षात्कार में आत्मा का आनन्द प्राप्त होगा। प्रथम तो ध्यान तुझे अन्दर के सत्य को सुझायेंगे और सत्यों को समझने पर मिथ्या अज्ञान की निवृत्ति होगी। जिससे कि पुनः बाहर संसार में ही होने, बरतने (भव ताप) का ताप मिट जायेगा और यदि मन को पवित्र करने का भाव बना रहा और मन इससे विमुख नहीं हुआ तो जीवन काल में ही पूर्णतया भव सागर से मुक्ति हो जायेगी।

पद्य का भावार्थ :- इस पद्य का भाव यह है कि मनुष्य को संसार में ही बने रहने का भाव तब तक ही प्रबल रहता है जब तक कि मनुष्य यह नहीं जानता कि इस संसार में बने रहने का सुख स्थायी नहीं है और यही संसार में बने रहने का सुख अन्त में दुःख रूप ही बन जाता है। परन्तु

卐卐

ध्यान द्वारा श्रद्धा रख कर अपने जीवन को ध्यान में ही समझा जा सकता है और दूसरे प्रकार के ध्यान में दूसरे वृद्ध, रोगी आदि जीवनों को भी समझने और पहचानने पर प्रतीत होगा कि संसार में सुख के लिये बने रहना केवल दुर्गति ही पाना है। यह सब जीवन के सत्य खुली आँखों से संसार में विचरने और संघर्ष करने से जानने में नहीं आयेंगे। परन्तु अपने जीवन को और दूसरों के जीवन को सही-सही समझकर और कुछ शिक्षा प्राप्त करके सही मार्ग पर चलने से ही ये सत्य पाये जायेंगे। अन्त में यही मन पवित्र होता-होता केवल शुद्ध, अपनी आत्मा में ही टिकाव प्राप्त कर लेगा। इन्हीं सत्यों के ज्ञान द्वारा आत्मा में ही टिकाव प्राप्त कर लेगा। क्योंकि बाहर संसार में इस को होने की या बने रहने की प्यास या तृष्णा नहीं रहेगी। ध्यान द्वारा साधक पुरुष इस तृष्णा को दुःख रूप पहचान लेगा और पहचान कर यत्न करके थोड़ा त्यागने के क्लेश को भी सहन करके अपनी आत्मा में ही टिकाव को प्राप्त करेगा। जब आत्मा में टिकाव हो गया तो वहाँ भव सागर (संसार में होने का) का कोई दुःख नहीं रहेगा। सब जीते जी ही टल जायेगा। संसार में होने या बने रहने का यह तात्पर्य है कि जैसे कभी पुत्र आदि परिवार में, कभी मित्रों के साथ, कभी वस्तुओं के साथ बने रह कर समय व्यतीत करते जाना। जब अकेले अपने आप में हुए तो उसमें मन का न रमना और पुनः मन रमाने के लिये फिर संसार में ही होना या भागना यही भव तृष्णा है। इस होने का कहीं अन्त नहीं है। जैसे-जैसे व्यक्ति सम्मुख आये, जिन-जिन का संग किया,

उन-उन में वैसे-वैसे ही बनना पड़ेगा। इसका कहीं अन्त नहीं है। इसलिये इसको भव सागर कहा गया है। साधक पुरुष इस भव सागर से भटकने के दुःख रूपी दोष को देखकर अपने ध्यानों में ही सुख पाता है। कभी संसार के सत्य को पहचानना, दूसरों के जीवन को समझने में ध्यान लगाना और पुनः ध्यान में ही सब तृष्णा को त्यागने का खेद सहन करते-करते समय व्यतीत करना। इस प्रकार सब तृष्णा टलने पर, आत्मा के सुख स्वरूप प्रकट होने पर, उसी आत्मा के सुख स्वरूप को पाकर कृत-कृत्य होना। यह सब ध्यानों में सुख पाने का है; न कि संसार में कुछ होने में या बने रहने में सुख पाने की चेष्टा करना। इसलिये साधक को ध्यान के सुख को ही खोजना चाहिए।

जहाँ-जहाँ से टलेगा साधक; शुद्ध तेरा मन,
वहीं-वहीं ध्यान देवें गुप्त ज्ञान धन।
क्षीण जो न हुआ तेरा पावन उद्योग;
निज में जीवन मिले, नित्य सुख संयोग।।
। १५५ ।

भूमिका :-पूर्व पद्य में ध्यान में सुख पाने के लिये दर्शाया (बतलाया) गया और परम पवित्रता को प्राप्त करके जीते जी संसार के ताप को बुझाने की वार्ता कही गई और इसके निमित्त सब संसार और आत्मा के सत्य को भी पाने के लिये ध्यान का करना आवश्यक बताया गया। अब इस पद्य में अन्तःकरण या मन की पूर्ण शुद्धि के लिये साधन बतलाया गया है। इस साधन द्वारा नित्य सुख और शान्ति भी दर्शायी गयी है।

卐卐

पद्यार्थ :- हे साधक ! जहाँ-जहाँ से संसार के बन्धनों से मन थोड़ा ध्यान द्वारा दुःख समझकर टलता जायेगा, उन्हीं में सब बन्धनों का तुझे प्रत्यक्ष छिपे हुए रहस्य का ज्ञान रूप विज्ञान का धन प्राप्त होगा। इसी से मन शुद्ध होगा। यही गुप्त ज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा का (अपने आप का) या मन का थोड़ा संयम रख कर जिन-जिन मिथ्या सुखों से साधक पुरुष टलेगा, तो उस टलने से उसको बन्धनों का ज्ञान होगा। क्योंकि आदत के सुख छोड़ने पर मनुष्य का मन दुःखी होगा। दुःख में जीवन भारी प्रतीत (मालूम) पड़ता है। ऐसी अवस्था में ध्यान ही उसे यह विज्ञान उपजायेगा कि यह सुख देने वाले पदार्थ ही सब दुःख रूप हैं। क्योंकि सारा जीवन इनका संग, समान रूप से रह नहीं सकता। समय आने पर जब ये छूटेंगे तो इनका वियोग कितना भयंकर दुःख रूप होगा ? दीर्घ समय तक इनके संग से बढ़ी तृष्णा जब पूरी नहीं होगी तो ये ही विकराल रूप बन जायेंगे। यदि शीघ्र ही इनको बुद्धिपूर्वक, ध्यान और ज्ञान द्वारा पहले से ही इनका दुःख समझ करके, विचार रखकर आवश्यकतानुसार सेवन करे और तृष्णा को और अधिक बढ़ने ही न दे, तो यह जीवन ऐसे सधेगा जिससे कि नित्य आत्मा के सुख की प्राप्ति होगी। क्योंकि साधक पुरुष मिथ्या इच्छाओं को टालता हुआ, संयम रखता हुआ देह धारण से अधिक इच्छाओं को बढ़ने नहीं देगा और संयम के थोड़े दुःख को सहन कर लेगा। इससे मन को बाहर के सब मलिन अर्थात् दुःख रूप विषयों के संयोग से बचाये रख सकेगा। यही मन को पवित्र रखने का उद्योग (यत्न) है। यही जब स्वाभाविक हो जायेगा तो

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

यही उसका जीवन बन जायेगा। इस प्रकार वह सदा अपने आप को सम्भालने का अभ्यासी हो जायेगा। ऐसा जीवन बनने पर उसे संसार के सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति मिल जायेगी और आत्मा में, आत्मा के ही नित्य सुख के प्रकाश का संयोग बन जायेगा। इस प्रकार सारी तृष्णा के नष्ट होने पर परमपद की प्राप्ति हो जायेगी। बाहर जानने का कुछ नहीं रहेगा और करने व पाने का भी कुछ नहीं रहेगा। क्योंकि जानना और पाना अपने आप के सुख के लिये ही है। यदि सब संसार से टलकर या मन को मोड़कर, ज्ञान और त्याग द्वारा आत्मा में ही नित्य सुख मिल गया तो जानना और पाना कुछ भी नहीं रहा। सब पदार्थों को जानने के लिये जो लपक रूप अज्ञान था वह भी नहीं रहा, क्योंकि आत्मा का ज्ञान प्रकट हो गया। यही सब गुप्त अर्थात् छिपे सत्यों का ज्ञान ध्यान द्वारा प्रकट होता है। इस पद्य में यही ज्ञान धन रूप से कहा गया है। जैसे धन रखने या सम्भालने योग्य होता है, ऐसे ही यह सब गुप्त सत्यों का ज्ञान भी सम्भाल कर रखना पड़ता है। सदा मन में रखा हुआ सत्य ज्ञान जब-जब तृष्णा मन में प्रकट होकर भूल में डालना चाहेगी, तभी-तभी ये डालना सत्यों के ज्ञान के संस्कार ही टिके हुये, साधक की रक्षा, उस तृष्णा रूपी पिशाची से करते रहेंगे।

पावनता से करे विमुख जो, उसकी करिओ जाँच,
क्षणमात्र जो कष्ट भुलावे, उसमें नहीं कुछ साँच।
कष्ट में धैर्य धरे पै वह तो मिटेगा आपोआप;
ज्ञान समृद्धि संग में देवे और टरे सब पाप।। | १५६ |

卐卐

भूमिका :- पिछले दो पद्यों में ध्यान और ज्ञान द्वारा, मन की पवित्रता को साध करके, आत्मा के नित्य सुख की प्राप्ति बतायी गयी है और परिहार (त्याग) करने योग्य राग, द्वेष आदि बन्धनों को त्यागने की वार्ता भी कही गयी है। अब इस अगले पद्य में इस मन को परम पवित्र करने के मार्ग में जो विघ्न हो सकते हैं, उनको भी त्यागने को सुझाया गया है।

पद्यार्थ :- सब प्रकार की बाहर के पदार्थों की तृष्णा यह मन की मैल है। इसी मैल को पूर्ण रूप से धोने से मन परम पवित्र होता है। इसी परम पवित्रता के मार्ग में विघ्न या अड़चन रूप में, जो कुछ उपस्थित हो, उसकी भी जाँच करनी चाहिए। वह केवल बाहर के पदार्थों और प्राणियों का क्षण मात्र रहने वाला सुख का संयोग ही होगा। वही मन को लुभाकर और भुलाकर मन की पवित्रता के मार्ग में विघ्न करेगा। उसकी भी ध्यान में पूर्ण जाँच करके सत्य समझना कि इस सुख का क्या महत्त्व है? और क्या आवश्यकता है? और इसका अन्त कहाँ होगा ? इन सब सत्यों की ध्यान में जांच करना (परीक्षा करना)। परीक्षा करने पर यही प्रतीत होगा कि इनका सुख क्षण मात्र का ही है और ये केवल क्षण मात्र के लिये ही बाहर की तृष्णा के कष्ट को भुलाने वाले हैं। इनमें कुछ सत्य नहीं है। जैसे कि किसी आदत के सुख को त्यागने पर कष्ट होता है, किन्तु उस कष्ट को उस विषय के दे देने पर थोड़ी देर के लिये ही टाला जा सकता है। उस विषय की भूख पुनः सिर पर चढ़ी रहेगी और यदि इस भूख को मन की इच्छा के अनुसार पूरी करते जायें तो यह

एक दिन राक्षसी के समान निगलने वाली हो जायेगी। अर्थात् रोग, शोक, दुःख पीड़ा को ही करने वाली होगी। सुख तो केवल स्मृति (याद) मात्र में ही रहेगा। ऐसा सब विचार करके पवित्रता के मार्ग से पग पीछे नहीं हटाना और धैर्य से इस कष्ट को कांटे की चोभ या अग्नि से जले अंग के कष्ट के समान धैर्य से सहन करना। मन में चिड़चिड़ापन, क्रोध, चिन्ता आदि को टालते-टालते अपनी स्मृति में या ध्यान में धैर्य से बने रहना। समय पाकर कांटे की चोभ आदि के दुःख के समान यह विषयों को टालने का कष्ट भी अपने आप आत्मा में टल जायेगा। आत्मा पूर्ण बल प्राप्त कर लेगा। इसका ज्ञान स्वयं बढ़ जायेगा। क्योंकि जब यह बुद्धिपूर्वक इस दुःख को झेल कर सब विषयों के वियोग के दुःख को सहन कर गया और सहन करते-करते टाल गया, तो इसका ज्ञान भी इसको हो जायेगा कि किस प्रकार दुःख टलता है। दुःख टलने पर आत्मा में ही सुख भी प्राप्त हो जायेगा और इसके साथ-साथ विषयों के सेवन से होने वाले सब पाप भी कट जायेंगे। क्योंकि वे फल नहीं दे सकेंगे। फल तो संसार में उत्पन्न होने पर ही होता है । नित्य आत्मा में और आत्मा के सुख में टिकाव हो गया तो फिर संसार में क्यों भटकना पड़े। क्योंकि संसार में तो अपने आप में प्रतीत होने वाला जो दुःख है, उसी को टालने के लिये ही जाना पड़ता है। जब सब दुःख आत्मा में ही टल गया और आत्मा अनन्त रूप से प्रकट हो गया तो अब संसार में भटकने का क्या प्रयोजन और संसार में भटकने का मन भी कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? अर्थात् सब विघ्नों की समाप्ति होने पर, सब

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

पाप भी टल जायेंगे और भवसागर से मुक्ति भी मिल जायेगी और पूर्ण आत्मा का और सर्व आत्मा रूप ब्रह्म का भी ज्ञान हो जायेगा। यह सब ज्ञान की समृद्धि (बढ़ी हुई दशा) है। यह ज्ञान की समृद्धि सब विघ्नों के टलने पर और सब बन्धनों से मुक्ति पाने पर, परम पवित्र मन में होती है। अन्त में आत्मा के साक्षात्कार और ब्रह्म की प्राप्ति तक पहुँचाती है।

ॐ इति समूल बन्धन परम्परा परिहार वर्ग ॐ



卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 अथ तृष्णा निरूपण वर्ग 卐

तृष्णा बढ़े वृद्धता की ओर,
रहें जो अधूरे दोनों छोर।
इसकी तृप्ति संग बढ़े रोग;
रहे (छूटे) जो अधूरी, दु:ख योग।। ।१५७।

भूमिका :- पिछले कुछ पद्यों में दो प्रकार से तृष्णा का स्वरूप बतलाया गया है। प्रथम स्वरूप तो आत्मा के सहज़ स्वाभाविक ज्ञान के स्वरूप को ढक कर, ज्ञान-शून्य सा मन को बनाकर, तृष्णा, अविद्या के स्वरूप द्वारा मनुष्य को परेशान करने वाली है । मनुष्य आत्मा स्वरूप ज्ञान को तो शीघ्र पा नहीं सकता। इस ज्ञान शून्य अवस्था में ज्ञान रूप आत्मा को पाने के लिये अधीर जन, झटपट संसार के ही संस्कारों को जगाकर बाहर की वस्तुओं को ही याद करता है। याद करके पुनः दूसरे प्रकार की राग, द्वेष रूप तृष्णा से प्रेरित होकर, उनको पाने के लिये यत्न करने को उतारू हो जाता है। उनको पाकर बाहर के सुखों में ही रम जाता है। वह तृष्णा के सुख सदा तो रहते नहीं, इसी सत्य को आगे के तीन पद्यों में दर्शाया गया है। जान तो ऐसा पड़ता है कि तृष्णा को पूरी करने से सुख होगा परन्तु हाथ लगता है अन्त में दु:ख। दु:ख भी वह, जो कभी समाप्त नहीं होता। अन्त में मृत्यु में ही छिप जाता है और वहाँ से शीघ्र निद्रा से जागे हुए पुरुष के समान पुनः संसार में ही जन्म द्वारा लाकर पटक देता है। अन्तः में पुनः मृत्यु। इस प्रकार यह अन्त रहित दु:ख ही तृष्णा का परिणाम होता है। इस तृष्णा से होने वाले दु:खों को प्रथम

ध्यान द्वारा समझना कि यह दुःख किन-किन कारणों से आते हैं और पुनः उन कारणों को समझकर फिर इनको टालना ही उचित होगा जिससे कि इसके सुखों से वैराग्य हो और वैराग्य द्वारा ध्यान अन्त अवस्था में पहुँचे और पुनः ऐसे ध्यान द्वारा सत्य का ज्ञान हो और पुनः आत्मा का साक्षात्कार हो। जिन-जिन कारणों से तृष्णा से होने वाले दुःख आते हैं उन कारणों को आगे पद्यार्थ में दर्शाया गया है।

पद्यार्थ :- संसार और इसके सुखों की तृष्णा मनुष्य को बांधने की दिशा में ले जाती है अर्थात् उसको इस प्रकार बन्धन में डाल देती है कि वह इससे बंधकर अपनी स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से खो बैठता है। जैसे यह नाच नचाना चाहती है, वैसे ही वह नाचता है। चाहे इसका दास बनने का परिणाम (नतीजा) भयंकर दुःख ही क्यों न हो।

क्योंकि तृष्णा के दो किनारे हैं। या तो इसके सुख के लोभ के कारण से इसको पूर्ण रीति से तृप्त करना। यदि तृष्णा को पूर्ण करने में रोग, वैर, विरोध या संघर्ष इत्यादि का भय अधिक हो जायेगा तो यह अधूरी ही छोड़नी पड़ेगी। इससे वही तृष्णा अधूरी रही हुई अग्नि के समान जलायेगी और यदि इसको पूर्ण रीति से तृप्त करें तो यह बढ़ती ही बढ़ती जायेगी। अन्त में इतनी बढ़ जायेगी कि इसका पूरा करना असम्भव हो जायेगा। यदि कोई पूरा करना चाहेगा तो शारीरिक रोग उत्पन्न करेगी और दुःख, शोक, चिन्ता इत्यादि का मानसिक रोग भी उत्पन्न (बढ़ाए) करेगी। इसी प्रकार इन दुःखों के कारण से यह अधूरी ही छूटी रहेगी तो इससे भी मन सदा दुःखी ही

रहेगा। यही सब तृष्णा का दुःख है अर्थात् पूरा करने का या अधूरा छोड़ने का। इसी दुःख से बंधा हुआ प्राणी, इसे पूरा करने को या अधूरा छोड़ने की चिन्ता में बंधा हुआ (प्राणी), अपने सही आत्मा के कल्याण का मार्ग चलने में शक्तिहीन या अयोग्य ही ठहरता है। ऐसे इसके दुःखों को पूर्णतः समझ कर इस तृष्णा से मुख मोड़े। इसी का नाम वैराग्य है। इसके बिना कल्याण के मार्ग की यात्रा सफल नहीं होती।

तृष्णा बढ़े वृद्धता की ओर,
आलस, निद्रा छाये घनघोर।
इनको तोड़े महा उद्योग;
नहीं तो अन्त मृत्यु का ही योग।। ।१५८।

यह पद्य भी तृष्णा के दुःख को अन्य प्रकार से प्रकट करता है।

पद्यार्थ :-तृष्णा मनुष्य को केवल बुढ़ापे की ओर ही ले जाती है अर्थात् तृष्णा का पुजारी, शीघ्र ही तृष्णा के रोगों के कारण, समय के बिना भी शक्तिहीन होकर बुढ़ापे जैसा दुःख पाता है। आलस्य बढ़ जाता है। निद्रा खोयी रहती है और इसी (तृष्णा) से आलस्य और निद्रा इतने घनघोर (गाढ़े) होते हैं कि ऐसे व्यक्ति का किसी प्रकार का भी उद्योग करने का मन नहीं होता। एक ओर से तो तृष्णा को पूर्ण करना और इसकी पूर्ति के लिये संसार में भयंकर से भयंकर यत्न भी करना और दूसरी ओर आलस्य और निद्रा के सुख में भी खोये रहना। तो इसी में ही सारा जीवन व्यतीत हो जाता है। प्रथम बुढ़ापा आ जाता है। पुनः जीवन की समाप्ति हो जाती है। अब इस प्रकार बढ़ी

हुई तृष्णा को महान् उद्योग करने वाला ही तोड़ सकता है। यदि उद्योग नहीं कर पाया तो बस ऐसे व्यक्ति का अन्त तो मृत्यु में ही होगा जिससे कि वह पुनः संसार में ही जन्मेगा और पुनः मरेगा। इस प्रकार यह चक्कर भी कभी समाप्त नहीं होगा। केवल समाप्ति का मार्ग महा उद्योग ही है जो कि तृष्णा को जीतने के लिये करना पड़ेगा और इसको जीतकर ही आत्मा की मुक्त अवस्था का अनुभव करके परमपद पाना पड़ेगा।

तृष्णा चढ़े वृद्धता की ओर,
बढ़े इससे रुग्नता का जोर।
दुःख में दिन बीतने न पाये;
यही तो पुनः मौत को बुलाये।। । १५६ ।

यह पद्य भी तृष्णा के दुःख को अन्य प्रकार से दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- तृष्णा दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है अर्थात् यह ऊपर की ओर ही चढ़ती जाती है। जब यह अधिक बढ़-चढ़ जाती है तो देह में रोग उत्पन्न करने लग जाती है। परन्तु मनुष्य तृष्णा पूरी करने से रुकता तो है नहीं; क्योंकि तृष्णा को रोकने से यह अग्नि के समान जलाती है। इसके जलन के दुःख को शान्त करने के लिये मनुष्य इसको पूरा करने से नहीं टलता। परिणाम (नतीजा) यह होता है कि अन्त में रुग्णता (रोग अवस्था) का जोर बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य इससे अति दुःखी होता है और इस दुःख में दिन या समय को व्यतीत करना भी भारी होता है। इसी से पुनः मनुष्य स्वयं मौत को भी बुलाने लग जाता है। वह सोचता है कि मौत से मेरा दुःख टल

जायेगा। केवल जीवन ही दुःख रूप मालूम हो रहा है। एक ओर तृष्णा को पूरा करके थोड़ा सुख पाने से तो रोगों के दुःख की आग जलती है। इस आग से बचने के लिये यदि तृष्णा को पूरा नहीं करते तो तृष्णा स्वयं अग्नि रूप बन करके जलाती है। इस प्रकार तृष्णा के सुखों का दास दोनों ओर से दुःखी और निराश होकर मृत्यु को ही अन्तिम शरण मानता है। तृष्णा को पूरा करके सुख पाने वाला व्यक्ति मन से इतना दुर्बल हो जाता है कि तृष्णा को थोड़ा भी अधूरा छोड़ने का दुःख सहन नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति तप और साधन के अत्यन्त अयोग्य हो जाता है। उसे सब दुःखों का अन्त आत्मा में देखने की शक्ति ही नहीं रहती। इसलिये इस तृष्णा को थोड़ा कम मात्रा में पूरा करके और अधिक को अधूरी ही छोड़ करके, अधूरी छोड़ने के कष्ट को सहन करके आत्मा के साक्षात्कार का मार्ग खोजे। इसी तात्पर्य को आगे का पद्य प्रकट कर रहा है।

उद्योगी जन जीते दोनों छोर,
ध्यान और ज्ञान में विभोर।
छन्द हो तो जीते पुनः मौत;
मन चाहा जीवे बोले ऋषि श्रौत।। ।१८०।

पद्यार्थ :- उद्योगी जन इस तृष्णा के दोनों किनारों को जीते। जीतने के लिये ध्यान और ज्ञान में सदा लगा रहे। इसका तात्पर्य यह है कि जितनी तृष्णा पदार्थों के सुख पाने की हो उसको पहले ध्यान में परीक्षा की कसौटी पर कसे कि कितनी तृष्णा पूरी करनी चाहिए। देह धारण करने के लिये कितना बाहर के पदार्थों का संग करना चाहिए और दुःख को उत्पन्न करने वाला या रोग, शोक

卐卐卐

आदि को करने वाला जितना इसका संग हो उसको भी ध्यान में निश्चित करके, अपने ज्ञान में बसा करके, उद्योग (हिम्मत) करके, कष्ट पा करके भी उस संग को त्याग ही देना। इस कष्ट को सहन करने में मन भी इस प्रकार साधना चाहिए कि यह तृष्णा रोकने के खेद से दूसरों के साथ कोई मिथ्या व्यवहार न करे। तृष्णा अधूरी छूटने से चिड़चिड़ापन, क्रोध, संशय और दुःख आदि का तनाव मन में छाया रहना संभव है। उसको ध्यान द्वारा ज्ञान उपजा कर के शान्त करना चाहिए। इस प्रकार तृष्णा के दोनों किनारे जीते जायेंगे; अर्थात् पूरा करने में भी युक्ति (उचित, अनुचित का विचार) रखना। संयम से बाहर नहीं जाने देना और अधूरा छोड़ने में भी जो कष्ट होता है उसको मन, बुद्धि को सही रखकर सहन करना। इससे आत्मा को बल की प्राप्ति होगी। इस बल की वृद्धि अन्त में यहाँ तक हो जाती है कि मनुष्य मौत को भी अपने वश में कर लेता है और जितना मन चाहता है उतना जीता है। यही वेदों को जानने वाले ऋषि लोग स्वयं इसको अनुभव करके बतलाते हैं।

कष्ट बिना न होवे उद्योग,
कष्ट में न सहज छन्द योग।
मुनिज मन देख दुःख सब ओर;
दीर्घ जीवन के हेतु न करे जोर।। ।१६१।

भूमिका :- पिछले पद्य में तृष्णा को जीतने के लिये उद्योग (हिम्मत) की परम आवश्यकता बतलायी गयी थी तथा उद्योगी जन को मौत को जीतने की योग्यता बतलायी गयी थी। अब इस पद्य में उद्योग को करने के लिये कष्ट

सहन करने की आवश्यकता बतलायी जा रही है। और मृत्यु को जीतने का फल जो पीछे चर्चा में आया था उस फल पर ध्यान न देकर मुक्ति की ओर ध्यान रखने की ही आवश्यकता दर्शायी गयी है।

पद्यार्थ :- यदि मनुष्य को आत्मा का साक्षात्कार और नित्य सुख पाने के लिये उद्योग (मेहनत व हिम्मत) करना है, तो उसे थोड़ा कष्ट के साथ बसना या जीना भी सीखना पड़ेगा अर्थात् कष्ट में होते हुए भी अपनी हिम्मत न हार कर साधन में लगा रहना पड़ेगा। मन का इरादा तो सुख वाली वस्तु का पीछा करने का होता है। जिसमें उसको कष्ट हो उसमें मनुष्य का छन्द (इरादा) नहीं बन पाता। परन्तु मुक्ति की ओर परमानन्द प्राप्ति के महान् फल को दृष्टि में रखकर कष्ट में भी साधन करते रहने के भाव सहित इरादे को बनाये रखे, क्योंकि ध्यान द्वारा सत्य को समझने वाला जो मुनि का मन है या और भी कोई साधक है उसे संसार में सब ओर दुःख को ही देखकर और समझ कर दीर्घ जीवन में अधिक कामना न रखनी चाहिए। किन्तु संसार बन्धन से मुक्त होकर आत्मा के नित्य सुख में ही छन्द या इरादा रखकर साधना में लगा रहना उचित है। ऐसी साधना करते-करते जो कुछ भी श्रेष्ठ स्वास्थ्य या दीर्घ जीवन होना है या मिलना है, वह स्वयं (अपने आप) ही हो जायेगा। उसकी पृथक् इच्छा नहीं रखना। ऐसी इच्छा रखने पर साधना भली भान्ति सम्पन्न (पूरी) नहीं होगी।

卐卐

छोटे सुखों का तुझे नहीं है ध्यान,
मोटे सुख का ही करे सन्मान।
छोटे सुख जो दृष्टि में बस जायें,
तो बहते दुःखों में भी मन सुख पाये।। । १६२ ।

भूमिका :- साधना करने में थोड़ा कष्ट स्वीकार (सहन) करना पड़ता है, यह ऊपर के पद्य में कहा गया है। जिसमें कष्ट होता है उसमें मन की इच्छा नहीं होती; कष्ट केवल साधना करने में इस वस्तु का है। यह आदत के सुख जो कि दुःख को बढ़ाने वाले हैं उनको टालना पड़ता है और उनसे मन को भी हटाना पड़ता है। अब जिस प्रकार से उन सुखों से मन को हटाकर कष्ट से होने वाली साधना में लगाना है, ऐसी प्रेरणा आगे के पद्य में है।

पद्यार्थ :- हे साधक पुरुष ! जो छोटे सुख हैं जैसे कि क्षुधा (भूख) की अवस्था में अन्न खाने की तृप्ति का सुख और बहुत से रोग व्याधि आदि से बचे रहने पर स्वास्थ्य का सुख और परिश्रम करने पर निद्रा का सुख और भली संगत में रहने से दुष्ट पुरुषों से होने वाले दुःख से बचाव का सुख और भी वैरी विरोधी न होने का सुख इत्यादि-इत्यादि बहुत से सुख मनुष्य को केवल मनुष्य बनने से ही और थोड़े संयम रखने से ही प्राप्त होते हैं। इन सुखों के लिए वह परमेश्वर को धन्यवाद नहीं देता। यह उसके लिये दृष्टि में भी 'नहीं आते। किन्तु मोटे सुख जैसे अधिक धन, बहुत मान और अधिकार और दूसरों से अधिक बलशाली होकर अपना गर्व या अभिमान दिखलाने का जो यह सुख है जो कि अन्य किसी में देखने में आते

हैं और विषय के सेवन का भी जो बढ़ा-चढ़ा सुख है, ये ही इसकी दृष्टि में बसे रहते हैं। परन्तु साधना करने वाले के लिये तो यही उचित है कि उसे इन सब बड़े सुखों की उलझन में नहीं पड़ना चाहिये। परन्तु जो छोटे सुख, क्षुधा (भूख) इत्यादि में उचित भोजन करना इत्यादि के जो सुख हैं, उन सुखों को तो त्यागना नहीं है और ऊपर कहे मोटे सुखों को दृष्टि में नहीं रखना है। जब इन मोटे सुखों को त्यागने का साधक को दुःख प्रतीत (महसूस) हो तो उसे निराश होने की आवश्यकता नहीं कि उसके सब सुख खो गये। सुख उसका कोई नहीं खोया। जो मनुष्य को मनुष्य होने का सुख है उसको पहचान कर मन को धैर्य और सन्तोष में रखे और अपने साधना के कष्ट को सहन करता हुआ उद्योग (मेहनत या यत्न) करता रहे। सांसारिक मोटे सुखों की कामना रखता हुआ प्राणी भी तो बड़े-बड़े संकट झेलता है। इसी प्रकार साधक को भी परमपद के सुख को पाने का और सब बन्धनों से मुक्त होकर अपनी आत्मा में सहज, सदा बने रहने वाला सुख दृष्टि में रखकर कष्टपूर्वक उद्योग करने से घबराना नहीं चाहिए। जब इसके दुःख की ओर दृष्टि जाये तो छोटे-छोटे जो अपने सुख हैं उनकी प्राप्ति को याद करके और ध्यान में उनकी स्मृति करके अपने आपको दुःखी न समझे प्रत्युत् (विपरीत उसके) दूसरे के (मोटे सुख वाले जीवों के) मोटे-मोटे दुःख और उलझनों को देखकर अपने को उन दुःखों से बचा हुआ पहचान कर छोटे-छोटे सुखों वाला होने में ही मन को सन्तुष्ट करे और अपने को अच्छे

भाग्य वाला समझे कि 'मैं मोटे सुखों की उलझन से बचा हुआ हूँ', जब यह ऐसा ध्यान में लायेगा तो मोटे सुखों की ओर जाने वाला मन, दुःखी होने पर भी, छोटे सुखों से ही तृप्ति मानने वाली बुद्धि उसको सम्भाल लेगी।

तर तम भाव की करे है जो पहचान,
टले मोटा दुःख हो छोटे में सुख मान।
तृष्णा का बड़ा सुख ही जो मन में बसाये;
उस बाल का सुखीपना दिनों दिन हराये।। ।१६३।

इस पद्य में भी पिछले पद्य के भाव को स्पष्ट किया गया है।

पद्यार्थ :- मोटे सुखों से अर्थात् बहुत बड़े धन आदि साधनों से होने वाले सुखों से तो साधारण आवश्यक़्ताएं पूर्ण होने के जो सुख हैं वे श्रेष्ठ हैं और सब संसार के बन्धनों से छूटने (मुक्ति) का सुख तो सर्वश्रेष्ठ है; ऐसी पहचान जो मनुष्य कर सकेगा, उसके लिये यह जितने मोटे-मोटे सुखों का मोटा दुःख है, वह टला रहेगा और वह छोटे सुखों में ही सुख मान लेगा और जो तृष्णा के बड़े सुखों को सदा मन में बसाये रहता है वह अपनी उलझनें बढ़ाता हुआ, छोटे-छोटे जो मनुष्य के क्षुधा (भूख) निवृत्ति इत्यादि के सुख हैं तथा स्वास्थ्य के सुख हैं और मित्र प्यारे में बैठने के सुख हैं, वह भी खो बैठता है। वे भी दिनों दिन कम होते जाते हैं। जैसे-जैसे बड़े सुखों की उलझन और उनके साथ-साथ उनके मान को बनाये रखने की चिन्ता सिर पर सदा सवार रहती है तो निद्रा आदि का सुख भी समाप्त हो जाता है। ऐसे मनुष्य को बालक ही

समझना चाहिए जो कि अपने ही (असली) सुख को नहीं पहचानता। परन्तु दूसरों को देखकर और उनको बड़े-बड़े, मोटे-मोटे राज्य अधिकार, अधिक धन व अधिक मान इत्यादि के सुखों की कल्पना में पड़े हुए देखकर आप भी उसी दिशा की ओर चल पड़ता है। जैसे वे दुःख पाते हैं ऐसे ही यह भी दुःखी होता है। अपनी बुद्धि बल को प्रकट नहीं कर सकता। ध्यान द्वारा उन संसार के बड़े-बड़े सुखों और उनके मान में छिपे हुए दुःख और पाप आदि अनर्थों को नहीं पहचान पाता। इसलिये बालक के समान ही कहा जाता है। ऐसे बालक का सादा जीवन का सुख भी दिनों दिन कम होता जाता है। क्योंकि मोटे सुखों की चिन्ता और उलझन मन बुद्धि को सदा तनाव में ही रखती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य को असली सुख तो सादे ढंग से जीवन को धारण करने से ही प्राप्त होगा। और इस सादे जीवन के साथ-साथ ध्यान द्वारा ज्ञान को जगाकर सत्य को पहचानना है और अन्त में जगत् के सारे राग, द्वेष आदि तृष्णा के परिवार के दुःख त्यागकर आत्मा में ही शान्ति पाने का है न कि मिथ्या कल्पना के दूसरे-तीसरे में देखे हुए कल्पना के सुखों की ओर भागना और सुखों के स्थान पर दुःखों में उलझे-उलझे जीवन समाप्त करना।

टिप्पणी :- उपरोक्त पद्य में तर तम भाव की पहचान का शब्दार्थ यह है कि अपेक्षाकृत किस में सुख अधिक है; और किस में दुःख की मात्रा तीव्र है। अपेक्षाकृत शब्द का भी यह तात्पर्य है कि एक दूसरे को दृष्टि के सम्मुख रखने पर किसमें सही सुख है और किस में दुःख। यही तर तम भाव का विवेक है।

卐卐

जग के सुख में ही माने जो बहुमान,
उसके सुख की बनी न रहे शान।
गया सुख, हुआ मान तभी लुप्त,
रहा वह कौन ? रहा जो इनमें सुप्त।। ।१६४।

नीचे के पद्य में भी मुक्ति की ओर सच्चे सुख को पाने के लिये चलने की प्रेरणा दी जाती है।

पद्यार्थ :- जो जग के सुख में ही बहुत मान रखता है अर्थात् जगत् के वही-वही, बड़े-बड़े, मोटे-मोटे राज्य अधिकार आदि सुखों को ही अधिक मान देता है उसका सुख और उस सुख की शोभा (शान) सदा बनी नहीं रह सकती। क्योंकि बहुत बड़ा धन और राज्य अधिकार और विषयों के बहुत मूल्य वाले जो सुख हैं ये सब देह में बल रहने तक ही सीमित हैं। अन्त में ये दूसरे के हाथों में ही जायेंगे। इसका मान उन्हीं को ही मिलेगा। चाहे अपनी सन्तान को भी ये प्राप्त हों, तब भी जो अपने हाथ से इनको खो बैठा है, उसको तो अपनी सन्तान के हाथों में भी तिरस्कार ही पाना पड़ेगा। शान, मान तो दूसरों के ही होंगे। जिस के हाथ से ये सुख निकल गये हैं; वह व्यक्ति तो शान, मान वाला नहीं रहेगा। तब इसकी आत्मा केवल दुःखी ही नहीं होगी प्रत्युत् (वरन्) औरों से भी अधिक इन खोये हुए शान-बान का दुःख मानेगी। जैसे तीव्र प्रकाश में रहने वाला व्यक्ति थोड़े प्रकाश में देखने की शक्ति भी खो बैठता है; इसी प्रकार बड़े, मोटे सुखों में, उनकी मिथ्या शान, मान में ही जीवन का उत्तम भाग खोकर, पिछली अवस्था में केवल अधीनता का और तिरस्कार का ही जीवन बिताये जाने पर दूसरों से भी अधिक दुःखी होगा।

इतना ही नहीं जब उसका वह बड़ा या मोटा सुख नहीं रहा तो उस मोटे सुख वाला जो 'मैं' का भाव है वह भी उसका नहीं रह पायेगा। जिसमें वह संवेदन (महसूस) करता था कि 'मैं बड़ा सुखी हूँ और मैं बड़ा मानी हुँ, मेरी शान दूर-दूर तक पहुँची हुई है'। यह 'मैं' उसको पहले संसार में मिली हुई थी और संसार में ही उसने यह पायी थी। यह सब मोटे सुखों के साथ ही, जब मोटे सुख समय के अनुसार नहीं रहे तो उस सुख का मान रूप, वह 'मैं' भी लुप्त हो जायेगी अर्थात् खो जायेगी। अब यह कौन कहेगा कि 'मैं कौन हूँ' ? अर्थात् इसको अपनी 'मैं' सदा खोयी हुई नजर आयेगी। केवल पुरानी 'मैं' को ही याद करके सोये हुये मनुष्य के समान बीती हुई 'मैं' के ही स्वप्न देखता रहेगा, उनको याद करके समय व्यतीत करता रहेगा और दुःखी होगा। जो वर्तमान में सत् है, ऐसा आत्मा इसके लिये खोया ही रहेगा।

यह सब ऊपर कहा हुआ जो उन बड़े-बड़े या मोटे-मोटे सुखों वालों की अन्त में दुर्दशा दर्शायी गयी; परन्तु कई एक दूसरे इन मोटे-मोटे सुखों के बिना होने पर भी और उनको पाने की योग्यता या साधन न होने पर भी, केवल दूसरे उन सुख वालों को देख-देख कर मन में दुःखी होते रहते हैं कि उनके पास ये उनके जैसे बड़े-बड़े सुख नहीं हैं। वे भी उन मिथ्या सुखों में मन को सुलाये हुए उन्हीं सुखों की तृष्णा के साथ संसार से कूच करके उत्तम गति नहीं पाते। वे उन मोटे-मोटे दूसरे के सुखों में ही सोये-सोये उनकी तृष्णा बनाये रखते हैं। वह नहीं कि

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ध्यान द्वारा उन सुखों को मिथ्या, अनित्य (न बने रहने वाले) समझ या पहचान कर और उनका अन्त परिणाम (नतीजा) दुःख रूप, वह भी भयंकर समझकर अपनी हर समय की और प्रत्येक अवस्था की पास वाली नित्य सत्, चित्, आनन्द रूप आत्मा को पहचान कर कृत-कृत्य हो।

इस पद्य का सारांश यह है कि भले ही ये सुख प्राप्त हैं या नहीं भी प्राप्त, इनसे वैराग्य करके अपनी नित्य आनन्द रूप आत्मा में जीवन काल में ही स्थिरता (टिकाव) मनुष्य को खोजनी चाहिए।

जब लो मन में अटकी, कोई जगत् की ही शान,
तब लो मति भटके, नहीं आत्मा का ज्ञान।
टिके न जग का सुख, भटकावे क्षण का आवेश;
हा ! हा ! अवसर खोये न छूटे बन्धनों का लेश।।

। १६५ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में यह दर्शाया गया था कि जो जगत् के मोटे-मोटे सुखों की शान में भूला हुआ प्राणी है और उसी शान मान की 'मैं' को अपना आपा समझता है अर्थात् आत्मा मानता है, वह प्राणी जब बलहीन हो जाने पर यह मोटे सुखों की शान और मान नहीं पायेगा तो उसका वह मोटे सुखों वाला 'मैं' भाव भी खोजे कहीं नहीं मिलेगा। तो वह खोयी हुई 'मैं' वाला कहीं सुख नहीं पायेगा। जैसे कि नशा पीने पर, नशे की मस्ती की 'मैं' के साथ खेला हुआ यह प्राणी जब नशे से विहीन रह जाये तो उसे अपनी नशे की मस्ती वाली 'मैं' या 'मैं' का भाव न मिलने पर उसका मन सारे जगत् के रौनक मेले में कहीं भी रमण नहीं

करता। केवल नशे की ही याद में चिन्ता में अपने आप में खोया रहता है। यद्यपि जीवन धारण कर रहा है, खाने व पीने का भी सुख है, निर्भयता के साथ मनुष्यों में भी विचर रहा है, परन्तु वह मिथ्या आत्मा रूप उसकी नशे वाली या नशे की तृप्ति वाली जो 'मैं' है वह नशा न मिलने की दशा में खोयी हुई उसको कहीं भी प्रसन्न नहीं होने देती। ऐसे ही जगत् के मोटे-मोटे सुखों की शान और उनके मान में नशे के समान मद-युक्त व्यक्ति उनके 'न' रहने पर खोया-खोया हुआ कहीं सुख नहीं पाता है। यद्यपि सच्चिदानन्द रूप आत्मा उस जीते हुए व्यक्ति में कभी भी खोया हुआ नहीं होता। परन्तु नशा या वही मोटे-मोटे संसार के अधिकार, धन व मान आदि के सुख बिना यह सत् चित् आत्मा होता हुआ भी खोया हुआ सा प्रतीत होता है। क्योंकि ये सुख तो टिकते नहीं, परन्तु फिर भी बाहर के सुखों के राग और उन्हीं के निमित्त द्वेष और मान, मोह आदि बन्धनों के कारण सत् चित् रूप आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो पाता और उसका सुख प्रकट नहीं होता। न होने से जीव अनन्त दुःख के सागर में गोते खाता रहता है। इसी भाव को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जब तक मन में जगत् की ही अर्थात् जगत् के सुखों की ही शान या शोभा अटकी बैठी है, चाहे वे वर्तमान हैं, चाहे वे समय के अनुसार हाथ से निकल चुके हैं, तब तक बुद्धि उन्हीं के पीछे भटकती रहती है। जो सब क्षण, सर्व समय जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में वर्तमान शुद्ध ज्ञान रूप आत्मा है, उसका ज्ञान नहीं हो पाता, जैसे कि नशे वाले का दृष्टांत पीछे

卐卐卐

दिया गया है। जैसे उसका मन नशे में भटका हुआ, उसी के कारण इसकी बुद्धि भटकी हुई होने से, नशे के सुख में बंधे हुए होने के कारण सारे जगत् में जागता हुआ ज्ञान रूप अपना आपा (आत्मा) जगत् में कहीं भी सुख को नहीं मानता। अपने आप में कहीं भी शान्ति नहीं पाता। इसी प्रकार जगत् के सुखों में जो मन अटक रहा है और इसी प्रकार बुद्धि भटक रही है, उसको भी अपनी आत्मा में या सर्वव्यापक (सब में समान रूप से टिके हुए जगत् रूप विभूति के साथ) ब्रह्म स्वरूप में कहीं भी सुख शान्ति नहीं मिलती। यद्यपि सब जानते हैं कि जग का कोई भी सुख सदा बने रहने वाला नहीं है, फिर भी जब उस सुख की इच्छा का आवेश क्षण भर के लिये आता है तो मनुष्य उसमें ऐसा भटक जाता है कि उन्हीं सुखों की ओर ही भागता है और उन्हीं की तृष्णा की पूर्ति करता रहता है। संयम, ध्यान, ज्ञान जगाकर इन राग आदि बन्धनों को पहचान कर इनको छोड़कर पुनः अपनी सदा बने रहने वाली सच्चिदानन्द रूप आत्मा में उसके सुख को प्रकट नहीं कर पाता और बाह्य सुखों की तृष्णा को पूरा करने में ही मनुष्य जीवन खो बैठता है। और बन्धन अल्प मात्रा में भी छूट नहीं पाते। वह व्यक्ति इन्हीं से बन्धा हुआ जन्म मरण के चक्कर में बन्धा रहता है। जैसे कि एक के बाद दूसरे सुखों के बन्धन और इन्हीं के चक्कर में पड़ा-पड़ा दुःख पाता है। यह तृष्णा तो पूरी होती नहीं और इसके सुख रहते भी नहीं। जब सुख नहीं रहते तो दुःख ही हाथ लगता है।

卐卐卐

बिना बन्धन छूटे कैसे पहुँचे आत्म देश ?
काम का किंकर भागे पा के उसका ही निदेश।
कल्पना में कुछ भी दीखे जैसे रहे हमेश;
परिवर्तन का नियम न छोड़े, उसका कहीं भी लेश।।

। १६६ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में बाहर के सुखों की शान में पड़े हुए प्राणी के बन्धन कभी नहीं छूटते और परमपद या कल्याण पाने का अवसर (मौका) भी हाथ से निकल जाता है, यह बतलाया गया। अब इस पद्य में ऐसा बतलाया गया है कि बन्धन छूटे बिना सच्चा और सदा बने रहने वाला आत्मा का सुख भी नहीं मिलता।

पद्यार्थ :- जो इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर बन्धन बताये गये हैं जैसे अविद्या, मान, मोह, राग, द्वेष व संशय आदि ये सब जब तक नहीं छूटते तब तक सच्चिदानन्द आत्मा के निर्मल (पवित्र) देश तक मनुष्य नहीं पहुँच पाता। पहुँचने का साधन आचार की शुद्धि, जिसमें मिथ्या तृष्णा के सुखों को त्यागना और त्यागने के दुःख को तपस्या रूप से स्वीकार करना; पुनः ध्यान, ज्ञान (विवेक) द्वारा तृष्णा के बन्धनों को दुःख रूप पहचानकर इन सब को पूर्ण रीति से छोड़ देने का उद्योग करना है और बाहर दूसरों के साथ सही बर्ताव रखना और दूसरे के प्रति मैत्री इत्यादि शुद्ध भाव को भी बनाये रखना यह सब बन्धनों को छोड़ने के साधन में सम्मिलित है। इन सब के बिना आत्मा के देश नहीं पहुँचा जा सकता अर्थात् अपनी आत्मा में सच्चा और नित्य सुख प्राप्त नहीं होता। जो ऐसे साधन नहीं कर पाता उसका काम या इच्छा का ही मत रहता है और बाह्य सुखों

卐卐

को पाने में ही समय बिताना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति काम का दास बना-बना जिधर-जिधर काम या इच्छा की आज्ञा होती है उधर-उधर ही भागता है। अपनी आत्मा को या उसके सुख को प्राप्त करने के साधन जो पीछे बताये गये हैं, उनको नहीं कर पाता। यद्यपि ये सब बाह्य सुख सदा बने रहने वाले नहीं हैं, तब भी काम या इच्छा के सुख में लोभ वाले व्यक्ति को ऐसा जान पड़ता है कि ये संसार के सुख जैसे सदा बने रहेंगे। यद्यपि सब कुछ परिवर्तित (बदलता) होता रहता है, ऐसा यह जगत् का नियम है। जो आज सुख है, वह कल सुख नहीं रहेगा। तथापि बाह्य जगत् के सुखों में मोहित व्यक्ति को ये सुख सदा बने रहने वाले दीखते हैं और वह उन्हीं की आशा में सदा यत्नशील रहता है और इनकी तुच्छता को पहचान कर आत्म साक्षात्कार या आत्मा के सुख को प्राप्त करने का यत्न नहीं कर पाता। ये बाह्य सुख सब बालपन, यौवन आदि अपने-अपने समय के ही हैं । उनका समय निकल जाने पर सुख के साथी प्राणियों में वह भाव तक भी नहीं दिखाई देते जिनसे कभी सुख प्राप्त होता था। यही सब सत्य ध्यान द्वारा अपने अन्तरात्मा में (अपने आप में) पहचानकर संसार से मुख मोड़ना या वैराग्य उपजाना है। तभी आत्मा का प्रिय देश प्राप्त हो सकेगा। यही इस पद्य का भाव है।

पूर्व परिचितों में कितनी तेरी बनी रहे झोक ?
और उनके संग कितना परिचित चाहे 'मैं' का लोक।
ऐसी तृष्णा के रहते, हो कैसे आत्म प्रकाश;
और वैसे ही फिर परमात्मपद पाने का अवकाश।।

। १६७ ।

卐卐

पूर्व पद्य में यह बतलाया गया कि बन्धन छूटे बिना आत्मा प्राप्त नहीं होता। अब बन्धन कामना के सुख की दासता के कारण छूट नहीं पाते, यद्यपि उनका सुख सदा बने रहने का नहीं, क्योंकि सब परिवर्तनशील है। उनका समय ही होता है। समय के बदलने पर उन सुखों के साथी संगी भी अच्छे नहीं लगते।

भूमिका :- इस आगे के पद्य में यह दर्शाया जा रहा है कि केवल सांसारिक सुखों के लोभी व्यक्ति का सुखों को ही पाने का यत्न नहीं रहता प्रत्युत् (वरन्) इससे भी अधिक इन सुखों के संग में जो इसे अपना आपा या 'मैं' का भाव अनुभव में आया है, इस 'मैं' के लोभ में भी वह इन सब सुखों की ओर भागता है और जिनके संग से सुख मिलता है, उन्हीं में ही सदा मन की लग्न बनाये रखता है। परिचित सुख मिले बिना परिचित 'मैं' का अपने आप में अनुभव नहीं होता। जैसे नशे वाले व्यक्ति को नशा मिलने पर ही अपना आत्मभाव (मैं भाव) प्राप्त होता है; नशे की मस्ती में ही वह यह समझता है कि 'अब मैं अपने आप में हुआ या आया'। यही उसका नशा पूर्ण होने पर 'मैं' की या काम (इच्छाओं वाली) आत्मा की प्राप्ति होती हुई प्रतीत होती है। यह भी उसे बड़ी मीठी लगती है। इसका लोभ सदा छाया रहता है। इसके बन्धन से छुटकारा नहीं बन पाता है। इससे पहले वह नशे के बिना और उस नशे की खुशी के बिना खोया हुआ सा था। इसी प्रकार जिन-जिन से सुख मिलता है, ऐसे परिचित प्राणियों और पदार्थों में ही अपनी 'मैं' मिलती है या सांसारिक आत्मभाव प्राप्त होता

卐卐

है। जो सच्चा आत्मा है वह तो सत् चित् आनन्द रूप है अर्थात् सदा सब अवस्थाओं में ज्ञान रूप से उपस्थित है, परन्तु काम या इच्छाओं वाले आत्मा के बन्धनों के कारण ढका ही रहता है। यही सब इस अगले पद्य में बतलाया जा रहा है।

पद्यार्थ :- हे प्राणी ! जिन प्राणी और संसार के पदार्थों के संग से तुम ने सुख पाया है उनकी ओर तुम्हारा कितना झुकाव हो रहा है ? अर्थात् तुम सदा उन्हीं की ओर झुके रहते हो और उन्हीं के संग से पायी हुई जो 'मैं' या कामात्मा (सांसारिक कामना) की प्राप्ति है, उसी के लिये भी कितनी तुम्हारी लालसा (शौक) हो रही है। क्योंकि यह 'मैं' भी उन परिचितों के संग से जो मिली थी, वह 'मैं' भी तुम्हारी परिचित हो गयी है। इसी 'मैं' के अपने पहले से जाने बूझे लोक में ही तुम बसे रहना चाहते हो, जो कि अपने बाल्य आदि समयों का है। उनके बीतने पर वह कहीं भी मिलने का नहीं होता। इसके बिना तुम खोये हुये से रहते हो। इसी को पाने के लिये कामना के सुख, समय के अनुसार दुःखदायी होने पर भी केवल परिचित जगत् (लोक) में 'मैं' भाव पाने के लिये ही सेवन करने पड़ते हैं। यह मिथ्या काम, आत्मा की मिथ्या प्रीति का दण्ड है और सत्य आत्मा को पाने के लिये यत्न न करने के कारण शाप रूप भी है। ऐसे संसार के सुखों को और उनके संग से मिथ्या 'मैं' भाव को पाने के कारण से ही सच्चे आत्मा का प्रकाश नहीं हो पाता। फिर इसी आत्मा का व्यापक स्वरूप समभाव (सब में रहने वाला) जो परमात्मा शब्द से कहा

जाता है उसको भी साक्षात्कार करने का अवकाश (मौका) कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

इस सब ऊपर कहे का तात्पर्य यह है कि जब तक मिथ्या कामना का राग और मोह नहीं छूटता तथा इन्हीं सुखों के संग से जगत् में पायी गयी मिथ्या 'मैं' भाव का मोह नहीं छूटता तब तक आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और सदा बना रहने वाला सुख भी प्राप्त नहीं होगा तथा सब दुःखों का सदा के लिये अन्त भी नहीं हो पायेगा।

आगे-आगे भागते का पाछा गया खोय,
आशा का आगा न मिला पाछे को भी रोय।
आगा पाछा दोनों खोके पड़ा मंझधार;
धर्म की नाव बिना, हो कैसे बेड़ा पार ?

। १६८ ।

भूमिका :- पीछे कहे गये मिथ्या सुख और उनके सम्बन्ध से 'मैं' भाव को पाने की लालसा के कारण जो कुछ इस व्यक्ति को संसार में हानि होती है उसकी चर्चा यह आगे का पद्य करता है।

पद्यार्थ :- बचपन में या लड़कपन में जो सादे खाने-पीने, पहनने और मित्र प्यारों के सादे भावों का सुख है और अपने शरीर के स्वास्थ्य का सुख है, यह प्राणी को प्रायः जन्म से ही प्राप्त होता है। जब मनुष्य दूसरों को बड़े-बड़े सुखों के पीछे भागता हुआ देखता है तो यह भी उसी दौड़ में फंस जाता है। उन्हीं की चिन्ता और उन्हीं की प्राप्ति के लिये संघर्ष और वैर, विरोध, भय, शंका

आदि में इतना खिन्न (दुःखी) होने लग जाता है कि जन्म से होने वाले वह सादे छोटे-छोटे खाने पीने और स्वास्थ्य के सुखों से भी धीरे-धीरे हाथ धो बैठता है अर्थात् आगे-आगे बड़े-बड़े सुखों को पाने की तृष्णा से पहले के जो सुख थे, उनको भी खो बैठता है।

परन्तु होता क्या है ? आशा और तृष्णा एक ऐसी पिशाची है कि इसका पेट कभी भरता ही नहीं। इसलिये जितना यह चाहती है उतना संसार में किसी को भी प्राप्त नहीं होता। इसलिये आशा का जो आगे-आगे भागना है वह कहीं भी पूर्णता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् आशा पूर्ण रूप से कभी भी तृप्त नहीं होती और अधूरी ही रहती है। इस आशा का आगा अर्थात् अन्त कहीं भी नहीं मिलता। इस आशा के आगे के अन्त को पाने के लिये (पूर्ण रूप से तृप्त करने के लिये) जो मनुष्य सदा उद्योग में लगा रहता है वह पीछे होने वाले सादे सुखों के लिये भी रोता है। क्योंकि आशा के जितने भी सुख होते हैं वे तृष्णा की वृद्धि के साथ-साथ रोग, शोक, दुःख और अनन्त उलझन को उत्पन्न कर देते हैं जिससे स्वास्थ्य और सादे खान पान और मिलने जुलने का सुख भी समाप्त हो जाता है। मनुष्य उसके लिये भी रोता है या पछताता है। इस प्रकार आगा पाछा दोनों खोकर मनुष्य मंझधार में पड़ जाता है। न इस किनारे का रहा, न उस किनारे का रहा क्योंकि ऐसी अवस्था में कोई कर्तव्य सूझता ही नहीं। तृष्णा पूरी नहीं होती। आशा छूटती नहीं और दूसरी ओर से पाछे के सुख भी नहीं बनाये रखे जा सकते। ऐसी अवस्था में मनुष्य का

केवल एक ही सहारा हो सकता है कि वह आशा के सारे सुख छोड़कर और अपने जीवन को धर्म के अनुसार संयम, नियम, ध्यान व ज्ञान की ओर चलाये। यही धर्म की नौका है। उसे बलपूर्वक अपने आपको धारण करना पड़ेगा। नहीं तो एक ओर आशा तृष्णा खींचेगी तथा दूसरी ओर पहले के बीते हुए सुखों की याद आकर पश्चात्ताप में घसीट कर ले जायेगी और मनुष्य उन्हीं सुखो को याद करता हुआ दुःखी बना रहेगा और पश्चात्ताप करेगा कि मैं सादे नियमों के सुखों को छोड़कर व्यर्थ में ही सुखों की अधिक लालसा में पड़कर सादा सुख भी खो बैठा। इससे तो सब जीवों के खाने के पदार्थ मीठा, घी, दूध, नमक, मेवे इत्यादि भी छूट जाते हैं। दूसरे प्राणियों में इसका संग करने का भाव भी नहीं रहता। यह संसार में न चाहते हुए भी अकेले जैसा पड़ा-पड़ा पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है और अपने बुरे कर्मों को कोसता रहता है। इसलिये अब धर्म की नौका पर ही सवार होना पड़ेगा और दूसरा जीवन बिताने का संतोषजनक कोई मार्ग नहीं है।

ॐ इति तृष्णा निरूपण वर्ग ॐ



अथ प्रज्ञा वर्ग

जब तक वस्तुओं में दीखे है अच्छाई,
तब तक मन जगत् में ही करे है घुमाई।
प्रज्ञाओं ने प्रकट हो किया जो भांडा फोड़;
मन टिका आत्मा में जग से नाता तोड़।।

। १६६ ।

भूमिका :- पूर्व पद्यों में यह दर्शाया गया था कि जब तक संसार की वस्तुओं के संग से ही संसार में आत्म लाभ या 'मैं पन' का पाना अच्छा लगता रहेगा तब तक सच्चिदानन्द रूप आत्मा तो ढका ही रहेगा। जो सांसारिक आत्म भाव है या संसार में सांसारिक पदार्थों के संग से 'मैं' का भाव प्राप्त होता है वह तो बना रहने का नहीं। क्योंकि सांसारिक पदार्थों का संग या उनके संग से होने वाला सुख सारी आयु भर समान रूप से न मिल सकेगा और उसके न मिलने पर उसकी सुख वाली 'मैं' भी नहीं मिलेगी। इसलिये अब यह पद्य इस सत्य को दर्शा रहा है कि बाहर की वस्तुओं की अच्छाई या सुख देने की अवस्था सदा बनी नहीं रह सकती। इसलिये इसको ज्ञान द्वारा समझ कर मन को बाहर की वस्तुओं की दासता से मुक्त करना चाहिए। इसकी दासता से मुक्त होने पर सादा निर्मल स्वभाव वाला आत्मा जो सदा से ही सब में विद्यमान रहता है उसका ज्ञान सहज में ही हो जायेगा। जब बाहर की दासता नहीं रहेगी तो यही आनन्द रूप से प्रकट होगा। इसी को आगे का पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जब तक संसार की वस्तुओं में अच्छाई

दिखती रहती है तब तक मन उनको प्राप्त करने के लिये बाहर ही घूमता रहता है। इन्द्रियां बाहर की वस्तुओं में ही चंचल रहती हैं। मन भी उनके चिन्तन और उनको पाने के लिए योजनाएँ बनाता रहता है। यही बाहर की घुमाई है। मन तो एक ही है। जब यह बाहर संसार में घूम रहा है तो आत्मा में अंधेरा है और जब बाहर से मुक्त हो जायेगा तो आत्मा का ज्ञान इसी प्रकार होगा जैसे कि बाहर घूमते मन में बाहर के पदार्थों का ज्ञान होता था अर्थात् जब बाहर से छूटा अथवा मुक्त हुआ, तो अन्दर आत्मा इसमें प्रकट हो गया।

परन्तु बाहर के पदार्थों से तब मुक्ति मिलेगी जब उन पदार्थों में अच्छाई या सुख देने की योग्यता न दीखे। जब तक उन पदार्थों में सुख दीख रहा है, तब तक ये मन से नहीं उतरेंगे और तब तक मन संसार की घुमाई भी नहीं छोड़ेगा। यदि सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञा को जगाकर बाहर के पदार्थों के वास्तविक (असली) दुःख स्वरूप को पहचान लिया गया तो अपने आप मन उधर से मुड़ जायेगा और उसका जग से नाता भी टूट जायेगा। तब स्वयं मन सच्चिदानन्द रूप आत्मा में टिकाव भी प्राप्त कर लेगा। परन्तु ध्यान के बिना यह सत्य का ज्ञान रूप प्रज्ञाएँ प्रकट नहीं होतीं। इसके लिये बाहर के शुद्ध व्यवहार और ध्यान की परम आवश्यकता है।

जैसे कि कितना भी मधुर स्वादिष्ट भोजन हो उसको खाने के लिये कितना भी मन लालायित हो यदि उसमें संखिया जैसा तीव्र विष मिला हुआ पहचान लिया जाये तो उसे किसी की भी खाने की इच्छा नहीं होगी। उससे मुख

स्वयं मुड़ जायेगा। इसी प्रकार ध्यान द्वारा बाहर के सब विषयों में दुःख स्वरूप होने का ज्ञान उत्पन्न करना होगा।

इसी ज्ञान का नाम प्रज्ञा है। यही विषयों के छिपे हुये दुःख को जताकर कपट का भाण्डा फोड़ेगी। दीखने में या कल्पना में तो ये सुख स्वरूप दीखेंगे परन्तु इन सुख वाले प्राणियों को जब ध्यान दृष्टि में देखेंगे या विचारेंगे तो आयु के बदलने के अनुसार इन सब विषय सुखों को उनमें दुःख देते हुए ही पाओगे। तब इनके त्याग की थोड़ी पीड़ा को सहन करके यदि इनकी दासता (गुलामी) से मुक्त होने का कोई यत्न लम्बे समय तक करता रहेगा तो इनकी तृष्णा पूर्ण रीति से नष्ट हो जायेगी। उसके पश्चात् आत्मा में सहज टिकाव की प्राप्ति हो जायेगी और सब दुःख शान्त हो जायेंगे।

मन में जग का अच्छा लगना यही तृष्णा का मूल,
बढ़े हैं इसी से सारे बन्धन और बढ़े हैं शूल।
ध्यान से प्रज्ञा प्रकट जो कर सम्यक् सत्य सुझाये;
सम्यक् साधित मन तभी निश्चय नित्य सुख को पाये।।
। १७० ।

भूमिका :- यह आगामी पद्य भी इसी पीछे कहे गये अर्थ को इस प्रकार प्रकट कर रहा है कि जिस प्रकार संसार के पदार्थ सुख देने वाले प्रतीत होने पर मनुष्य को अपने चंगुल में फंसा लेते हैं इसी प्रकार ये सब पदार्थ जगत् में ही पाये जाने के योग्य होने से संसार में भी सदा बने रहने की तृष्णा बनाये रखते हैं अर्थात् सदा जन्म मरण के चक्र में डाले रखते हैं। इसलिये तृष्णा की जड़ (मूल) केवल पदार्थों का अच्छा लगना ही है अर्थात् पदार्थ सुख

देने वाले प्रतीत होते हैं। ऐसे जगत् के प्राणी भी स्त्री, पुत्र, मित्र, इन-इन सम्बन्धों से सुख देने वाले प्रतीत होते हैं। इसी को वेदान्त शास्त्र में शोभनाध्यास के नाम से कहा गया है अर्थात् प्राणियों और पदार्थों में मिथ्या शुभ भाव का प्रतीत होना। इन सबके कारण से जगत् में ही तृष्णा बनी रहती है और इसी जगत् के सब प्राणी और पदार्थों में राग, द्वेष, संशय, भय, मान व मोह आदि बन्धन प्रबल होते जाते हैं और सब शूल उत्पन्न करते हैं। अधिक मात्रा में सेवन किये गये सुख रोग, शोक आदि दुःख को उत्पन्न करते हैं और इनका वियोग शूल जैसा दुःख देता है। अब यदि ध्यान से प्रज्ञा (असलियत का ज्ञान) प्रकट हो जाये जैसे कि "यह दुःख रूप हैं, अन्त में न समाप्त होने वाला दुःख ही इनसे मिलता है", यह समझ मनुष्य के अन्दर टिकी रह जाये तो वह रोग निवारण के लिये कड़वी औषधि के समान संयम, नियम और थोड़ा वस्तुओं के सुख को त्यागने के दुःख को तपस्या रूप से अपनाकर अपने जीवन में ही इन सब को ढाल लेगा। इससे सधा हुआ या साधा गया मन अन्त में सब दुःखों से पार होकर आत्मा के नित्य सुख को प्राप्त कर लेगा।

बिन सत्य जाने चाहे करो परिहार,
मन परन्तु पड़ा रहे तृष्णा के ही द्वार।
जहाँ इसकी वस्तु होगी, वहीं मन जाये;
उसी की ही सोचता अभाव में रुलाये।।

। १७१ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में तो संसार में बांधने वाली तृष्णा की चर्चा थी और तृष्णा के राग द्वेष आदि बन्धन सब

शूल का कारण बताये गये। अब इस पद्य में सब की जड़ अविद्या बतलायी जा रही है; जिस अविद्या के परिहार (त्याग) करने पर आत्मा की प्राप्ति होगी।

पद्यार्थ :- जैसे कि रोग आदि के कारण से वैद्य या डॉक्टर किसी वस्तु का सेवन बन्द करवा देता है तो मनुष्य को उसका परिहार (त्याग) करना पड़ता है। परन्तु मन तो उनके सुख की चमक बार-बार बिजली के समान चमका कर उन्हीं पदार्थों की ओर खींचता और प्रेरित करता रहता है। यही मन तृष्णा के द्वार पर पड़ा रहता है। इसी प्रकार वृद्धावस्था या रोगादि के क्लेश या दुःख के कारण भी मनुष्य इन विषयों के संग का सुख त्याग देता है। वृद्धावस्था में पदार्थों के सेवन की शक्ति नहीं रहती। शक्ति के न होने पर उन विषयों के सेवन से मरण तुल्य कष्ट होता है या दुःख आन पड़ने का भय होता है परन्तु मन से इनकी तृष्णा नहीं छूटती। मन उनके बिना दुःखी होता है और उन्हीं के चिन्तन में खोया-खोया ज्ञान-शून्य सी अवस्था या अविद्या में रुला रहता-रहता मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि केवल विषयों का संग छोड़ देने से समस्या का हल नहीं होगा अर्थात् उनकी तृष्णा का दुःख नहीं टलेगा। किन्तु ध्यान द्वारा खूब पीछे बीते हुए जीवन को याद करके और दूसरे के जीवन को भी ध्यान में लाकर यह ज्ञान या निश्चय उपजाना पड़ेगा कि जिन विषयों के त्याग से हम दुःखी हो रहे हैं वह दुःख (रोगादि) केवल उन विषयों के सेवन से और उनके सुख की तृष्णा के बढ़ने से ही हुआ है। बनी और बसी बैठी तृष्णा अधूरी रही तो शोक और मन के खेद को ही उपजाती है और मन

को दूसरी दिशा या किसी अन्य ओर लगने भी नहीं देती। ज्ञान चिन्तन में भी यही विघ्न डालती है। मनुष्य को उसी बीते सुख में भुलाये-भुलाये मारती है। यही सब अविद्या का राज्य है। इस अविद्या को प्रज्ञाओं का सत्य ही नष्ट करेगा और मन को जगत् के बन्धनों के चंगुल से छुड़ायेगा। इसलिये इन विषयों के सुख की चमक केवल छलने वाली थी और अब भी छलती जा रही है। रोग आदि के कारण या अशक्ति के कारण से इनका सेवन तो बन्द कर दिया परन्तु मन में तो उनके सुख की चमक ही बसी है और पुनः-पुनः उन्हीं के सुख पाने की ओर मन झुक रहा है। जब ऐसा ज्ञान मन में हो जायेगा कि यह केवल सुख रूप में दुःख ही है इसलिये इनका त्याग थोड़ा दुःख पा करके भी करने से महासुख की प्राप्ति होगी। ऐसे ज्ञान के साथ यदि इनका परिहार (त्याग) किया जाये तो सब तृष्णा की समाप्ति होगी। अब यही मन तृष्णा के बन्धन या चंगुल से छूटने पर आत्मा का सुख प्रकट करने का अवकाश देगा और यदि यह न हुआ तो यह उसी तृष्णा के द्वार पर पड़ा हुआ उन्हीं तृष्णा की वस्तुओं को ही याद करता रहेगा। क्योंकि जहाँ तृष्णा की वस्तुएं हैं, वहीं मन भटकता है। अन्त में उन्हीं के बारे में सोचता रहेगा, परन्तु रोग या शक्ति क्षीणता (कमजोरी) के कारण से उनके संग के काल्पनिक सुख को तो पा नहीं सकेगा केवल उनकी सोचों में ही खोया रहेगा। यही अभाव में रुलना है अर्थात् उन्हीं की याद में ज्ञान शून्य सा हुआ-हुआ समय व्यतीत करेगा। यह अधिक समय तक कैसे चलेगा ? क्योंकि ज्ञान मनुष्य की आत्मा है। इसी ज्ञान के साथ ही जीव जीवन को सुख

卐卐

रूप पाता है और ज्ञान भी हर समय बना हुआ रहना चाहिए। इसी का नाम सत् चित्त् है। यही ज्ञान सदा सुख रूप से प्रकट होता है। सोचों में खोये हुए और अभाव में रुले हुये प्राणी को कभी भी इसका सुख नहीं मिलता परन्तु दुःखों में भी समय व्यतीत नहीं होता। इसलिये सत्य ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा इस विषय सुख की तुच्छता, दुःख रूपता को महसूस (अनुभव) करके इससे मन को सदा के लिये मुक्त कर दे। मुक्त हुआ मन आत्मा के आनन्द रूप, सदा बसे रहने वाले ज्ञान को प्रकट और व्यक्त कर देगा। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अन्य कुछ भी पाने की इच्छा नहीं रहती, न कुछ जानने करने की इच्छा रहती है। सब जानना करना केवल सुख पाने के लिये है और दुःख को टालने के लिये ही है। जब आत्मा में ही तृष्णा के समाप्त होने पर आँख खुल गयी तो सब दुःख भी टल गये और सदा बना रहने वाला सुख भी प्राप्त हो गया।

जो करे प्रकट प्रज्ञा संग की बुराई,
तृष्णा के बल की होगी इसी से पिटाई।
क्षीण जो हुई तृष्णा तो हो प्रज्ञा का प्रसाद;
पदार्थों के न होने का रहे न विषाद।।

। १७२ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में कहे गये अर्थ को ही यह पद्य स्पष्ट समझने के लिये अन्य प्रकार से निरूपण करता है।

पद्यार्थ :-जिन विषयों का सुख मन को अच्छा लगता है, उनका संग करने की मन की सदा इच्छा बनी रहती है। इन सब विषयों के संग की दुःख रूप बुराई को यदि

ध्यान से उत्पन्न होने वाली सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा प्रकट करे तो इस संसार की तृष्णा का जितना भी बढ़ा हुआ बल है वह क्षीण होने लग जायेगा। यही तृष्णा का बढ़ा हुआ बल मनुष्य को बाध्य (लाचार) करके उसके ज्ञान को भी सुलाकर पुनः-पुनः विषयों की ओर ही ले जाता है। यदि प्रज्ञा या सत्य का ज्ञान अर्थात् इनकी दुःखरूपता का प्रत्यक्ष प्रकट ज्ञान मन में जागता रहे तो इससे तृष्णा की पिटाई होती रहती है अर्थात् यह ज्ञान ही तृष्णा को बाहर निकाल देता है। जब तृष्णा क्षीण हो गयी, नहीं रही तो यह सत्य का ज्ञान भी मन में प्रसन्नतापूर्वक बैठ जाता है अर्थात् पहले-पहले तो सत्य ज्ञान से विषयों का त्याग तो होता है परन्तु यह त्याग मन की प्रसन्नता के साथ नहीं होता। मन थोड़े विषाद (प्रसन्नता से विपरीत मन की अवस्था) या खेद के साथ ही इस सत्य ज्ञान को धारण करता है, क्योंकि तृष्णा का बल अभी क्षीण नहीं हुआ। यह मन में गुप्त रीति से छिपा बैठा रहता है। जब बार-बार ज्ञान को जगाकर विषयों का दुःख स्वरूप प्रकट करते रहे तो यह तृष्णा का बल पिट-पिट या घिस-घिस कर अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) हो जायेगा। जानता समझता हुआ कौन जन मारने वाले विष को खायेगा ? न समझता हुआ तो भले विष का पान करके उसके दुःख को प्राप्त हो। इसलिये बिना विषयों के सुख की बुराई समझे इसका त्याग पूर्ण बल वाला नहीं हो सकता । जब तृष्णा क्षीण हो गयी तो यह सत्य ज्ञान जो विषय को दुःख रूप बता रहा है वह बड़ी प्रसन्नता के साथ मन में बैठा हुआ, जब-जब विषय

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

तृष्णा मन में जागेगी, उसको प्रसन्नता के साथ मुस्कराता हुआ, उनके छल को समझता हुआ आराम से त्याग देगा। तब इन पदार्थों के त्याग का या न होने का खेद या विषाद या प्रसन्नता कुछ भी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में आत्मा पर कोई अज्ञान का पर्दा नहीं रहेगा और आत्मा आनन्द रूप से प्रकट रहती हुई सदा बने रहने वाली तृप्ति को बनाये रखेगी। यह परम पद की प्राप्ति है।

वस्तुओं के रखने में सही हो प्रमाद,
बिना ज्ञान त्यागने से छाये है विषाद।
जो प्रतिष्ठित प्रज्ञाओं की हो कृपा अपार;
सन्तुष्ट होवे निज में जाये भव सागर के पार।।

। १७३ ।

भूमिका :- गत पद्य में सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा द्वारा वस्तुओं के संग की दुःख रूप भलाई प्रकट होने पर काम, क्रोध, लोभ, चिड़चिड़ापन और दुःख में अधीरता आदि जो तृष्णा के बल अर्थात् तृष्णा के जो सेवक हैं, इनकी पिटाई बतलायी गयी थी।

इससे विषयों का सुख देने वाली वस्तुओं को रखने की कोई आवश्यकता भी नहीं रहती, यह गत पद्य में कहा गया था। इस पद्य में विषय सुख को देने वाली वस्तुओं को रखने में दोष भी बताया जा रहा है तथा बिना ज्ञान के इन वस्तुओं को त्यागना भी दोष के सहित है। इसलिये ज्ञान द्वारा ही संसार की सब वस्तुओं का त्याग करके अपनी आत्मा की शान्ति खोजनी चाहिए अर्थात् संसार की वस्तुओं की आसक्ति व तृष्णा नहीं रखनी चाहिए।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

पद्यार्थ :- आत्मा की परम शान्ति खोजने वाले व्यक्ति को सांसारिक वस्तुओं के स्वामित्व (मालिकपने) से भी निवृत्त होना चाहिए। इस स्वामित्व को पुत्रादि या और किसी निकट सम्बन्धी को अर्पण करके स्वयं शरीर धारण के लिये जितना आवश्यक है, उतने से ही आत्म शान्ति या आत्म प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए। इससे अधिक जो कुछ भी अपने प्रबन्ध में रखेगा उससे मोक्ष मार्ग में या आत्मा की शान्ति के मार्ग में प्रमाद (चलने में ढिलाई) ही होगा। परन्तु यदि बिना ज्ञान के त्यागेगा तो मन की प्रसन्नता न रह कर उल्टा विषाद अर्थात् त्यागने का खेद ही होगा। यदि ध्यान द्वारा इन वस्तुओं की उलझन, खेद, तंगी इत्यादि को महसूस करेगा और इनकी देह धारण में आवश्यकता भी महसूस नहीं करेगा तो पुनः त्याग दुःख रूप नहीं होगा। यही प्रज्ञाओं (सत्य का ज्ञान) की कृपा है। इससे मन त्यागने पर भी सन्तुष्ट होगा और संसार में होने या बने रहने का जो सागर है उसके संकट से भी पार हो जायेगा।

संसार में यदि कुछ भी जरूरत से अधिक अपने अधिकार में रखा जायेगा तो उसकी सम्भाल के लिये कई प्रकार से कुछ का कुछ होना पड़ता है। यही बहुत प्रकार से किसी का मित्र होना, किसी का वैरी होना, किसी की चापलूसी करने वाला होना, कहीं शंका वाला होना, कहीं भय वाला होना, कहीं कई प्रकार के चिन्तन वाला होना और पुनः कुछ न कुछ कई प्रकार की योजनाएं बनाने वाला होना और पुनः उनको पूरा करने के लिये कई प्रकार के उग्र कर्म करने वाला होना। कई प्रक को दुःख

卐卐卐

देने वाला भी होना और कुछ अपनों को सुख देने वाला भी होना। पापी या पुण्यवान् होना। यह सब होने (भव) का सागर है। इससे वही जन पार उतरेगा जो ज्ञान द्वारा संसार की वस्तुओं को त्याग कर आत्म प्राप्ति का साधन करेगा और अन्त में आत्मा में ही सुखपूर्वक टिकाव प्राप्त करेगा।

मन को अच्छा लागे सो बढ़ाये रोग और शोक,
पर मन को ही लगाये जो अच्छा, कौन लगाये रोक ?
तब ध्यान चिन्तन से अपने मन को सत्य सुझाय;
प्रज्ञा के नाम से मुनिजन इसी ही को गाय।।

। १७४ ।

भूमिका :- इस पद्य में संसार की वस्तुओं से निवृत्त होने के लिये युक्ति बतायी गयी है।

पद्यार्थ :- संसार की वस्तुओं को मनुष्य इसलिये एकत्रित करता है कि वे थोड़े से सुख को दिखलाकर मन को अच्छी लगती हैं। इसी को शास्त्र में शोभनाध्यास (भ्रान्ति से शुभ प्रतीत होना) कहा है। जो यह मन को अच्छा लगता है वह समय पाकर पहले रोगों को बढ़ाता है पुनः रोगों द्वारा दुःख देकर शोक को बढ़ाता है। पुनः समय पा कर उसका अच्छापन भी कहीं दिखलाई नहीं पड़ता। जो प्राणी इस मन के अच्छा लगने के अनुसार पुनः दुःख आदि बनने पर फिर भी इन वस्तुओं को मन में अच्छी लगा-लगा कर सेवन करने में प्रमाद या ढिलाई करे तो फिर उसको कौन रोक सकता है ? रोकने वाला तो स्वयं इन वस्तुओं के दुःख को देखकर अपने आप ही हो सकता था। परन्तु थोड़े सुख के प्रलोभन (लालच) से

इनके दुःख को भूलकर फिर भी इन वस्तुओं को मन में अच्छा लगाता जाये तो यह मन कभी भी उनके चंगुल से व दुःख से नहीं छूट सकेगा। इसलिये मनुष्य को चिन्तन अर्थात् वस्तुओं के दोषों का चिन्तन करते-करते ध्यान द्वारा वस्तुओं के सत्य को सामने लाना चाहिए और सदा इस सत्य का मन में भान बना रहे। इसी का नाम प्रज्ञा मुनियों ने गाया है। इस प्रज्ञा द्वारा ही सब वस्तुओं से बाहर और अन्दर से छुटकारा प्राप्त होगा और आत्मा में प्रतिष्ठित सुख, शान्ति और सदा बने रहने वाला टिकाव प्राप्त होगा। पुनः संसार में मन बहलाने के लिये या 'मैं' का भाव पाने के लिये भटकना नहीं पड़ेगा।

इस पद्य में 'ध्यान व चिन्तन से अपने मन को सत्य सुझाय', का तात्पर्य विशेष करके यह जानने का है कि यदि व्यर्थ की असमय निद्रा आदि से मन को संभाल कर ध्यान या विचार में लगाया जायेगा तो इससे ऐसे-ऐसे सत्यों का ज्ञान होगा जिनसे कि कई एक प्रकार की शिक्षायें प्राप्त होंगी और मन स्वयं अपने भलाई के रास्ते पर चलने को उत्साहित होगा और सन्मार्ग पर बने रहने के कष्ट या दुःख को भी गिनती में नहीं लायेगा। ध्यान या विचार बिना ये सत्य छिपे ही रहते हैं और मनुष्य जन्म के मिथ्या विश्वासों में पड़ा-पड़ा मिथ्या मार्ग पर ही बने रहने में अपना सुख मानता है। उत्तम ध्यान या विचार द्वारा सत्य तक पहुँचने में असमय निद्रा के समान सांसारिक दृष्टियां, व्यर्थ की इच्छायें, क्रोध, संशय भी ध्यान और विचार को सुचारु (भली) रीति से नहीं होने देते। इनसे मुक्त होने के

卐卐

लिये आसन पर बैठकर एकान्त में यत्न करते रहना भी सन्मार्ग पर चलने की ही दिशा में अग्रसर करेगा।

जन संग, विषय संग कर के त्याग,
बसे जो एकान्त, ध्यानी होये महाभाग।
अबोध और संस्कार करें जो आक्रान्त;
प्रीति और प्रसाद जाये उपेक्षा हो भ्रान्त।।
। १७५ ।

भूमिका :- पूर्व पद्य में वस्तुओं के त्याग की चर्चा थी। अब इस पद्य में त्याग से किस प्रकार से आत्मा के मार्ग पर चला जायेगा, यह बतलाया जा रहा है और मार्ग के कुछ विघ्नों को भी दर्शाया गया है जिससे कि इनको हटाकर पूर्ण रीति से अपने आप में (आत्मा में) शान्ति प्राप्त की जा सके।

पद्यार्थ :- जिस प्रकार संसार के विषयों का संग त्याग करना है उसी प्रकार संसार के प्राणियों का भी अनावश्यक संग त्याग करना चाहिए, तब एकान्त में वास किया जायेगा। एकान्त में वास करने पर पुनः वह संग त्याग करने वाला पुरुष ध्यान करने की योग्यता प्राप्त करेगा। इससे वह महाभाग (उत्तम भाग्य वाला) होगा। क्योंकि ध्यान द्वारा उसको सत्य रूप आत्मा में प्रतिष्ठा (टिकाव) प्राप्त होगी। यही उस पुरुष का महाभाग्य होगा परन्तु इस मार्ग में यह अड़चन उपस्थित होती है कि जो मन पहले जग के प्राणियों में और पदार्थों में समय व्यतीत करता था वह एकान्त में अकेला पड़ जाने पर प्रथम ज्ञान शून्य सा अपने आपको अनुभव करेगा। यही उसकी अबोध की दशा

है। क्योंकि पहले संसार की वस्तुओं में और प्राणियों में उसका ज्ञान व बोध सदा प्रवाहित (बहता) होता रहता था। इसी में उसका मन लगा रहता था। जब इनको त्याग कर एकान्त वास करेगा तो यह पहले वाला बोध तो मिलेगा नहीं। इसी का नाम अबोध है। ज्ञान शून्य सी अवस्था और कोई सत्य की प्रज्ञा रूप ज्ञान भी नहीं है। इसलिये यह शून्य अवस्था रूखी सी लगने पर मन ज्ञान रूप आत्मा की भूख वाला पुरानी वस्तुओं के और सम्बन्धी प्राणियों के संस्कार जगा-जगा कर मन को भड़काता रहेगा। यह अवस्था कोई सुख देने वाली नहीं है। इससे हो सकता है कि साधक पुरुष का मन इस अवस्था को हटाकर पुनः संसार में ही सुख देखे और उधर की ही आकांक्षा या तृष्णा जगाये। क्योंकि यह एकान्त में अबोध में पड़े रहना और उन्हीं वस्तुओं के संस्कारों को जगा कर उन वस्तुओं की या पुराने जीवन की स्मृतियां (याद) जगा-जगा कर समय व्यतीत करना इस पुरुष को अच्छा न लगे। इसके साथ मन की प्रसन्नता भी न रहे और समय को बिताना भी कठिन हो जाये। इसी कारण से फिर कोई दूसरा संसार का ही मार्ग लेने को मन भ्रान्ति में पड़ जाये। यह सब इस मार्ग के विघ्न हैं और वस्तुओं का त्याग करने पर मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं।

इस पद्य में अप्रीति शब्द से एकान्त वास, ध्यान आदि का अच्छा न लगना सूचित किया गया है। इसी प्रकार तब मन में प्रसन्नता का न होना व रहना 'प्रसाद जाय' शब्द समुदाय द्वारा सूचित किया गया है। वैसे ही जो एकान्त में वस्तुओं या प्राणियों का वियोग प्रतीत हो रहा है और उनके

卐卐

त्याग का दुःख प्रतीत पड़ रहा है उसे मन अपने संवेदन में लाये बिना (महसूस किये बिना) नहीं रह सकता। यही सब पद्य में 'उपेक्षा हो भ्रान्त' शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है।

भानु भासे बोध का, या क्षण मन में,
जीवन की प्रीति खोयी, तत्क्षण आये।
लुप्त जो प्रसाद वह भी फिर से सुहाये;
व्यर्थ के विषाद को दे उपेक्षा भुलाये।।

। १७६ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में यह चर्चा थी कि आत्म साक्षात्कार के लिये थोड़ा संसार की वस्तुओं के संग से और सुख देने वाले प्राणियों के संग से भी उचित मात्रा में निवृत्त होने की आवश्यकता है। परन्तु इनसे निवृत्त होने पर मन में प्रीति और प्रसन्नता नहीं रह पातीं और मन में प्रसन्नता से विपरीत विषाद (प्रसन्नता से विपरीत मन की अवस्था) या खेद ही रहता है। इसके कारण से यह निवृत्तिमय जीवन और एकान्त में वास करना भारी सा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में पुराने संस्कार जगा-जगा कर जीव पुनः पुरानी वस्तुओं और प्राणियों के संग की ओर ही झुका रहता है। वहीं उनकी प्रसन्नता और प्रीति मन में जलती रहती है और त्यागने में खेद, विषाद ही प्रतीत होता रहता है। ऐसी अवस्था में आत्म साक्षात्कार या स्थायी सुख कैसे हो सकेगा ? इसी सब समस्या का समाधान (हल) आगे के पद्य में बताया जा रहा है।

पद्यार्थ :- जब मन में सत्य ज्ञान रूप बोध का सूर्य उदय होगा तभी उसी क्षण में सब अज्ञान का अंधकार नष्ट

हो जायेगा और जो कुछ भी पीछे विघ्न बताये गये हैं वे सब टल जायेंगे। साधना के मार्ग पर लगे रहने वाली प्रीति भी उपज जायेगी जो पहले खो गयी थी और जो मार्ग में चलने का प्रसाद (प्रसन्नता) है वह भी फिर से शोभा देने लगेगा। व्यर्थ में जो मन चिन्ता में पड़कर खिन्न या दुःखी रहता था कि 'किस प्रकार से आत्म मार्ग में स्थिर रहा जायेगा', उस शोक चिन्ता से भी छुटकारा मिल जायेगा अर्थात् उसके बारे में शोक, चिन्ता आदि की उपेक्षा कर देगा अर्थात् उससे मन हट जायेगा। इस पद्य का भावार्थ यह है कि संसार में आदतों से घूमने वाला मन उन विषयों में और जन की संगत में रंगा हुआ होने के कारण उन्हीं में प्रीति प्रेम वाला होता है। उसी में प्रसन्नता वाला होता है। दूसरी ओर से उसकी उपेक्षा रहती है अर्थात् दूसरी ओर का उसे विचार तक भी नहीं होता।

परन्तु अब यह सब संसार का जन संग और विषय संग वाला जो कुछ भी जीवन है, जब यह दुःख रूप होने लगता है और इसका सुख तो दिखता नहीं तब तो यह अपने आप ही छूटने की ओर चल पड़ता है। ऐसी अवस्था में यदि गुण समझकर मनुष्य अपने विवेक द्वारा इसको त्यागे और त्यागने के सुख को पहचाने और न त्याग करने के रोग, शोक आदि के दुःख को भी समझे तो उसे जन संग और विषय संग त्यागना भारी प्रतीत (महसूस) नहीं होगा और यदि कभी महसूस हो भी तो आसन ध्यान में बैठ कर वह इस विषय सुख की और मिथ्या जन संगत की दुःख रूप बुराई को अपनी बुद्धि द्वारा प्रकट मन के सामने लाये। यही उसका बोध रूपी भानु (सूर्य) होगा।

इस बोध रूपी सूर्य के उदय होते ही इस त्यागमय जीवन में प्रीति उत्पन्न हो जायेगी। क्योंकि बोध द्वारा मनुष्य को यह ज्ञान हो जायेगा कि यदि त्याग से नहीं रहा जायेगा तो दूसरा संसार के विषय के संग का जीवन तो अनन्त दुःख देने वाला ही होगा। उसका दुःख भोगते-भोगते समय भी व्यतीत नहीं होगा। इसलिये उनमें पुनः इस दुःख दर्शन से प्रीति भी नहीं रहेगी और उनमें मन प्रसन्नता (प्रसाद) भी नहीं समझेगा। प्रत्युत् (विपरीत इससे) त्यागमय जीवन में कम से कम विषयों के संग वाले जीवन से जो दुःख बढ़ना था वह तो नहीं बढ़ेगा। इसलिये त्यागमय जीवन में प्रीति बनी रहेगी। इसी बोध के कारण से और सत्य के प्रकट ज्ञान रूप बोध से होने वाली प्रेरणा से मनुष्य स्वयं त्याग और एकान्त में ध्यान वाले जीवन को ही भला समझेगा, इसी जीवन को चलने में मन प्रसन्नता का अनुभव करेगा। क्योंकि इससे अन्य जो विषय सुख का जीवन है उसमें तो दुःख ही दीखने से उधर चलने में अधिक दुःख का भय या शंका ही रहेगी। उस जीवन को बनाये रखने में प्रसन्नता नहीं होगी।

इसी प्रकार जो कुछ त्याग रूप जीवन या निवृत्तिमय जीवन के पथ पर चलने में पहले-पहले थोड़ी कठिनता भी प्रतीत होती है उससे मनुष्य पहले विषय सुख की ओर झांकता है। जब विषय सुख में सुख से अधिक और कई गुना अधिक दुःख, शोक और चिन्ता ही लदी हुई नजर आये तो पुनः विषयों के सुख की ओर मन झांकना भी नहीं चाहेगा, उनसे उपेक्षा ही हो जायेगी। यही उपेक्षा पुनः इस साधक पुरुष को आत्म ज्ञान की ओर और सब संसार के

दुःखों की मुक्ति की ओर क्रमशः अग्रसर करेगी। यह सब ध्यान से ज्ञान उपजाकर जीवन को संभाल कर चलने का मार्ग है। यह नहीं तो संसार का ही मार्ग दुःख रूप अन्त में हाथ लगेगा।

इस सारे पद्य का तात्पर्य यह है कि साधन मार्ग में लगे हुये प्राणी को संसार के संस्कार संसार की ओर ही घसीटते हैं। जब मनुष्य के मन में सांसारिक जीवन की बुराईयां दुःख, शोक रूप में मन के सामने प्रकट हो जायें तो उस मुक्ति के मार्ग की साधना में प्रीति, प्रसन्नता बनी रहेगी और दूसरे संसार के सुखों की ओर से उपेक्षा हो जायेगी अर्थात् उधर मन झांकना भी नहीं चाहेगा।

आगे के (१७७-१८० तक) पद्यों में विचार को एकान्त स्थान में दृढ़ आसन पर बैठकर, समुन्नत (विचार को जगाना) करके जीवन और जगत् के सत्यों को पहचानने की प्रेरणा की गयी है। उन्हीं सत्यों का ज्ञान 'प्रज्ञा' शब्द द्वारा कहा गया है। इन सत्यों को पाने पर यह अपने ही प्रकार के उत्तम जीवन और पवित्रता की प्रेरणा देंगे। मनुष्य को एकान्त में बैठकर जन समुदाय के व्यर्थ संग में न पड़कर दृढ़ आसन पर अपने मन को व्यवस्थित (कायदे के) विचार में लगाना है। तब मिथ्या निद्रा या आलस्य (सुस्ती) के आराम को स्वीकार न करते हुए, तथा मिथ्या समुदाय की बातों और विषयों के बारे में दृष्टियां (नजरें) न बनाते हुए, उन्हीं की इच्छा और वहाँ के संशय और क्रोध आदि को रोककर मन को जिन विचारों में लगाना है यही सब आगे के पद्यों में बतलाया गया है। ऐसी अवस्था में जगत् की कामना शक्ति प्रकट होकर मन को उधर ही

खींचेगी। उसी का नाम 'मार' है। उससे बचने का यत्न बनाये रखना और उसको अपने में और सब में पहचान कर अपने कर्तव्य का भी विचार और निश्चय करना। इसी एकान्त के आसन ध्यान से बहुत सी शिक्षायें प्राप्त होंगी। उन्हें जीवन में उतारने की प्रेरणा और उत्साह भी प्राप्त होगा। तब सब में रहते हुए भी एकान्त का जीवन प्राप्त होकर अन्त में आत्मा (अपने आप) में ही टिकाव या स्थिरता का स्थायी सुख भी होगा।

जो सम्यक् प्रज्ञाओं की ले सक्यो न शरण,
निश्चय प्रसरित (निज) जाल में उसको 'मार' फंसाये।
यद्यपि धैर्य के व्रत कोई धारे आमरण;
पर मार से दुर्गत वह सुख कबहुं न पाये।।

। १७७ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में बोध द्वारा ही संसार की प्रीति और प्रसन्नता छूटने पर मोक्ष मार्ग में प्रीति और प्रसन्नता दर्शायी गयी है। अब इस पद्य में उसी बोध को अन्य प्रकार से भी उपयुक्त बताया गया है अर्थात् अन्य प्रकार से बोध का प्रयोजन बताया गया है।

पद्यार्थ :- जो व्यक्ति ठीक (सही) ज्ञान रूप बोध की शरण ले सकने में असमर्थ है उस व्यक्ति को संसार में ही बनाये रखने वाला जो काम (मार) है, वह अपने बड़े लम्बे चौड़े फैलाए हुए जाल में फंसा देता है। इसको ही मार शब्द से कहा गया है। यही मार या जगत् में ही सदा बनाये रखने वाला जो काम है वह संसार के ही अधिकार या विषयादि के सुख, स्वामित्व (मालिकपना) आदि के सुख दिखाकर संसार में ही प्रेरित करता रहता है जिसमें

संघर्ष, वैर, विरोध और लड़ाई झगड़े इत्यादि-इत्यादि का न समाप्त होने वाला संसार बसा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञाओं का सहारा न ले तो यह मनुष्य के मन के अन्दर ही बसा हुआ प्रकृति का काम रूप जीव सब संसार के प्राणियों को संसार के ही संघर्ष में धंसाये रखने के लिये प्रेरित करता रहता है और सब प्राणियों को भी संसार में ही बना रहना अच्छा लगता है। इससे हटने में या मुक्ति पाने में प्रीति भी नहीं उपजती और प्रसन्नता भी प्रतीत नहीं होती चाहे (भले) यह कितना भी दुःख रूप हो। यह मन में बसे रहने वाला काम देव या मार मनुष्य को इससे निकलने में प्रसन्नता और प्रीति नहीं बनने देता। इसलिये ध्यान द्वारा यदि मनुष्य बुद्धि को चेतन करके इस संसार के सत्य को पहचाने तभी बलपूर्वक इस काम या मार रूप शक्ति के फैलाए हुए जाल से बलपूर्वक निकाला जा सकता है। यह ज्ञान रूप बोध (प्रज्ञाएँ) मन में प्रकट होकर मनुष्य का धैर्य बनाये रखेगा। दुःखों का सामना होने पर भी मोक्ष या कल्याण के मार्ग का यत्न बनाये रखेगा। नहीं तो धैर्य टूटने लगता है। बिना सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा के धैर्य नहीं टिकता। चाहे कोई व्यक्ति मरण पर्यन्त भी मोक्ष मार्ग में धैर्य को थामना चाहे तब भी बिना सत्य ज्ञान या बोध रूप प्रज्ञाओं की शरण लिये या सहायता प्राप्त किये कभी भी टिक नहीं पायेगा। क्योंकि बिना सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा के बल के, संसारी काम (इच्छा, मार) मनुष्य को संसार में आकर्षण दिखाकर उसी संसार में ही बने रहने का भाव बनाये

रखेगा। परन्तु उस संसार में उसे दुःख ही मिलेगा। इस प्रकार वही काम दृष्टि (नज़र) तो संसार के सुख में ही रहेगी परन्तु हाथ लगेगा दुःख ही। सुख के लिये प्राणी बढ़ेगा परन्तु पायेगा दुःख ही। इस प्रकार जीव सदा दुर्गति को ही प्राप्त होगा। सुख कभी भी नहीं पायेगा।

इसलिये सम्यक् (सही) प्रज्ञायें अर्थात् सत्य ज्ञान की शरण रखता हुआ जो बुद्धि बल को रखेगा वह काम के जगत् में आकर्षण की इसी बुद्धि बल द्वारा परीक्षा करेगा कि जिधर सांसारिक काम (मार) सुख दिखाकर खींचता है, क्या वहाँ सदा बने रहने वाला सुख है ? यह परीक्षा करने पर बुद्धि या बोध अपना निर्णय (फैसला) विपक्ष में ही देगा और सुख के स्थान पर संसार में न समाप्त होने वाला दुःख ही दर्शायेगा। तभी मनुष्य धैर्य को थामकर इस सांसारिक दुःख से यत्न करके भी मुक्ति की ओर अग्रसर होगा। यत्न में लगेगा तभी सब प्रकार की दुर्गति से बच पायेगा। इसलिये सत् ज्ञान रूप प्रज्ञा की परम आवश्यकता है। उसी के निर्णय के अनुसार मनुष्य को जीवन बनाने और साधने का नाम प्रज्ञाओं की शरण है। इसी से ही सांसारिक काम रूप मार के जाल से छुटकारा मिलेगा।

बिन सम्यक् ध्यान के प्रज्ञा हो न कबहुँ प्रकट,
बाहिर विषयों के क्षेत्र में, तृष्णा ध्यान रुलाये।
सह ले भरपूर जन तब सब संकट विकट;
अभाव में दुर्भर क्योंकि जीवन न सुहाय।।
। १७८ ।

भूमिका :- पिछले पद्य में यह दर्शाया गया था कि

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

बिना प्रज्ञाओं की शरण लिये जगत् के काम के जाल से बचना असम्भव है। यह जो संसार में बनाये रखने वाली शक्ति सब जीवों में रहती है इसको भी ध्यान द्वारा प्रकट हुई-हुई प्रज्ञाएँ ही बताती हैं। इसी शक्ति को मन में समझकर, प्रकट रूप से प्रभाव जमाती हुई पहचानकर हर समय साधक पुरुष इसके जाल से बचने के लिये मन में सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा को बसाये रखे और जगाये रखे एवं संसार से निकलने का जो कष्ट है या तृष्णा के मार्ग को और विषय सुख को त्यागने का दु:ख है उसको ज्ञान द्वारा सहन करने का धैर्य बनाये रखे। इसी अर्थ को आगे का पद्य स्पष्ट करता है।

पद्यार्थ :- पीछे जो 'प्रज्ञाओं की शरण' चर्चा में आयी है वह सही ध्यानों बिना उपजायी नहीं जा सकती। सही ध्यान वे हैं जो कि संसार से मुक्त करवाने वाले हैं और सही से विपरीत मिथ्या ध्यान वे हैं जो संसार के सुखों को पाने के लिये और वैर, विरोध, लड़ाई-झगड़ों में सफलता पाने के लिये और मन में काम सुख पाने के लिये अनन्त योजनाएं बनाने के लिये होते हैं। इन सब से विपरीत संसार के जाल से निकलने के लिये मन को एकाग्र करके वस्तु को सही रूप से जानने व समझने का जो यत्न है वही सब सम्यक् (सही) ध्यान है। इन सही ध्यानों बिना प्रज्ञा (सत्य ज्ञान) या बोध कभी भी प्रकट नहीं होता। क्योंकि बाहर विषयों के क्षेत्र में तृष्णा ध्यान को रुलाये रखती है और वह मिथ्या ध्यान ही होते रहते हैं। जो जन इस तृष्णा के सुख को त्यागने का विकट संकट खूब सहन कर ले अर्थात् न तो इस में मन का भाव बिगड़ने पाये और

न सही वस्तु को बताने वाली बुद्धि ही उलझन में पड़े तो यही बुद्धि बोध या सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञाओं को देगी।

यह ठीक है कि जब सुख की वस्तुओं को त्यागा जाता है और उनके दुःख स्वरूप को समझकर मन को हटाया जाता है तो मन ज्ञान शून्य सा हुआ-हुआ या खाली जैसा पड़ा प्रतीत होने लगता है। ऐसे अभाव या अविद्या की अवस्था में जीवन कठिन सा प्रतीत होने लगता है। थोड़ा दुःख भी महसूस होता है। परन्तु यदि इसी दुःख को साक्षी रूप से रहकर अर्थात् बिना चलायमान हुए इसी दुःख में ही दृष्टि जमाकर थोड़ा समय व्यतीत कर दिया जाये तो स्वयं इस दुःख के कारण दृष्टि में आने लगेंगे। जब इनमें दृष्टि खुल जायेगी तो बोध या ज्ञान प्रकट होने लग जायेगा। मन खाली (अभाव वाला) नहीं रहेगा उनमें जीवन की घटनाओं की स्मृतियां (यादें) भी आने लगेंगी और उन से शिक्षा भी मिलने लग जायेगी। सुख देने वाली वस्तुएं दुःख देने वाली करके समझ में आने लगेंगी। इस प्रकार ज्ञान का दीपक जलने पर मन आत्मा में ही टिक जायेगा।

इसका तात्पर्य यह है कि जब मन विषयों से टलकर पहले खाली सा प्रतीत हो तो उसमें मन नहीं लगता और दुःख का अनुभव होता है। इस दुःख को झांकता (अनुभव) हुआ कांटे की चोभ के समान या अग्नि से जले अंग के दुःख के समान सहन करता हुआ कुछ समय व्यतीत करे और खाली मन में दुःख क्या है इसी की खोज करने पर उस साधक पुरुष को विचार द्वारा अपने जीवन को परखने पर प्रतीत होगा कि यह सब खाली मन का दुःख विषयों के सुख की तृष्णा के कारण से ही है। मन उन्हीं सुखों की

ओर खिंचा हुआ है। खिंचा हुआ होने के कारण से ही अपने आप में नहीं लग रहा और उन्हीं की प्रतीक्षा करता हुआ सन्नाटे में पड़ा हुआ है और इन्हीं विषयों का सुख सदा बनाये भी नहीं रखा जा सकता। यह सब सुख, रोग शोक आदि दुःखों का कारण होने से और इन सुखों का समय भी न रहने से सदा बनाये भी नहीं रखा जा सकता। समय परिवर्तन के स्वभाव वाला है। बाल्यकाल, यौवन आदि बीत जाने पर बहुत से सुख समाप्त ही हो जाते हैं। यदि उन्हें विषयों के संग से बनाये रखना चाहेंगे तो वे रोगादि से भयंकर दुःख रूप ही सिद्ध होंगे। इनमें ध्यान को रुलाना केवल बुद्धिहीनता का ही चिन्ह है। इसलिये इनके (विषय सुखों के) वियोग के दुःखों को सहन करना और कांटे की चोभ के समान अनुभव करते-करते समय व्यतीत करना ही उचित है। परन्तु तृष्णा के दबाव से उन सुखों की ओर बढ़ना केवल अधिक दुःखों को ही बढ़ाना है। ऐसे ज्ञान से यदि केवल चुपचाप शान्तिपूर्वक दुःख को देखते गये तो यह मन दुःख से अति तीव्र होकर इस दुःख को स्वयं शून्य अवस्था में ही बुझा देगा। जैसे निद्रा सब दुःखों को अपने में समेट लेती है, इसी प्रकार दुःख के सहन करने से तीव्र हुआ-हुआ मन शक्तिशाली होकर जागते-जागते ही सब दुःखों को अपने अन्दर ही समाप्त कर देगा। यही दुःखों से छुटकारा (मुक्ति) है। ऐसे दुःख से छुटकारा होने पर केवल अपना आपा ही मीठा लगने लग जाता है, चाहे वह किसी प्रकार से खाली ही रहे। चाहे न भी सोचे, न भी कुछ समझे तब भी आनन्द रूप से

卐卐

प्रकट होता है। यही सच्चिदानन्द आत्मा का साक्षात्कार है।

नहीं धर्म्य अभाव है अभाव मृतक,
उपयुक्त वस्तु के संग को न कोई हटाये।
पर प्रमाद से जो होवे चूक शतक;
उससे नर्म में रत हो, जन साधन गंवाये।।
। १७६ ।

भूमिका :- ऊपर के पद्य में अभाव (मन का खालीपना) के दुःख को भरपूर सहन करने के लिये कहा गया है और उस दुःख के तृष्णा रूप कारण को सहन करते-करते ही परिहृत (त्याग) कर देना भी दर्शाया गया है। अब यह नीचे का पद्य इस अभाव के दुःख को सहन करने के लिये अन्य प्रकार से प्रेरित कर रहा है।

पद्यार्थ :-यह जो मन के खालीपन रूप अभाव का दुःख है वह दुःख देखते-देखते सहन करते रहना प्रयोजन वाला है। इसलिये धर्म रूप से प्राप्त होता है। यह अभाव रूप दुःख कोई मृतक (निर्जीव) दुःख नहीं है अर्थात् बिना प्रयोजन के अभाव रखना रूप दुःख नहीं है। यह दुःख का सहन फल वाला है। अभाव में मन को टिकाने के लिये यह सहारा है। यह अभाव जो ऊपर कहा गया है वह तृष्णा के सुखों का त्यागना रूप अभाव है। विषयों को मन से चिन्तन न करने से मन खाली जैसा प्रतीत होगा। यही यहाँ 'अभाव' शब्द द्वारा सूचित किया गया है। यह 'अभाव' या मन का शून्य रखना केवल किसी वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण से नहीं; वह तो 'न होने' के कारण से मन मारना रूप हुई। इसे ही यहाँ 'मृतक अभाव' कहा गया है।

परन्तु भाव और संकल्प पूर्वक मन को विषयों से खाली रखना किसी उद्देश्य (प्रयोजन) के लिये होने से सजीव है या उत्तम जीवन रचने के लिये प्रयोजन वाला है। यह कोई दोषपूर्ण नहीं है। इसमें मन को भांपना चाहिए। जितना देह को धारण करने के लिये उपयुक्त वस्तुओं का संग है उस संग को हटाने का तात्पर्य नहीं है। केवल मिथ्या सुखों की तृष्णा की वस्तुओं को ही हटाना है। उन वस्तुओं के हटाने से जो मन खाली सा दीखेगा वही यहाँ अभाव शब्द से कहा गया है। ऐसे अभाव में ही मन दुःखी होता है। इस दुःख को टालने के लिये यदि मनुष्य वही तृष्णा की वस्तुएं देकर मन को प्रसन्न करेगा तो ठीक है मन खाली तो नहीं रहेगा और खालीपने का दुःख भी थोड़े समय के लिये टल जायेगा; परन्तु इस प्रकार न जाने इस मन को प्रसन्न करने के लिये कितने विषय देते ही रहना पड़ेगा और उनके क्षण-क्षण के सुख को उपजाकर मन को भरे रखना पड़ेगा और लगाये रखना पड़ेगा। यदि इनसे रोगादि का भयंकर दुःख उत्पन्न होने लगेगा तब भी तो इन्हें छोड़ना ही पड़ेगा। यह दुःख जो पीछे उत्पन्न होकर सब विषयों को छुड़ायेगा, उस दुःख को पहले ही ज्ञान, विवेक द्वारा समझ कर टाला जाये और मन के खालीपन का दुःख झेलने में धैर्य रखा जाये तो प्रमाद नहीं होगा। अर्थात् मोक्ष मार्ग में ढिलाई नहीं बरती जायेगी। और यदि इन छोटे मोटे सुखों का लोभ नहीं छूटा तो ये सब मनुष्य की सैंकड़ों चूकें अर्थात् त्रुटियां (गलतियां) ही होंगी। ये सैंकड़ों चूकें जिस थोड़े सुख के कारण की जा रही हैं वह मन की अल्प काल बने रहने वाली प्रसन्नता ही है जो कि सारे साधन

मार्ग को नष्ट करने वाली है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिन विषयों के सुख से भविष्य में अनन्त दुःख आ पड़ना है उस दुःख से बचने के लिये विषयों के सुख को त्यागने के और त्यागने से खाली मन होने के दुःख को कांटे की चोभ के समान देखते-देखते टाल दे तो यह मन का खालीपन बनाना और बना करके सम्पूर्ण दुःख को समझकर टाल देना धर्म स्वरूप हो जायेगा। इससे टलना या बचना प्रमाद (धर्म के मार्ग में ढिलाई) रूप समझा जायेगा। केवल मन की अल्पकाल की प्रसन्नता के लिये कल्याण के मार्ग का साधन खोना उचित नहीं है।

यहाँ पद्य में 'नर्म में रत हो जन साधन गंवाये' का तात्पर्य यह है कि यदि कहीं कोई सत्संग या धर्म की पुस्तकों में पढ़कर अपने आप को संयम या ध्यान में लगाना भी चाहे तो निद्रा आलस्य का सुख विघ्न में पड़ने पर, या इच्छाओं के अधूरा छूटने से दुःख होने पर मनुष्य स्वयं या अपने में उत्साहहीन होकर अपने मन में 'नर्म' या हंसी मजाक के भाव से यह समझ बैठता है कि यह मेरे वश का रोग नहीं है। और ऐसा भाव बनाकर पुनः अपनी आदतों के मार्ग पर ही चलकर मोक्ष या कल्याण के साधन को खो बैठता है। इसलिये साधना में विघ्नों के पड़ने पर हतोत्साह न होवे और पुनः-पुनः चूकों या गलतियों में न पड़े और अपना साधन सम्भाल रखने का यत्न बनाये रखे। यही सब इस नीचे की पंक्ति का भाव है।

ॐ इति प्रज्ञा वर्ग ॐ

卐卐

卐 अथ आत्म निरीक्षण वर्ग 卐

देखो ! अकेले में यह है किसकी सोचता ?
जैसा है सम्मुख क्यों इसे वह न रोचता।
ढका इसका सुख, संस्कारों से क्या मिले ?
हुआ वह अतीत क्यों न सत् की राह चले।।
। १८० ।

भूमिका :- पिछले दो पद्यों में तृष्णा के वेग को रोकने का सुझाव दिया गया था जिससे कि समय पाकर मनुष्य को 'तृष्णा का कितना भारी दुःख है' ?, यह सत्य ज्ञान द्वारा प्रकट होता है। जिससे कि तृष्णा से अत्यन्त मुक्ति पाने की प्रेरणा और उत्साह मनुष्य को प्राप्त होता है। अब इस (नीचे के) पद्य में इसी तृष्णा के वेग को रोकने की प्रेरणा अन्य प्रकार से दी गयी है।

पद्यार्थ :- साधक पुरुष एकान्त में आसन पर स्थिर होकर बैठने पर या अन्य समय में भी अपने मन को थोड़ा-थोड़ा पहचानता रहे कि यह अपने आप में अकेले में क्या-क्या सोचता है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसा भी इसको वर्तमान क्षण में सम्मुख आन पड़ता है वह क्यों रुचिकर नहीं है। किन्तु कुछ पुरानी सुख वाली आदतों को पूरा करने में ही मन झुका हुआ है। साधक पुरुष के सम्मुख तो अपने आपको संयम में रखकर पुरानी व्यर्थ की आदतों के मिथ्या और हानिकारक सुखों को रोककर अपने आप में ज्ञान उपजाना है और उन सब मिथ्या सुखों के संस्कारों से निवृत्त होकर आत्मा में टिकाव पाने का यत्न करना है। परन्तु इस अभ्यास में उसका मन पहले

पहल लगेगा नहीं। साधक पुरुष ने अपने सम्मुख तो इसी अभ्यास को रखा है। इसी को पूर्ण करना है। पुराने संस्कारों के सुख की यादें आकर इसको व्यर्थ मिथ्या सोचों में डाले रखना चाहेंगी। इसका तात्पर्य यह है कि पुरानी आदतों का सुख जो ढका हुआ है और मिल नहीं पा रहा है, उसी की मन सोच करता रहता है। ऐसी दशा में साधक पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी मिथ्या सोचों या विचारों में पड़ा रहकर खिन्न या दुःखी मन से समय व्यतीत न करता हुआ विचार करे कि वे पुराने संस्कारों के सुख समय के अनुसार पहले समयों में ही थे। वह भी अधिक कल्पना मात्र में ही थे। सदा बने रहने वाले तो थे नहीं। उनकी दासता (गुलामी) केवल दुःख और शोक ही उत्पन्न करने वाली थी। जब यही सत्य है तो इन सुखों की सोच में अब समय व्यतीत क्यों करना ? वे तो बीत चुके। अब वे मिलने के तो हैं नहीं और मिलने पर अनर्थ ही उत्पन्न करेंगे। उनका जो आकर्षण मन में बना हुआ है वह राग रूप तृष्णा ही है। इसको पूरा न करके थोड़ा दुःख सहन करता हुआ इस राग और तृष्णा को सत्य ज्ञान उपजाकर तृष्णा पूर्ति के भयंकर परिणामों को समझता हुआ सदा के लिये इन से मुक्ति प्राप्त करे।

जब पुराने सुखों के संस्कार मन में स्फुरित न होंगे तो समझो कि यह तृष्णा समाप्त हो गयी। इससे मुक्ति पाते ही मन और बुद्धि आत्मा में टिकाव प्राप्त कर लेंगे और सदा बनी रहने वाली शान्ति शुद्ध ज्ञान रूप आत्मा में प्राप्त हो जायेगी। यही सच्चा मार्ग है। इसी की शरण लेना

उचित है। जो सुख बीत चुके हैं वे समय के अनुसार नहीं रहे तो उनकी यादों में खोये रहना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, यही इस पद्य का भाव है। और सुखों की स्मृतियों (यादों) में न रहने पर केवल मन की अवस्थाओं को समझने के लिये मन को जगाते रखना; निद्रा या आलस्य का सुख भी ऐसे अवसरों पर उचित मात्रा में त्याग कर सत्य की खोज में मन लगाने से जान पड़ेगा कि सब दुःख तृष्णा की बिना विचार के पूर्ति करते जाने से ही जन्मे और बढ़े हुए हैं। इसलिए अब इसी तृष्णा की पूर्ति न करते हुए, अर्थात् इसका विषय न देकर, इसकी अपूर्ति का दुःख ही स्थिर और धैर्य युक्त मन से देखते-देखते सह लेना चाहिए। दुःख सहन करते-करते स्वयं बुद्धि उपजेगी, सब सत्य स्वयं प्रकट पहचानेगी। तब मन उत्साह के साथ इसमें नित्य प्रति लगे-लगे अपने को कृत-कृत्य मानेगा।

सम्यक् श्रुत को नहीं अराधा,
और भद्र तपश्चर्या न करी।
सम्यक् प्रबुद्ध को वह कैसे जाने ?
उन्हें सूझे क्या ? उनके जन की।। ।१८१।

भूमिका :- गत पद्य में तृष्णा के सुख का निरोध (काबू करना) करने की प्रेरणा थी। जीव के सहज स्वभाव से संसार की तृष्णा छूटना नहीं चाहती। जीव को संसार में बने रहने की तृष्णा बनी रहती है और ऐसा बल करती है कि मनुष्य दुःख पाने पर भी संसार के मार्ग में ही चलने के लिये उत्सुक रहता है, उससे निकलने का मन ही नहीं बनता। ऐसी अवस्था में यह पद्य महापुरुषों के मार्ग की

स्मृति करवाता हुआ मनुष्य को प्रेरणा देता है कि उसे महान् पुरुषों के मार्ग को समझने का यत्न करना चाहिए और उनके दर्शाये हुए अनुभवपूर्ण मार्ग पर बने रहने का यत्न करना चाहिए और उन्हीं के समझे हुए सत्य को अपने मन में जंचा कर उन्हीं के मार्ग पर चलने का पहली अवस्थाओं का अल्प कष्ट भी स्वीकार कर लेना चाहिए।

पद्यार्थ :- पूर्व महान् पुरुष जो अपने आप में पूर्णता प्राप्त कर गये हैं उनकी जीवनी और उनका अपनाया हुआ मार्ग धर्म ग्रन्थों में कई प्रकार से वर्णन करने में आया है। उनके उसी मार्ग को ग्रन्थों द्वारा सुनकर जो हम समझते हैं उसी का नाम श्रुत (जैसे कि सुना गया है) है। जैसा कि हमने सुना है उसी को भली प्रकार समझ कर यदि अपने आचरण में लाएं तो यही इस श्रुत की भली प्रकार से (सम्यक्) आराधना है। इसी के निमित्त जो आदतों का व्यर्थ का सुख त्यागने का अल्प दुःख है उसको ज्ञानपूर्वक और बुद्धिपूर्वक सहन करके कड़वी औषधि के समान स्वीकार करना चाहिए। इसका नाम भद्र (कल्याणकारी) तपश्चर्या है। इससे अन्य अधिक शीत, ऊष्ण (सर्दी, गर्मी) सहन करना, बहुत कम खाना, या कई-कई दिन न ही खाना या निद्रा का भी अति मात्र त्यागना, बिल्कुल मौन व्रत ही धारण करना इत्यादि कठिन तपस्यायें हैं। ये मोक्ष मार्ग में उपयोगी नहीं हैं।

इच्छापूर्वक अपनी भलाई के लिये किसी भी दुःख के खेद को सहन करना या स्वीकार कर लेना और इसी में अपनी भलाई समझना या मानना, यही कल्याण को देने

卐卐

वाली तपश्चर्या है। जब तक ऐसी (कल्याणकारी) तपश्चर्या (तप का आचरण) नहीं की जायेगी तब तक उन महान् पुरुषों का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और उनके मार्ग के सत्य का भी प्रकाश आत्मा में नहीं हो सकेगा तथा जो उन महान् पुरुषों के मार्ग पर चलने वाले हैं उनके जीवन का भी कोई ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि उनका जीवन तो सन्मार्ग की चलाई का ही है। वैसी ही चलाई करने पर समझ में पड़ेगा।

ऊपर कहे का तात्पर्य यह है कि महान् पुरुषों के जीवन को यदि जानना है तो थोड़ा विषयों के मिथ्या सुख के त्याग का कष्ट सहन करके स्वयं अपने में ही महान् पुरुषों के चले मार्ग को पहचाने और अपने आपको प्रेरित करता रहे कि जैसे वे अपने आप को कष्ट में धारण करके भी सम्यक् (भली प्रकार से) बोध को प्राप्त करते थे उसी प्रकार मुझे भी अपने आप को कष्ट में धारण करना है और भली प्रकार से बोध को प्राप्त करना है जिससे कि सब बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होकर आत्मा में स्थाई शान्ति प्राप्त हो।

सम्यक् (भली प्रकार) प्रबुद्ध पुरुष (जगे और सम्भले हुए पुरुष) ही दूसरों को भली प्रकार से अपने जीवन के ज्ञान द्वारा प्रेरित करते हैं। जो सब प्रकार से ज्ञान में पूर्ण होकर, पूर्ण रूप से सब संसार की तृष्णा को त्यागकर जीवन काल में ही, सब अवस्थाओं में तृप्त और सन्तुष्ट रहते हैं, वही सम्यक् प्रबुद्ध हैं अर्थात् भली प्रकार से जगे हुए हैं। जो उनके मार्ग पर चलने वाले हैं वही उनके जन

卐卐卐

हैं। जो मनुष्य स्वयं भी थोड़ा विषयों के सुख के त्याग के कष्ट को सहन करके अपने आगे से आगे जीवन को समझता जायेगा वह भी अन्त में इन्हीं के मार्ग पर आरूढ़ होकर संसार के सब दुःखों को पार कर जायेगा और आत्मा में स्थाई (सदा बने रहने वाली) शान्ति को पायेगा। ऐसा व्यक्ति ही पूर्व में भली प्रकार से प्रबुद्ध हुए-हुए व्यक्तियों को समझ सकेगा और उनके मार्ग पर चलने वाले को भी समझ सकेगा। दूसरा व्यक्ति केवल उनकी जीवन कथा पढ़ने से उनको कभी भी नहीं समझ सकेगा। क्योंकि उनके जीवन पर चलने का कष्ट उसने सहन नहीं किया। इसलिये श्रुत की (सुने हुए की) भली प्रकार से आराधना या युक्ति नहीं की।

आगामी पद्य की भूमिका :-महान् पुरुषों के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में सन्तुष्ट रहना ही सीखता है, भले ही वह अल्प कष्ट की अवस्था ही क्यों न हो। यह नहीं कि वह दुःख में सुख की कामना करे या आदतों के अल्प सुख के त्याग का दुःख मानकर मोह में पड़ा रहे। इसी सत्य को आगामी पद्य प्रकट करता है।

ध्यान तथा आसन के अनुकूल भोजन करना, अधिक न खाना, अधिक निद्रा और व्यर्थ के वार्तालाप में समय व्यतीत न करना, हिंसा, चोरी, झूठ और दुराचार के पापों से बचना, पुनः मन के भावों को भी शुद्ध रखना, आँख, कान आदि इन्द्रियों को भी यथा योग्य सम्भालना आदि के आचरण करने में आदत का सुख तो विघ्न में पड़ेगा, परन्तु इस दुःख में भी मन को स्थिर रखना आदि

महापुरुषों का मार्ग है। इनके दुःख को सहर्ष स्वीकार करना ही उनकी कल्याणकारी तपश्चर्या है। इसी सब से मन ध्यान, ज्ञान के योग्य होगा।

जैसा मैंने मुझ को पाया, उसकी कछु कही न जाये।
जैसा भी मैं हूँ न दूसरा; उससे अन्य मुझे न भाये।।
। १८२ ।

पद्यार्थ :- बुद्धिपूर्वक त्याग के मार्ग पर और आत्मा के संयम के मार्ग पर आरूढ़ होने वाले व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य यही होता है कि जैसा वह अपने आपको समय-समय पर कष्ट आदि में पाता है तो वह दुःख को प्रकट करने के शब्द न तो अपने आप में बोलता है और न ही दूसरों को कुछ कहता है। यह सब कहने योग्य भी नहीं है। किन्तु आत्मा में या अपने आप में भविष्य की सदा बने रहने वाली भलाई तो दुःख को मन में रखते हुए सहन करने में और धैर्य रखकर सत्य को समझने में मन को जगाये रखने में ही है न कि बालक के समान बाहर के विषयों का या व्यक्तियों का सहारा लेकर अल्प सुख पाकर दुःख को भूल जाने में।

इस पद्य का तात्पर्य यह है कि जैसे साधक पुरुष अपने आप को समय-समय पर कष्ट में पाये, उस कष्ट को किसी के लिये प्रकट न करे और न उस कष्ट को दूसरों के सहारे से दूर करके अपने आप को सुखी बनाने में रुचि रखे। यही महान् पुरुष किया करते थे व हर अवस्था में वे अपने आप में ही बने रहने का अभ्यास करते थे। इससे दूसरे प्रकार की बाह्य साधनों के संग से होने

卐卐

वाली सुख की अवस्थाएं उनको कभी भी नहीं भाती थीं। अपने में दुःख भी भला, किन्तु बाह्य साधनों का सुख उनको अपने ज्ञान में अनर्थकारी ही दीखता था। प्रत्येक साधक पुरुष को ऐसा ही अपने मन का भाव रचना चाहिए। यही इस पद्य का तात्पर्य है।

आगामी पद्य की भूमिका :- जो पूर्व पद्यों में कहे गये भाव के अनुसार अपने आप को नहीं साध पाते वे जन संसार के ही सुखों के साधनों को एकत्रित करते रहते हैं और उन्हीं की उलझन में अधिकाधिक दुःखी होते जाते हैं। वे अपनी भलाई का जो सच्चा मार्ग है उस पर कभी भी आरूढ़ नहीं हो पाते। इस सत्य के मार्ग का उनको ज्ञान तक भी नहीं हो पाता और न ही उस पर चलने की शक्ति ही बन पाती है। इसी भाव को नीचे का पद्य दर्शा रहा है।

उन्नति के एक तरफ लग रहे ऊँचे ढेर,
छाये रहा दूजी दिशा, केवल घना अन्धेर।
या में सत्य भासा नहीं, न अन्त भले का नाम;
ऐसा जीवन आयेगा भला क्या किसी के काम ?
। १८३ ।

पद्यार्थ :- जो मनुष्य संसार में महान् पुरुषों के दर्शाये मार्ग पर नहीं चल सकते वे संसार में ही सफलता प्राप्त करने के लिये नित्यप्रति यत्न में लगे रहते हैं। वे बाह्य उन्नति को प्राप्त होते हैं तथा धन, अधिकार, ऐश्वर्य आदि सुख साधनों को प्राप्त कर जाते हैं। यही उनकी उन्नति का ढेर है। परन्तु इससे वे सदा सुखी नहीं रह सकते।

प्रत्युत् (वरन्) इन्हीं की रक्षा इत्यादि की चिन्ता में सदा व्यस्त रहते हुए मन को अन्धकार में ही डाले रखते हैं। बाह्य सुख साधनों की चिन्ता वाला मन आत्मा से दिनों दिन दूर होता हुआ घोर अन्धकार में ही पहुँच जाता है जिससे कि आत्मा का सत्य, आनन्द रूप से कभी भी नहीं भासता। इस अनन्त ज्ञान रूप, सुख रूप आत्मा के विज्ञान बिना अन्त भलाई प्राप्त नहीं की जा सकती। जब ऐसी अन्त की भलाई (कल्याण) की प्राप्ति जीवन में न की गयी तो यह जीवन किस काम का ? यद्यपि संसार के सुख और उसके साधन तो बहुत जुटाये गये; उनके ढेर लग गये, परन्तु उनका सुख बना न रहने से तो मनुष्य एक ऐसे वन में खोये हुए के समान हो जाता है जो कि न इधर का रहा और न उधर का ही; अर्थात् जिन साधनों को इकट्‌ठा किया उनका सुख तो वृद्ध अवस्था और रोगादि ने छीन लिया; और उन सुख साधनों की रक्षा की चिन्ता में व्यस्त और खोया हुआ मन बाहर जगत् में ही विचरता रहने लगा और अपने आप में घोर अन्धकार ही छाया रहा अर्थात् आत्मा का सुख भी प्रकट न हुआ। इस प्रकार न सांसारिक सुखों का सहारा रहा और न उस व्यक्ति के लिये आत्मा को स्थाई सुख शान्ति ही रही। इस प्रकार से ऐसा व्यक्ति दोनों ओर से खोया जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि बाह्य साधनों से जो सुख मिलता है वह अन्त में भला नहीं रहता और जो अन्त में अनन्त (बेअन्त) भला रूप होता है, ऐसा आत्मा का सुख रूप से साक्षात्कार बाह्य सुख-साधनों की उन्नति में खोये

हुए प्राणी को कभी भी नहीं हो पाता। तो ऐसे व्यक्ति का जीवन व्यर्थ में ही जाता है क्योंकि सदा बने रहने वाली सुख शान्ति उसे कभी प्राप्त नहीं होती। इसके बिना जीवन व्यर्थ खोया या गंवाया हुआ ही समझा जाता है। यही इस पद्य का भावार्थ है।

पद्य के पूर्वार्ध का अन्य अर्थ :- जिन के पास बाह्य सुख साधन हैं वे जन तो उन्हीं के चक्रों में पड़े सदा दुःखी रहते हैं। और जिन के पास ये सुख साधन नहीं हैं वे भी यदि विचार शून्य मन से संसार में रहते हैं तो उन्हें इन बाह्य सुख साधनों के न होने का शोक और दुःख होता है। उनकी बुद्धि में इन संसार के सुखों की बुराई नहीं झलकती। उन की ऊपर-ऊपर से दिखलाई देने वाली चमक में ये जन भी भूले-भूले अन्धकार में अपना जीवन खोते हैं। इन सांसारिक पदार्थों का कई एक को तो होने का दुःख है परन्तु कई एक को तो इनके न होने का ही दुःख है। ये सांसारिक पदार्थ स्मृति में बसे हुए हर प्रकार से दुःखी ही करते हैं। जिनके पास उन्नति के ढेर लग रहे हैं वे उनसे दुःखी, और दूसरी ओर जिनके पास ये नहीं हैं वे अन्धकार या अज्ञान में पड़े-पड़े इनके न होने से दुःखी। इन सब को आत्मा का सत्य कभी भी नहीं भासता।

जो विद्या का सुख है, स्व स्वामी को,
वह न सारे जगत् के इक राज्य में है।
और एकान्त में जो है ध्यान का सुख;
वह न खान में, पान में मान में है।। ।१८४ ।

पद्य की भूमिका :- गत कई एक पद्यों में यह दर्शाया

卐卐卐

गया था कि संसार के मिथ्या सुख की तृष्णा से मुक्ति पाने के लिये सही ज्ञान की आवश्यकता है। इस ज्ञान द्वारा सब जगत् का बन्धन टलने पर आत्मा का नित्य सुख पहचानने में आयेगा। यह आत्मा का साक्षात्कार है। इसके बिना जीवन की सफलता भी नहीं है। सांसारिक उन्नति भले कितनी भी हो जाये तब भी मनुष्य का दुःख, पूर्ण रीति से इस आत्म ज्ञान बिना, कभी भी नष्ट नहीं होगा। इस ज्ञान के साथ अपने आप में सदा तृप्ति बनी रहती है। इसी सत्य को आगे का पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- जो मनुष्य अपने आप का स्वामी है अर्थात् अपने आप को पूर्णतया वश में रखने वाला है, उसका सुख सबसे उत्तम है। ऐसा सुख सम्पूर्ण जगत् के एक राज्य को प्राप्त करने पर भी नहीं हो सकता। यह सुख मनुष्य को अपने आप में ही एकान्त में प्राप्त होता है और ध्यान द्वारा ही इसका पूर्ण अनुभव होता है। ध्यान में इसी आत्म ज्ञान या आत्मा की विद्या का ही सुख है। जैसा सुख सब बन्धनों से मुक्त होकर अपनी आत्मा को जानने से प्राप्त होता है वैसा सुख उत्तम पदार्थों के भोजन से या पीने के बहुत स्वादिष्ट पदार्थों के सेवन से भी प्राप्त नहीं होता और न ही व्यक्ति को मान आदि पाने पर ऐसा सुख मिलता है। यह आत्मा का ज्ञान (या विद्या) मनुष्य को अपने आप का स्वामी बनने पर ही प्राप्त होता है अर्थात् देह, इन्द्रियां, मन और बुद्धि को सुख दुःख आदि में संयम में रखकर सदा निष्पाप और निष्कलंक जीवन साधने पर ही प्राप्त होगा। यही इस पद्य का तात्पर्य है।

卐卐

न भद्र ही दुःख का अति वर्जना,
भला वैसे न सुख का अभिगमन।
राग-द्वेष दो अन्त में बाढ़ें;
बोध से हान हित तप है शमन।। ।१८५।

भूमिका :- गत पद्य में स्व स्वामी को या अपने आप को पूर्णतया वश में रखने वाले को ही आत्मा की विद्या और एकान्त में ध्यान का सुख बताया गया। अब आगामी पद्य में जिस प्रकार अपने आप को पूर्ण वश में रखना है उसकी नीति दर्शायी जा रही है।

पद्यार्थ :- जब साधक पुरुष अपने आप को विषयों से या सांसारिक सुखों से हटाने का यत्न करेगा तो उसको अल्प दुःख तो अवश्य प्रतीत होगा। जो व्यक्ति इस दुःख को स्वीकार न करके पुनः इस दुःख से बचने के लिये पुरानी आदतों के सुख के पीछे ही भागेगा तो उसकी संसार बन्धन से मुक्ति की आशा नहीं है। उसकी राग रूप तृष्णा बढ़ती ही जायेगी। क्योंकि वह दुर्बल मन वाला मनुष्य दुःख से भीरु (डरपोक) होकर पुराने सुख के पीछे भागता-भागता ही अपना जीवन समाप्त कर लेगा और जो संयम या विषय के त्याग का दुःख सहन कर सका और संसार के सुख के पीछे नहीं भागा तो उसका राग भी नहीं बढ़ेगा और त्याग इत्यादि के दुःख से द्वेष भी नहीं होगा। इस प्रकार राग द्वेष दोनों से रहित हुआ-हुआ मन अपनी आत्मा में ही शान्त रीति से टिकाव प्राप्त कर लेगा। जो दुःख से भागता है और सुखों के पीछे पड़ा रहता है उसकी अन्त में राग द्वेष के साथ संसार की उलझन बढ़ती ही

जाती है। रोग, शोक और व्यक्तियों के विरोध इत्यादि में ही जीवन समाप्त हो जाता है। इस संसार का सुख तो केवल कल्पना मात्र ही रह जाता है। अतः साधक पुरुष विवेक द्वारा अपने को सम्भाल कर रखे और सत्य ज्ञान या बोध जगा-जगा कर अपने मन को शान्त करता रहे। इस शान्त करने में जो कुछ खेद या तप या दुःख का अनुभव हो उसको सहर्ष स्वीकार करे और मन को विपरीत दिशा या सांसारिक सुखों की दिशा की ओर न जाने दे। यही मन को शान्त रखने के लिये तप है। इस पद्य का यह तात्पर्य है कि साधन के दुःख को प्रतीत करके सम्भव है कि मन उद्विग्न (खिन्न) होकर इस दुःख को टालने के लिये सांसारिक सुखों की ओर भागे। ऐसी अवस्था में (साधन के दुःख के भय में) सांसारिक सुख की प्रीति या राग की ओर सरकते मन को बोध द्वारा शान्त करना और शान्त करने के लिये थोड़ा दुःख रूप तप स्वीकार करना, यही उत्तम नीति है। इससे दोनों किनारों से टलकर मन मध्य में विचरण करेगा, न तो दुःख से अधिक भय मानेगा और न सुख में अधिक प्रीति ही करेगा। क्योंकि इन दोनों किनारों में जाने से तो राग द्वेष बढ़ेंगे और उससे संसार में ही भटकना पड़ेगा। इसी के दुःख को समझकर, इसी के बोध को जगा कर इन दोनों किनारों में भटकते मन को शान्त करना अर्थात् न तो साधन के दुःख से भय मानना और न ही सांसारिक सुख में प्रीति करना। इससे थोड़ा खेद या दुःख तो होगा परन्तु इन दोनों किनारों से टला हुआ मन अपने आप में या आत्मा में शान्त हो जायेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

ध्यान का सुख स्व में ज्ञान का सुख,
सुखों में सुख, सम्मुख विमुक्ति सुख।
पर प्रथम साधित हो साधन का धन;
करे अनुसरण जो अमलिन मन।। ।१८६ ।

पद्य की भूमिका :-पूर्व पद्य में बोध जगा-जगा कर अपने मन को प्रेरित करके सुख दुःख में शान्त रहने के लिये मार्ग दर्शाया गया अर्थात् मनुष्य साधन के दुःख से बचने की भी नहीं सोचता और सांसारिक सुख की ओर भी नहीं लपकता। इस प्रकार साधन में लगे हुए व्यक्ति को अपनी आत्मा में जो उत्तम सुख प्राप्त होगा, आगामी पद्य उसी की चर्चा करता है।

पद्यार्थ :-जो व्यक्ति साधन द्वारा अपने को सम्भाले रखता है उसको ध्यान में सुख होता है और अपने आप में ध्यान से होने वाले सत्य ज्ञान का भी सुख होता है और सब सुखों से उत्तम सुख उस व्यक्ति को सांसारिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्ति पाने का होता है। परन्तु यह सब ऊपर कहा हुआ सुख तब मिलता है जब देह, इन्द्रियां, मन और बुद्धि साधित हों अर्थात् साधना द्वारा मुक्ति के योग्य अवस्था को प्राप्त कर लें। यही सब साधन का धन कहा जाता है। देह द्वारा कोई अनुचित कर्म न हों; इन्द्रियां भी व्यर्थ विषयों के मार्ग में न भटकें; मन भी मिथ्या संकल्पों या उत्तेजनाओं और भावनाओं के वशीभूत न रहे और बुद्धि भी मिथ्या मित्र-वैरी और सुख दुःख आदि की दृष्टि बनाकर मिथ्या जगत् में ही बने रहने की प्रेरणा न करे।

卐卐卐

यही मुक्ति की योग्यता है। यह साधक का साधन रूप धन है। परन्तु यह धन तभी प्राप्त होता है जबकि सांसारिक सुख की मैल (मल) से रहित मनुष्य का मन अनुसरण करे अर्थात् साधक पुरुष का साथ दे। तब इसी मन द्वारा साधक पुरुष ध्यान में संसार के सुखों की भयंकरता पहचान कर और उस सुख में अपने ज्ञान द्वारा अनन्त दुःख देखता हुआ स्वयं अपने आप इससे मुक्ति पा कर अपने आपको कृत-कृत्य समझेगा। दूसरे सब प्राणी इस ज्ञान के बिना थोड़े सांसारिक सुख के शिकार होकर अन्त में भयंकर दुःखों में फंस जाते हैं। इन सबको बोधवान, ध्यान में कुशल व्यक्ति पहचानकर, अपने आपको इनसे मुक्त हुआ-हुआ देखकर सदा अपने आप में शान्त और तृप्त रहेगा। यही इस पद्य का तात्पर्य है।

धर्म और मोक्ष मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के लिये प्रतिदिन प्रातः व सायं अपने मन की जांच करने के लिये स्थिर आसन पर बैठना आवश्यक है। उस आसन पर वह अपने मन की दिन भर की चूकों को स्मरण करके आगे के लिये सुधार का संकल्प करेगा और समय पर स्मृति को ठिकाने रखकर पुनः चूकों से बचने का यत्न करेगा। मन, वाणी और शरीर आदि से कोई भी पाप न होने देने से उसका उन्नति का मार्ग भी चमकेगा। इससे अपने आप में जीवन धारण करने की योग्यता भी बढ़ेगी और मिथ्या सामाजिक बन्धनों से मुक्ति भी मिलेगी तथा ध्यान में योग्यता भी दिनों-दिन बढ़ती जायेगी।

卐卐

सब में छिपा पाप क्या है ?
सब अनर्थों का जो मूल।
अविच्छिन्न बना रहने की चाह;
शाश्वत 'मैं' के रूप में शूल।। । १८७ ।

पद्य की भूमिका :- गत कई एक पद्यों में सत्य ज्ञान या बोध द्वारा तृष्णा को दुःख रूप समझकर उससे मुक्ति पाकर आत्म ज्ञान पाने की कथा कही गयी थी। उस आत्म ज्ञान के सुख का ध्यान में साक्षात्कार सबसे उत्तम फल बताया गया। इसी आत्म साक्षात्कार के मार्ग में जो विघ्न करे उसी को पाप रूप समझा जाता है। इन्हीं पापों का फल ही संसार और संसार में अनन्त प्रकार के दुःख हैं। संसार का सुख भी आत्म साक्षात्कार के मार्ग में विघ्न रूप होने से पाप रूप ही समझा जाता है। इसी अर्थ को यह पद्य सूचित करता है।

पद्यार्थ :- किसी प्रकार के भी दुःख का जो कुछ कारण समझा जाता है उसे शास्त्र में पाप शब्द से कहा गया है। अब इन सब पापों में बड़ा परन्तु छिपा रहने वाला पाप जो सब अनर्थों का मूल (जड़) है वह है संसार में जीव का जन्म और सदा संसार में ही बने रहने की इच्छा। क्योंकि यदि संसार हुआ और उसमें जीव उत्पन्न हुआ तभी वह दुःखों का अनुभव करेगा। यदि संसार में जीव भाव न हो तो कोई दुःख भी न होगा। परन्तु संसार तब तक नहीं टल सकेगा जब तक कि संसार में कोई भी सुख, अधिकार आदि पाने की इच्छा बनी हुई है या इन्हीं के सुख आदि के लिये संसार में बने रहने की इच्छा बनी

卐卐
हुई है। यही इच्छा इस जीव को संसार में उत्पन्न करके रोग, शोक, विरोध, संघर्ष आदि की अग्नि में जलाकर नित्य शूल रूप में बनी रहेगी।

जब तक मनुष्य इस संसार में बने रहने का भाव बनाये रखेगा तब तक इस शूल की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य इसलिये सदा संसार में ही बना रहना चाहता है कि उसको जो सनातन (कभी भी नष्ट न होने वाला) चेतन स्वरूप आत्मा है वह दिखाई नहीं देता; साक्षात्कार करने में नहीं आता। तभी जीव संसार के राग द्वेष आदि के बन्धनों वाली जो 'मैं' का शूल है उसी को बनाये रखना चाहता है, क्योंकि कोई भी जड़, मूल से अत्यन्त नष्ट तो होना नहीं चाहता। सदा बने रहने का भाव तो बना ही रहता है। यही बने रहने का भाव मनुष्य को संसार में बार-बार जन्माता, मारता और दुःखों की अग्नि में जलाता रहता है। यदि मनुष्य अपनी आत्मा में ही ज्ञान पा जाये जो कि ज्ञान रूप तो है ही, तो उसे संसार में ज्ञान पाने के लिये अनन्त दुःखों के चक्र में क्यों पड़ना पड़े। यदि आत्मा में ही आत्मा का ज्ञान न मिला तो ज्ञान शून्य पत्थर जैसे तो कोई भी बना रहना चाहेगा नहीं। इसलिये इसी ज्ञान शून्य जड़ अवस्था से बचने के लिये यदि आत्मा का ज्ञान नहीं तो संसार के ही विविध चक्रों में कुछ का कुछ ज्ञान वाला होना पड़ता है। इससे भी जीव को अपने बने-बसे रहने का निश्चय बना रहता है। नहीं तो आत्म ज्ञान से शून्य जीव अपने को विनष्ट होता हुआ सा

卐卐

प्रतीत करने लग जाता है। साधारण जीव तो यह समझता है कि अत्यन्त नष्ट होने से तो दुःख के साथ भी बने रहने में भला ही तो है, अत्यन्त नष्ट होना तो ठीक नहीं। यही अविच्छिन्न (अटूट) 'मैं' को संसार में बनाये रखने का शूल है। यही सबसे बड़ा परन्तु छिपा रहने वाला पाप है क्योंकि इससे अनन्त दुःख रूप संसार ही मिलता है। इसी को शास्त्र में अभिनिवेश क्लेश का नाम दिया गया है। यह क्लेश तब तक बना रहेगा जब तक कि आत्मा का चेतन स्वरूप (पुरुष परमात्मा का नित्य स्वरूप) नहीं मिल जाता। उस स्वरूप में यदि जीव अपने सनातन भाव या नाश रहित भाव का साक्षात्कार कर ले तो फिर जीव संसार की आग में जलने के लिये संसार की 'मैं' को बनाये रखने की क्यों इच्छा करेगा। क्योंकि उस मनुष्य को अपना विनाश रहित स्वरूप साक्षात्कार करने में आ गया और उसमें संसार है ही नहीं। इसलिये वह मनुष्य अपने नाश के भय से कभी भी संसार में अपनी 'मैं' बनाये रखना नहीं चाहेगा तथा नित्य शूल से भी सदा के लिये विमुक्त हो जायेगा। यही इस पद्य का तात्पर्य है।

कभी न वह निज सुख के लिये बाहर झाँकता,
हर जो परिवर्तन अन्दर घटे उसको भाँपता।
बाहर के दुःख संकट में न कबहुं काँपता;
एकान्त में ही दान्त, शान्त सुख को आँकता।।
। १८८ ।

भूमिका :- गत पद्य में 'मैं' भाव से बने रहने वाला और 'मैं' को संसार में सदा बनाये रखने को शूल कहा

गया था। अब इस पद्य में उस शूल की निवृत्ति के लिये पीछे कहे गये सब साधनों के साथ-साथ साधक पुरुष को अपने आप में ही सदा बने रहने की आवश्यकता भी बतलाई जा रही है। अपने दुःखों को टालने के लिये बाहर संसार में भागने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होनी चाहिए। तभी वह हर समय आत्मा (अपने आप) में रहता हुआ आत्मा के नित्य चेतन स्वरूप (सुख रूप) से साक्षात्कार कर सकेगा। चाहे वह (साधक) दुःख में हो या सुख में हो, साधक पुरुष कभी भी संसार में दूसरों के बीच होने की इच्छा नहीं करेगा। उसका मन अकेले में भी संतुष्ट हो जायेगा, अपने आप में रमा रहेगा तथा संसार की याद तक भी नहीं करेगा। ऐसे व्यक्ति को संसार से अत्यन्त विमुक्ति जीवन काल में ही अनुभव में आ जायेगी। इसी सब अर्थ को नीचे का पद्य दर्शा रहा है; साधन रूप से प्रकट कर रहा है।

पद्यार्थ :- जो व्यक्ति साधनरत है, बाहर के सुखों में वैराग्यवान है और आत्म दर्शन के मार्ग पर चल रहा है; वह अपने सुख के लिये कभी भी बाहर जगत् के प्राणियों और पदार्थों की ओर नहीं झाँकता। बाहर के प्राणियों और पदार्थों के सुख की इच्छा होने पर उसके अनर्थ को समझता हुआ उस इच्छा को साक्षी रूप से धैर्य रखकर देखते-देखते ही निवृत्त करता रहता है। मन तो परिवर्तनशील है। यदि कोई इच्छा को स्वयं न बनाये रखना चाहे और उस इच्छा पूरी करने की तृष्णा रूप व्याधि के दुःख को समझकर ध्यान में स्थिर रहे तो मन

स्वयं बदलते-बदलते इच्छा को समाप्त करके इच्छा रहित अवस्था में भी आत्मा के सुख का अनुभव कर लेगा। परन्तु यदि इस इच्छा से वैराग्य नहीं हुआ और इसका दुःख ध्यान द्वारा प्रकट नहीं हुआ; इच्छा भली प्रतीत होती हुई टिकी रही, तब तो यह 'इच्छा' संसार में ही ले भागेगी और जन्मायेगी भी और मारेगी भी, तो 'मैं' के शूल से मुक्ति असम्भव होगी। यदि वैराग्य द्वारा दुःख रूप इच्छा को पूर्ण न करने के दुःख को देखते-देखते टाल सके तो इस इच्छा की निवृत्ति (टाल) होने पर आत्मा ही सुख रूप से प्रकट हो जायेगा और नित्य शूल भी टल जायेगा।

इसलिये अपने मन को झांकते हुए जो भी अन्दर के परिवर्तन दीखें, चाहे वे काम, क्रोध, चिड़चिड़ापन, शोक, भय, आलस्य-निद्रा इत्यादि कुछ भी अपने-अपने समय पर घटें, प्रकट होते जायें, उन्हीं को भांपता रहे अर्थात् उन्हीं पर दृष्टि रखें। ये आते भी रहेंगे और परिवर्तनशील मन से स्वयं निकलते भी रहेंगे। इनसे चलायमान न हो और पुनः इनके दुःख से बचने के लिये संसार में कुछ होने या बनने का भाव न बनाये। जो कुछ भी दुःख इसको होगा वह बाहर के सुखों की तृष्णा के कारण से ही होगा। वह दुःख भी बाहर संसार का ही है। जब संसार में होने का भाव नहीं रहेगा तो यह दुःख भी स्वयं ही शनैः-शनैः टलता जायेगा और आत्मा के सुख के प्रकट होने से पूर्व ही समाप्त भी हो जायेगा।

इस अन्दर के दुःख को साक्षी भाव से (साक्षी रहकर) अर्थात् केवल देखते रहने का भाव रखकर टालना है, न

卐卐

कि दुःख को हटाने के लिये संसार में कुछ करने कराने का भाव रखकर। वैसे ही यदि बाहर से भी किसी के कड़वा बोलने का, मान आदि भंग करने का या इच्छा के पदार्थ प्राप्त न होने का दुःख आ पड़े या रोग आदि से भी पीड़ा का समय प्राप्त हो तो ऐसे दुःख के संकट में भी साधक पुरुष कभी भी नहीं कांपता और बाहर के अत्यन्त आवश्यक काम जैसे क्षुधा (भूख) आदि की निवृत्ति के लिये बाहर के प्राणियों और पदार्थों की थोड़ी सहायता तो ले लेता है परन्तु अधिक करके अपने आप में ही एकान्त में सब इन्द्रियों को और शरीर को संयम (काबू) में रखकर मन को शान्त रखता हुआ दुःख के समय को व्यतीत कर देता है और अन्त में अन्दर के आत्म सुख को जो किं सारे संसार की उलझन से परे है, उसको पहचानता है और उसी में ही स्थिर हो जाता है। यह सब साधक पुरुष की जीवनचर्या है।

बदलते मन की हर हालत की पहचान,
आगा व पाछा, व परिणाम का ध्यान।
विद्याओं में विद्या कृति सम्पन्न ज्ञान;
जो इन को जाने वही पूरण विद्यावान्।।

। १८६ ।

भूमिका :- गत पद्य में संसार से पूर्ण मुक्ति पाने के लिये अपनी आत्मा में ही रहना रूप साधन बताया गया। उसमें कष्ट की अवस्था में भी अपने को धैर्य से धारण करने की चर्चा की गयी थी। इसी से मनुष्य का तपोबल बढ़ेगा। बढ़ा हुआ तपोबल साधारण दुःख पड़ने पर मनुष्य

को उस दुःख की निवृत्ति के लिये संसार में नहीं भागने देगा। परन्तु यदि यह तपोबल बुद्धिपूर्वक हो तो मनुष्य सदैव के लिये संसार की धारा में बहने से मुक्त हो जायेगा। इसलिये इस आगामी पद्य में ज्ञानपूर्वक इन्द्रियों का संयम आदि की तपश्चर्या का निर्देश (इशारा) किया गया है। यही तप सर्वश्रेष्ठ है जो कि मनुष्य को संसार से मुक्ति देने वाला है।

पद्यार्थ :- जैसे-जैसे मनुष्य का मन विविध (कई प्रकार की) अवस्थाओं से गुजरता है उन सब अवस्थाओं को मनोयोग द्वारा पहचानता रहे। मन की इन्हीं अवस्थाओं को पहचानने के लिये जो मन को बाहर से हटाकर, इसी मन को समझने के लिये, मन के साथ ही जोड़ना है; इसी का नाम मनोयोग है। इससे काम, क्रोध, लोभ, संशय, अधीरता, ईर्ष्या, द्वेष, राग, मान इत्यादि सब मन की दशाओं का मनुष्य को ज्ञान होने लगेगा और इनके साथ-साथ आगा पाछा के परिणाम (नतीजा) का भी ध्यान होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर कहे काम आदि को जानने की जो अवस्थाएं हैं उनको उत्पन्न करने वाला कारण (आगा) कौन है और इनका पाछा (अर्थात् कारण बनने पर उसके पीछे होने वाले उसी के कार्य) अर्थात् इन अवस्थाओं से कौन-कौन कर्म इत्यादि बनते हैं? इससे पाछे का भी ज्ञान होता है। इन सब कर्मों से जो कुछ भी परिणाम (नतीजा) सम्मुख आयेगा उस सब का भी मनोयोग (ध्यान) द्वारा मनुष्य को ज्ञान होगा। इससे मनुष्य को स्वयं प्रेरणा और उत्साह होगा कि मैं इन सब

अवस्थाओं से चलायमान होकर संसार में कोई भी ऐसा कर्म न कर बैठूं जिससे मुझे भविष्य में न समाप्त होने योग्य दुःख देखना पड़े और हो सके तो इन सब अवस्थाओं के कारण स्वरूप अविद्या, राग, द्वेष आदि और मिथ्या सांसारिक दुःख, सुखों की दृष्टि भी न बनने दूँ क्योंकि सुख दुःख इत्यादि की दृष्टि से ही काम, क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर आदि सब विकार उत्पन्न होते हैं और वही सब दुःख और अशान्ति की जड़ हैं। इसलिये इन सब को अपने आप में अल्प कष्ट या दुःख सहन करके भी, इन सब विकारों को और राग आदि बन्धनों को अपने आप में या आत्मा में ही रह कर शान्त कर दूँ। ऐसा उत्साह और प्रेरणा होने पर उसका ज्ञान, क्रिया (कृति) युक्त होगा। इसका तात्पर्य यह है कि केवल ज्ञान मात्र ही नहीं अर्थात् केवल समझना समझना ही नहीं परन्तु इन सब दुःखों की जड़ को समझकर उसी के अनुसार क्रिया युक्त होकर (अर्थात् जो करने के योग्य है उसको करके भी) और इस सारे अविद्या आदि बन्धन जो कि संसार में जीव को रुलाते रहते हैं, उन सब की जड़ काट दूँ। जब तंगी या कष्ट के सम्मुख पड़ने पर भी उसका ज्ञानपूर्वक यत्न मंद नहीं पड़ेगा तो एक दिन यही साधक पुरुष अपने आप में सब संसार के दुःखों की जड़ को शान्त करके सब दुःखों का अन्त करने पर अपनी आत्मा में सदा के लिए सुखी हो जायेगा। इसी यत्न सहित ज्ञान का नाम पद्य में 'कृति सम्पन्न ज्ञान' कहा गया है। जो इस ज्ञान से सम्पन्न है वही अध्यात्मशास्त्र में पूर्ण विद्यावान् या विद्वान् कहा जाता

है। इसका तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् (अध्यात्म विद्या वाला) स्वयं अपने ध्यान में संसार रूपी अनर्थ का मूल समझे और समझने के पश्चात् सब प्रकार के यत्न द्वारा इस संसार दुःख से पूर्णतया मुक्त होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो तो जानो कि वह इस अध्यात्म विद्या को पूर्णतया पा गया, क्योंकि उसने इस शास्त्र के सत्य को अपने आप में पूर्ण रूप से अनुभव कर लिया। इसलिये वही पूर्ण विद्वान् है जिसने शास्त्र के ज्ञान का फल भी पा लिया।

ॐ इति आत्म निरीक्षण वर्ग ॐ



卐卐卐

卐 अथ इच्छा दमन वर्ग 卐

इच्छा तो शाश्वत रहे, तृष्णा जा का नाम।
पूरी होन न पावती, रोग, शोक अन्जाम।। ।१६०।

भूमिका :- पिछले दो पद्यों में ज्ञानपूर्वक यत्न द्वारा दुःख निवृत्ति का मार्ग दर्शाया गया। आगामी तीन पद्यों में सांसारिक दुःख की जड़, संसार की तृष्णा या इच्छा का सदा बने रहने वाला प्रवाह ही दर्शाया गया है और जिस प्रकार यह मनुष्य के दुःख को रचती है उसकी सूचना दी गई है जिससे कि साधक पुरुष इससे जागने वाला बना रहे और इसकी दासता का शिकार न बन पाये।

पद्यार्थ :- संसार में बहते हुए प्राणी की संसार में सदा बने रहने की इच्छा बनी रहती है। यही संसार में बने रहने की इच्छा, तृष्णा रूप से समझी जाती है। परन्तु जितनी मात्रा में यह होती है, उतनी पूर्ण नहीं हो पाती। यदि पूर्ण करे तो रोग होते हैं, यदि अधूरी छोड़ दे अर्थात् पूर्ण न करें तो पूर्ण करने का सुख तो मिलता नहीं। जिस सुख के कारण जीव इस इच्छा को पूर्ण करने लिये यत्न करता है, वह जब पूर्ण नहीं होगी, तो सुख न मिलने से शोक रूप परिणाम ही होगा जिससे कि मनुष्य का मन खिन्न, दुःखी, समय व्यतीत करने के योग्य भी अपने को नहीं समझेगा। यदि ऐसी अवस्था में जिसने थोड़ा दुःख के साथ और तप के साथ इस इच्छा को देखते-देखते और मन में पहचानते-पहचानते और इस इच्छा के दुष्परिणामों को (बुरे नतीजों को) मनोयोग द्वारा समझते-समझते टाल दिया तो वह साधक पुरुष इसकी निवृत्ति अपने मन से

卐卐卐

अपनी आत्मा में ही पहचान जायेगा। ऐसा ज्ञानवान विज्ञान आत्मा के सुख को अपने आप में ही पायेगा।

इच्छा जो जागत रही, विषय उन्मुख मन धाय।
पूरी जो होन न पावती, तंगी सुधी हराय।।
। १६१ ।

भूमिका :- जैसे इससे पूर्व के पद्य में इच्छा की पूर्ण निवृत्ति के लिये प्रेरित किया गया था, उसी प्रकार अन्य प्रकार से भी इच्छा के दुःख को यह पद्य दर्शा रहा है जिससे कि इसके चंगुल से छुटने के लिये मन प्रवृत्त हो।

पद्यार्थ :- जब इच्छा उत्पन्न हो तो उसको बहुत समय तक मन में टिकाये नहीं रखना चाहिए। क्योंकि जब इच्छा मन में बहती या जागती रहेगी तो मन इच्छा के उसी विषय की ओर भागता रहेगा अर्थात् विषय का ही चिन्तन करेगा और इच्छा के सारे विषय तो सकल आयु भर किसी के पूरे होते नहीं। तो ऐसी बहु इच्छा वाले मन में सदा कष्ट ही बना रहेगा और इसी कष्ट के कारण उस व्यक्ति की बुद्धि भी हरी जायेगी जिससे कि सत्य ज्ञान या विवेक की सम्भावना भी नहीं रहेगी।

इसका तात्पर्य यह है कि देह को धारण करने की अल्प इच्छा को छोड़कर जब कोई दूसरी इच्छाओं का आकर्षण हो तो साधक पुरुष को वे इच्छाएँ बहुत समय तक मन में टिकाये न रखकर ध्यान द्वारा उनके दुष्परिणाम का साक्षात्कार करके उनको झटपट समाप्त करने का यत्न करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो मन में पड़ी हुई सांसारिक इच्छाएँ व्यायाम (कसरत) करती रहेंगी। जब ये बहुत प्रबल हो जायेंगी तो सद्बुद्धि या

卐卐

इनको निवृत्त करने का संकल्प तक भी नहीं हो पायेगा और बुद्धि भी इनके त्यागने को असम्भव समझेगी और उसकी श्रद्धा भी विपरीत हो जायेगी। अर्थात् वह व्यक्ति यूं समझेगा जैसे कि इन इच्छाओं का त्याग किसी से भी नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति महान् पुरुषों और प्रबुद्ध पुरुषों के मार्ग को जानने का अधिकारी भी नहीं हो सकता और उनके पाये हुए फल को तो क्या ही पायेगा ?

इच्छा विषय न भूलती, यही राग का चित्त।
मन तनाये जो बनी रहे, क्या हित कियो सब वित्त।।
। १६२ ।

भूमिका :- इस पद्य में भी इच्छा का दोष दिखाकर साधक पुरुष को सतर्क रहने के लिये प्रेरणा दी गयी है। इन अनर्थ करने वाली व्यर्थ की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए मनुष्य का साधनों को जुटाना और उन्हीं के कष्ट में समय व्यतीत करना भी अनुचित बताया गया है।

पद्यार्थ :- जो देह धारण से अधिक सांसारिक इच्छाएं हैं वे सांसारिक सुख के लिये हैं और सुख में रंगा हुआ सुख का लोभी मन कभी भी इच्छाओं के विषयों को नहीं भूलेगा। यही राग का चित्त है और जब तक यह बना रहेगा अर्थात् इच्छा बसी रहेगी तो यह मन को ही तनायेगी क्योंकि मन बहिर्मुख रहेगा और बाहर संसार में ही मन की शक्ति का ह्रास होता रहेगा जिससे कि मन अन्तर्मुखी न होने के कारण श्रम, खेद और तंगी ही अनुभव करेगा। यदि इच्छा निवृत्त हो तो मन की शक्ति अन्तर्मुखी हुई-हुई मन के अन्दर ही सुख उपजाती है। परन्तु यदि इच्छा विषयों को ही याद करे तो इच्छा को पूरी करने वाला मन

卐卐

बाहर ही भटकता रहेगा। इससे श्वास भी सुखपूर्वक नहीं चलेगा। ऐसी अवस्था में मनुष्य सिवाय दुःखी होने के अन्य कुछ भी नहीं हो पाता। इच्छाएं सदैवकाल एक जैसी तो पूरी होती नहीं। जब इच्छाएं पूरी नहीं हुईं तो उनको पूरा करने के लिये वित्त (धन) या अन्य जन आदि साधनों ने भी मनुष्य का क्या भला किया ? केवल इनको सम्भाले और बनाये रखने का खेद और चिन्ता ही ऐसे विवेक रहित व्यक्ति को दी। इसलिये अपनी आयु के उचित समय पर मनुष्य को विवेक जगाकर, ज्ञान द्वारा और इच्छाओं के सुख को त्यागकर, तपोबल उपार्जन करके, अन्तःकरण की शुद्धि करते हुए, सब संसार की इच्छाएं तृष्णा रूप से त्यागकर आत्मा में पूर्ण टिकाव पाने का यत्न करना चाहिए और अन्त में संसार से पूर्ण मुक्ति पाकर कृत-कृत्य होना चाहिए।

क्षण-क्षण इसका सामना करे, भले दुःख होय।
यही जीवन सही साध ले, अभद्र न कुछ भी होय।।
। १६३ ।

भूमिका :- गत पद्यों में कही गई सदा बहती हुई अनर्थकारी इच्छाओं या तृष्णा की नदी को पार करने के लिये यह पद्य मनुष्य को क्षण-क्षण चेतन होने के लिये प्रेरित करता है।

पद्यार्थ :- जब-जब जगत् में बांधने वाली कोई भी इच्छा मनुष्य के मन में प्रकट हो तो इसका सामना करना चाहिए। स्मृति द्वारा और मन की उपस्थिति द्वारा प्रथम इस को पहचान कर शारीरिक आवश्यकता से अधिक समझ कर पुनः इस को वीर्य भाव से (हिम्मत द्वारा)

समाप्त करने का यत्न मनुष्य क्षण-क्षण करता रहे और देखते-देखते ही इसको टालता जाए। भले इस टालने में या इसका सामना करने में थोड़ा दुःख या कष्ट भी प्रतीत हो तो उसे तप भाव से स्वीकार करता रहे। यही जीवन की सही साधना है। यदि ऐसा जीवन साध ले कि जब-जब इच्छा या इसके परिवार का कोई भी क्रोध, लोभ, संशय, ईर्ष्या, मत्सर (दूसरे के सुख का द्वेष) इत्यादि मन में खड़ा हो जाए तो इसे समझता हुआ क्षण-क्षण टाल दे तो उस का अभद्र (खोटा) कुछ भी नहीं होगा। इन मन के विकारों या दोषों का (इच्छा या तृष्णा के) मन में बहते रहना ही अभद्र या खोटा है। इनके संग शान्ति का मेल नहीं है। ये सब दोष या विकार केवल संसार की तृष्णा की ही संतान हैं। इसलिए इनको मन से तथा इनके कारण राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या आदि को सर्व बन्धनों सहित निकाल कर या नष्ट करके ही पूर्ण सुख व शान्ति आत्मा (अपने आप) में प्राप्त होती है। जो कुछ भी होगा वह भला ही होगा अर्थात् अन्त में कल्याण को प्राप्त होगा। अपनी आत्मा में नित्य परम शान्ति पाएगा और बाहर जगत् में वैर विरोध रहित हो, सब में एक ही चेतन या ब्रह्म भाव को पहचानेगा और कृत-कृत्य हो जाएगा। इससे उत्तम और कोई फल नहीं हैं। यदि ऐसा फल प्राप्त करने के लिये मन उत्सुक नहीं हुआ और प्राणी ने यत्न नहीं किया तो उसका अभद्र (खोटा) ही होगा अर्थात् वह संसार में ही बहता रहेगा और जो कुछ भी उस की इच्छाएं हैं वह कभी भी तृप्त नहीं होंगी और वह सदा दुःख ही पाएगा।

卐卐卐

उठत, बैठत, हर हाल में, मन अपने को पहचाने।
सही राह पै ठेपत रहे, राह की अड़चन नहीं माने।।
। १६४ ।

इस पद्य की भूमिका :- गत पद्यों में यह दर्शाया गया था कि सांसारिक विषयों के राग और उनसे होने वाली इच्छाओं के बन्धन या दोषों से बचने के लिये साधक पुरुष को क्षण-क्षण अपनी व्यर्थ की, देह की आवश्यकता से अधिक सांसारिक सुखों की इच्छाओं का सामना करते रहना चाहिए; भले वैसा उन इच्छाओं का सामना करने में अल्प कष्ट का अनुभव ही क्यों न हो। इससे सब दिन, मास और वर्षों ऐसा अभ्यास करते रहने से जीवन पूर्ण रूप से सध जायेगा और आत्मा के सुख को जीवन काल में ही प्राप्त करने का अवसर मनुष्य को प्राप्त होगा। बाहर जगत् में होने की उसकी तृष्णा (भव तृष्णा) सदा के लिये शान्त हो जायेगी।

पद्यार्थ :- अब इसमें उसी सांसारिक राग या इच्छाओं के बन्धन छुड़ाने के जीवन का विशद् (स्पष्ट) रूप दर्शाया जा रहा है। उठते, बैठते और हर हाल में अर्थात् प्रत्येक अवस्था में साधक पुरुष साधना की लग्न रखता हुआ अपने को समझता और पहचानता रहे। जब कभी कोई व्यर्थ या अनर्थकारी इच्छा उठे उसके बारे में विवेक रखे। इसी के निमित्त मन में विचार द्वारा यह निश्चित करने का यत्न बनाये रखे कि क्या उठी हुई इच्छा को पूरा करना चाहिए या नहीं। 'इच्छा को पूर्ण करने से सुख मिलेगा'— ऐसा भी प्रतीत हो सकता है। परन्तु ज्ञान दृष्टि को

जगाकर निर्णय करे कि ऐसी इच्छा पूर्ण करने से पुनः आगामी काल में या भविष्य के जीवन में कहीं दुःख ही तो सम्मुख नहीं आयेगा ? ठीक है ! इच्छा को पूर्ण करना प्रत्यक्ष में तो सुख रूप से ही प्रतीत (मालूम) होता है और उसका रोकना (निरोध) दुःख रूप से जानने में आता है। परन्तु ऐसा विवेक साधक पुरुष को जाग्रत रखना चाहिए कि इच्छा पूर्ण करने का अल्प सुख यदि भविष्य के महान् दुःख में ही ले जाकर पटके, तो इससे अच्छा है कि ऐसी इच्छा पूर्ति का सुख अपने आप में न लेकर दूसरों में ही होता हुआ देखकर मन को प्रसन्न कर लिया जाये और इच्छा के निरोध (रोकने) का अल्प दुःख स्वीकार कर लिया जाये जो कि एक दिन बाह्य जगत् से छुटकारा (मुक्ति) दिलाकर आत्मा या परमात्मा (समष्टि) के अनन्त सुख को उपस्थित करेगा। सब तृष्णा से मुक्त हुआ-हुआ आत्मा अपने आप में ही आनन्द रूप से प्रकट होता है।

ऐसे हर समय, प्रत्येक कर्म में अपने ऊपर दृष्टि बनाये रखने से बाहर जगत् की मिथ्या प्रीति भी क्षीण होती जायेगी और अपने ऊपर दृष्टि बनाये रखने के साथ-साथ अपने मन, इन्द्रियों और देह को सही मार्ग पर स्थापित करने का अवसर भी मिलता रहेगा और इन सब को सही मार्ग पर बनाये रखने का यत्न भी बनाये रखना चाहिए। जो भी मार्ग के विघ्न (अड़चनें) प्रतीत हों उन्हें ध्यान द्वारा ज्ञान उत्पन्न करके बुद्धिपूर्वक टालने का यत्न भी बनाये रखना चाहिए।

मार्ग के विघ्न केवल मिथ्या सुख का प्रलोभन

दिखलाकर ही मनुष्य को छलते हैं। क्षण भर का कल्पना का सुख ही मिथ्या सुख है। परिणाम में भयंकर दुःख का भय प्रतीत करते हुए इन विघ्नों को जीतने का यत्न बनाये रखना चाहिए। न्यूनाधिक (थोड़ा बहुत) आरम्भ का कष्ट या दुःख जो कि इच्छाओं को रोकने का है, उसका भय भी मार्ग की अड़चन (विघ्न) रूप से उपस्थित होता है कि इच्छा पूर्ण नहीं की गई तो मन दुःखी होगा। दुःख में मन उदास, शोक युक्त होता हुआ दूसरों में सुखपूर्वक विहार नहीं कर पाता अर्थात् सुख से दूसरों में नहीं रह पाता, इत्यादि-इत्यादि बहुत से मिथ्या भय मन को उलझन में डाल देते हैं। इन सब को ध्यान द्वारा ज्ञान दृष्टि उत्पन्न करके टालता जाये और अन्य कई एकों को भी रोगादि अवस्थाओं में बसे हुए देखकर इन सब सुखों को त्यागकर भी जीते और अपने आप को सही रूप से प्रेरित करते हुए सब सामर्थ्य रखते हुए भी सही संयम, ध्यान, ज्ञानादि के मार्ग पर ही बनाये रखे। मार्ग की किसी एक अड़चन को भी न माने। इस प्रकार दीर्घ काल तक अभ्यास करने से जीवन साधनमय हो जायेगा। अपने आप में भी एकान्त में ध्यान, ज्ञान और संयम का सुख पायेगा और अनन्त आत्मा की शान्ति सुख को प्राप्त करेगा। केवल प्रमाद (ढिलाई) से बचता हुआ; विचार द्वारा अपने आप की सुध बुध (स्मृति और सत्य की बुद्धि) रखते हुए; सम्भालता-सम्भालता जीवन यात्रा करना सीख ले। समय पाकर यह जीवन स्वभाव से ही वैसा सिद्ध हो जायेगा। ऐसा मनुष्य केवल, किसी दूसरे के संग के बिना भी और

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

वस्तुओं के संग से रहित होता हुआ भी, अपने आप में ही आनन्द युक्त और तृप्त रहेगा। इसे अब दूसरों में कुछ भी होना नहीं पड़ेगा। यही भव सागर से या संसार में सत्ता (हस्ती) ग्रहण करने से मुक्ति पाने का सत्य है।

कहाँ-कहाँ मन बन्ध रहयो, भलो पहचानो जाये।
तेज नज़र बस चाहिए, छुपा न कुछ भी रहाये।।
। १६५ ।

भूमिका :- यह पद्य भी पूर्व पद्य के भाव को स्पष्ट करता है कि सही या ठीक अवस्था में, या धर्म मार्ग पर अपने आपको बनाये रखने में जो-जो विघ्न मार्ग में पड़ें वे सब पहचानकर उन्हें त्यागने का यत्न साधक को बनाये रखने के लिये ध्यान दृष्टि खोलनी चाहिए। ये सब विघ्न खूब पहचानने में आ सकते हैं। इन्हें पहचानने का यत्न बनाये रखे। इसी भाव को यह पद्य व्यक्त करता है।

पद्यार्थ :- जब दृष्टि सदैव आठों पहर जागने के घण्टों में अपने आप पर ही अधिक रहेगी और दूसरों पर तो उतनी ही दृष्टि होगी जितनी कि जीवन चलाने के लिये आवश्यक है या कुछ सीखना है, तब मन कहाँ-कहाँ बन्ध रहा है यह सब साधक पुरुष को स्वयं पहचानने में आने लगेगा। कहाँ-कहाँ व्यर्थ की इच्छा आकर बांधती है ? कहाँ-कहाँ व्यर्थ का मिथ्या भय आकर मार्ग की अड़चन (प्रतिबन्धक) बनता है ? इत्यादि सब साधना में लगे मनुष्य को जानने पहचानने में आयेगा। परन्तु इसके लिये तीक्ष्ण (तेज) दृष्टि की आवश्यकता है। तब माया का कुछ भी कपट छुपा हुआ नहीं रह सकेगा। तेज दृष्टि वही होगी

卐卐

जो कि केवल प्रकृति की उत्तेजनाओं के अनुसार प्रकृति का आज्ञाकारी दास बनने के लिये न देखती हुई, भगवान् का बुद्धि बल जगाकर अपनी भलाई (अन्तिम भलाई) वा नित्य सुख शान्ति को दृष्टि में रखते हुए सत्य को खोजे और खोज कर निश्चय करे। केवल जैसा कुछ अच्छा या बुरा क्षण मात्र के लिए प्रतीत पड़ता है उसी की ही दृष्टि न रखकर सत्य का निर्णय करके सही मार्ग तक चलने की प्रेरणा करे। ऐसी तीक्ष्ण (तेज) दृष्टि के सम्मुख कुछ भी माया जाल छुपा न रह सकेगा। छुपा न रह सकने पर मिथ्या प्रेरणाओं द्वारा जीव को संसार में ही न बनाये रख सकेगा तथा संसार से पार उतरने की अड़चन भी न बन सकेगा; यहाँ तक मनुष्य को अपनी तीक्ष्ण दृष्टि खोलनी चाहिए। यही इस पद्य का भाव है। तब कोई भी बन्धन मनुष्य की भलाई में अड़चन नहीं डाल सकेगा।

'छुपा न कुछ भी रहाये', इस चतुर्थपाद का एक दूसरा अर्थ भी समझना उचित है जो कि समय पाकर स्वयं अपने अनुभव से साधक पुरुष जानेगा। तथापि :-

जैसे-जैसे मनुष्य अपने सब देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर अपनी दृष्टि बनाये रखेगा और इन सब की चेष्टाओं को समझता हुआ अपने आप में उचित सुधार करते रहने के पक्ष में सदा जागरूक रहेगा, वैसे-वैसे उसका मन बाह्य जगत् से भी टलकर अपने आप में समय व्यतीत करने का अभ्यासी होता हुआ एकान्त में भी जीवन धारण करने का सामर्थ्य लाभ करेगा। तब जब कभी वह एकान्त में अवकाश को प्राप्त करके आसन पर स्थिर होगा तो उसे

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि तत्त्वों में भी मन लगा कर इनका साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त होगा। ये सब तत्त्व सकल प्राणियों के ज्ञान में प्रविष्ट होकर सब के जीवन को धारण करते हैं और स्वयं अपने सही स्वरूप में अज्ञात (न पहचाने जाते हुए) रहकर सकल जगत् के आधार हैं। यह सब सत्य भी अपने पर दृष्टि रखने वाले के लिये छिपा नहीं रहेगा। इनके सब तत्त्वों का साक्षात्कार होने पर सुन्दर स्वास्थ्य आदि का वरदान भी साधक को प्राप्त होने की सम्भावना है। इसके साथ-साथ बुद्धि पुनः सब ओर यहाँ तक पहुँचती है, ऐसे सकल लोकों का भी साधक पुरुष अपने स्थिर मन में ज्ञान पाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इन काम या इच्छाओं के लोक या मनुष्य के छोटे वृत्त या क्षेत्र से मुक्त होकर मनुष्य का मन व्यापक जीवन स्वरूप परमात्मा के साथ भी एकीभाव प्राप्त कर सकेगा। ये सब कुछ छुपा न रहेगा।

इस सब कुछ ऊपर कहे गये का भाव यह है कि जो मन जन्म से दूसरों के साथ बन्धा-बन्धा जीवन धारण कर रहा था वह जब बाह्य दूसरों के संग का स्वार्थ छोड़ भी दे तब भी पुनः वह संसार में ही कई एक लोकों में बन्धा रह सकता है। इन सब लोकों को भी साधक पुरुष अपने पवित्र मन द्वारा जानकर त्यागता हुआ अन्त में साधन की पूर्णता प्राप्त होने पर केवल अपने आप में या आत्मा में ही अनन्त शान्ति प्राप्त करने का सामर्थ्य लाभ कर सकता है। यह सब सूक्ष्म ज्ञान एकान्तमय उद्योगी जीवन साधने पर ही प्रकट होगा अन्यथा साधारण बाह्य बुद्धि के तर्क वितर्क द्वारा इन सब अन्दर की अवस्थाओं का ज्ञान सर्वथा

असम्भव है। कहने सुनने से भी इनका पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है और बहु प्रयोजन वाला नहीं है। केवल साधना के कर्म से प्राप्त होने पर यह छुपे हुए रहस्य का ज्ञान कई एक प्रकार से जीवन काल में तथा तदोपरान्त अनन्त फल वाला है तथा अपने आप में इतना प्रिय है कि मनुष्य संसार के सब प्रकार के प्रलोभनों को भी इस ज्ञान के सामने तुच्छ समझेगा। परन्तु इसके लिये शुद्ध मन और ध्यान की सफलता की आवश्यकता है। जिसके लिये सांसारिक इच्छा बहुत कम या देह धारण तक ही सीमित रहनी चाहिए।

जगा, जगाया सत्य जो, टिका रहा मन माहीं।
सही मन का प्रेरित करे, उत्साह और हर्ष बसाहीं।।

। १६६ ।

भूमिका :- गत पद्य में ध्यान दृष्टि पाने की चर्चा की गयी थी। इससे सत्य सम्मुख प्रकट भासने लगेगा। जो वस्तु जैसी है अर्थात् अन्त में सुखकारी है या दुःख को ही देने वाली होगी – यह बात जब ध्यान दृष्टि में स्पष्ट झलकने लगे तभी ध्यान दृष्टि रूप तीक्ष्ण (तेज) दृष्टि कही जायेगी। नही तो प्रकट में मन की उत्तेजनायें (जोश) या भाव तो किसी वस्तु या प्राणी के संग से सुख सा प्रकट करते हैं, मिथ्या लाभ रूप दर्शाते हैं; परन्तु परिणाम (नतीज़े) में वह उलटा ही होता है। ध्यान द्वारा स्थिर आसन पर यही सब सत्य जो प्रकृति की उत्तेजनाओं (जोशों) में छुपे पड़े हैं, प्रकट भासने लगते हैं और प्रकट भासने पर मनुष्य के मन को सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। इसी भाव को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- यदि अपने आपको मनुष्य बाहर सब प्रकार से संयम में रखकर ध्यान में आसन स्थिर करके बैठ पायेगा तो यह ध्यान प्रथम अपने जीवन की खोज या विचार रूप ही होगा। जैसे-जैसे साधक खाने-पीने, बोलने या कर्म आदि में संयम का अभ्यास करके अपने को व्यर्थ की चेष्टाओं से बचाता जायेगा और एकान्त में दृढ़ आसन पर बैठकर अपने आप को जगाये रखकर संसार की दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध आदि से मन को सम्भाले रखेगा तब मन की दृष्टि खुलनी आरम्भ होगी। यही दृष्टि विचार द्वारा अपने जीवन की वर्तमान रूप रेखा को देखेगी, उसकी परीक्षा करेगी कि जिधर किधर को चल रहा है, अन्त में किसमें या कहाँ समाप्त होगा इत्यादि-इत्यादि, तब मनुष्य को बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। इसी को कहा गया है कि जगा, जगाया सत्य यदि मन में टिका रहा तब मनुष्य को सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगा। और सही मार्ग पर चलने में ही अपनी भलाई दर्शाता हुआ उस मार्ग पर चलने के उत्साह (हौंसला) को भी देगा और अन्त की भलाई और दुःख से सदैव मुक्ति के अनुमान को करवाता हुआ उस फल की प्राप्ति के सही मार्ग पर चलने की खुशी (हर्ष) को भी बनाये रखेगा। परन्तु ध्यान दृष्टि के सत्य को मन में टिकाये रखने का यत्न बनाये रखना चाहिए। प्रकृति या बाह्य जीवन का स्वभाव सत्य पर भी पर्दा डालकर जगत् में ही बने रहने की ओर मनुष्य को प्रेरित करता रहता है। यदि ध्यान में जगा जगाया सत्य बना रहा तो वह

चलने का उत्साह बनाये रखेगा। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की सम्भाल, ध्यान में समय व्यतीत करना, ज्ञान को जगाना, अपने को नित्य नव-नव प्रकार से साधन की उन्नति के ही मार्ग पर रखना इत्यादि सब सही मार्ग के अंग हैं। प्रथम में जगा हुआ सत्य भगवान् रूप है जिसने संसार में सबसे प्रथम या पहले इस अध्यात्म सत्य को पहचाना; और मनुष्यों को प्रकट रूप से दर्शाया। उसकी भी स्मृति (याद) मन में बनाये रखना, उसे भी मन में जगाते रहना। जब मन उत्साहहीन हो तो सबसे प्रथम सृष्टि में जगे हुए, पूर्ण अवतारी भगवान् को भी मन में टिकाकर उससे प्रेरणा पाना कि यदि वह धर्म को मनुष्य रूप में अवतीर्ण होकर सब में रहता हुआ, सदा मुक्त स्वरूप से रह कर, पूर्व पुरुषों को दिखला गया है और वही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है तो हम भी उसी धर्म को सुनकर उसके मार्ग पर चल सकेंगे और पूर्ण रूप में जगत् के बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा में ही पूर्ण सुख शान्ति का धन पा सकेंगे। यही सब मन को सही मार्ग में प्रेरित करेगा, उत्साह और हर्ष को धर्म मार्ग पर बनाये रखेगा। नहीं तो बन्धनों वाला मन अपने जैसा दूसरों को देखकर और सब को संसार में ही बन्धे हुए समझ कर उन्हीं का ही अनुकरण करने पर आप भी उतारू हो जाता है और यही विश्वास करता है कि जब कोई भी वैसा संसार से मुक्त होकर अपने आप (आत्मा) में आनन्द में विभोर नहीं दीखता तो मेरे जैसा जीव भी कैसे मुक्त होकर सुखी हो

जायेगा। यही सब अश्रद्धा उसे परेशान करती रहेगी। इसलिये भगवान् और धर्म मार्ग और उसके भक्तों का भी थोड़ा ध्यान मन में बनाये रखना चाहिए। ऐसा होने पर सही प्रेरणा और धर्म मार्ग पर चलने का उत्साह और हर्ष रह सकेगा। और अन्य साधारण जगत् के प्राणियों पर तो अधिक सीखने के लिए मनुष्य को आशा नहीं रखनी चाहिए। यही सब इस पद्य का भाव है।

सत्य दृष्टि जो बनी रहे, अहित और हित दिखलाये।
हिम्मत बन्धे कुछ करन को, दुःख ज्यादा न डराये।।
। १६७ ।

भूमिका :- पहले कहे गये पद्यों के ही भाव का उपसंहार (समाप्ति) इस पद्य द्वारा करते हुए धर्म के मार्ग की सही प्रेरणा बनाये रखने की योग्यता को यह पद्य दर्शा रहा है।

पद्यार्थ :- ध्यान द्वारा उपजी जो सत्य की दृष्टि बनी रही तो 'मनुष्य का सही रूप से क्या हित है' और 'क्या अहित है', यह सब स्पष्ट रूप से ध्यान में दिखाई पड़ने लगेगा। जैसे कि रोगी मनुष्य को ध्यान करने पर वैद्य द्वारा बतलाया हुआ कारण या रोग की जड़ अपने में ही प्रकट दिखलायी देने लगती है तब सही रूप से उस रोग की चिकित्सा के निमित्त वह रोगी सही मार्ग पर अपने को चलाने की प्रेरणा पाता है और उस की हिम्मत भी स्वयं उस मार्ग पर चलने की बन्ध जाती है और कुछ भी पथ्य या परहेज का दुःख उसे अधिक परेशान नहीं करता। ऐसे ही ध्यान द्वारा सत्य पहचानने पर जगत् के दुःख की जड़

卐卐

या कारण जगत् के सुखों का राग, द्वेष अर्थात् सुख को अड़चन में डालने वालों का द्वेष आदि बन्धन समझ लेने पर इन सब को त्यागने का उपाय करने में जो भी दुःख होता है उससे साधक पुरुष भयभीत नहीं होता। क्योंकि उसे इन सब बन्धनों से छूटकर आत्मा में स्वस्थ सुख मिलता है। बाह्य सुख दुःखों से मिला हुआ है; अन्त में अवस्था परिवर्तित (बदलने) होने पर रहता भी नहीं। यह कभी भी स्वस्थ सुख नहीं। सच्चा सुख तो आत्मा में ही प्राप्त होगा। उसी के लिये महापुरुषों के वचनों पर विश्वास रखकर चलना है। जब नित्य सुख का आकर्षण है तो मार्ग के अल्प दुःख का कोई भी भय अधिक विपरीत प्रतीत नहीं होगा।

चलते का है रास्ता, करते को ही काम।
हिम्मत से ही सिरे चढ़े, परिश्रम बने इनाम।।

। १६८ ।

पद्य की भूमिका :- गत दो पद्यों में यह प्रतिपादन किया गया था कि सृष्टि में कभी भी जो पूर्ण रूप से अपने आप में प्रथम (पहले) जगा उसको उस समय जन समुदाय ने भगवान् के नाम से पुकारा। उसी की स्मृति अपने मन में जगायी जाये; और उसी के अनुसार जैसे वे सब जन समुदाय में रहते हुए भी अपने आप को सत्य दर्शन या प्रकट सत्य वस्तु के ज्ञान द्वारा सम्भालते हुए प्रकृति पर पूर्ण अधिकार पाकर अपने आपको उद्योग या हिम्मत से सम्भाले रखते थे और इस आध्यात्मिक व धार्मिक उद्योग में कष्ट या दुःख नहीं मानते थे; वैसे ही

उन्हीं का दर्शाया हुआ वेद, शास्त्र, स्मृतियों में स्पष्ट आत्म कल्याण का मार्ग (रास्ता) हमें भी अपनाना चाहिए। इसी तथ्य (सत्य) को यह पद्य इस प्रकार सम्मुख रखता है कि:-

जो प्राणी मार्ग को निश्चित करके उस पर चलने का उद्योग रखे तो उसी के लिये वह रास्ता है। और यदि कोई उस पर न चले तो क्या रास्ता ? इसी प्रकार जो भगवान् स्वरूप में सृष्टि में भी प्रकट हुए और उन्होंने उस समय के जनों को प्रत्यक्ष शान्ति के धर्म में प्रबल प्रेरणा दी, उन्हीं के मुख से सुना सुनाया हुआ (श्रुत) मार्ग हम भी पढ़ते, सुनते आ रहे हैं। उस मार्ग पर चलने का अल्प कष्ट यदि हम स्वीकार करें तो वह हमारे लिये मुक्ति का मार्ग है। यदि प्रमाद (ढिलाई) करके प्रत्यक्ष बाह्य अल्प सुख में ही, और राग द्वेष के जगत् में ही बहते रहे तो यह मार्ग (रास्ता) हमारे लिये कैसे हो सकेगा ?

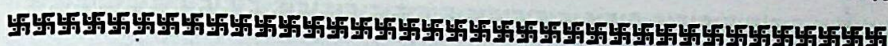
इसी प्रकार कर्म करने वाले के लिये ही काम (कार्य) है अर्थात् जो करने की हिम्मत या उद्योग रखता है उसके लिये ही कार्य (काम) है। जो कुछ करने की हिम्मत, उत्साह न रखे उसके लिये क्या कार्य (काम) ? यहाँ धर्म मार्ग पर चलने वाले का कार्य (काम) यही है कि अपने को सब प्रकार की बुराई से बचाये रखना; पापों से दूर रहना; अपने जीवन को खाने, पीने, सोने, जागने और पवित्रता बनाये रखने के नियमों में बांधना; बाहर से अवकाश पाने पर आसन पर स्थित होकर अपने जीवन को सम्मुख रख

कर विचारना कि यह जीवन किधर (किस दिशा में) चल रहा है। महापुरुषों के जीवन के बारे में भी कुछ समझने का प्रयास (यत्न) करना। इस प्रकार से एकान्त में पहले पहल आसन पर स्थित हो अपने आप को लगाये रखना; खाली आसन पर बैठे-बैठे तृष्णा को अवकाश नहीं देना कि वही अपनी दृष्टियां (नजरें) बना-बना कर आपको जगत् में ही उलझाये रखे। पुनः आवश्यकता से अधिक बाहर के कर्मों से पृथक् रह कर ध्यान, विचार में, एकान्त में अपना समय व्यतीत करने का अभ्यास बढ़ाना, महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करते हुए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि इस पुस्तक में प्रतिपादित (बतलाये गये) भगवान् के बलों की आराधना (भक्ति) करना और मिथ्या दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, मान, मोह आदि सब बन्धनों को अकेले में आसन पर पहचानना और सब में रहते हुए भी इन्हें स्मृति या मन की उपस्थिति रखते हुए परिहृत (त्यागे हुए) करते रहना और भोजनादि के उपरान्त शय्या में जाने से पूर्व अपने श्वास को प्राणापान स्मृति द्वारा सब विकार और बन्धन त्यागते हुए चलाना जिससे कि काया (देह) की भी धार्मिक ढंग की ही रचना हो और कल्याण पथ में विघ्न न हो इत्यादि सब जगे हुए सत्य का मार्ग है। उस मार्ग पर चलने वाले के यही सब कार्य हैं। इसमें किसी भी दूसरे का वैर या उलझन या हानि का कोई भी अंश नहीं; केवल आत्मा की शुद्धि और शक्ति प्राप्ति द्वारा ही जगत् के सब दुःखों से मुक्ति पाकर अपनी आत्मा में स्थाई (सदा बने

रहने वाली) शान्ति ही पाना है। यदि इस मार्ग पर चलने की कोई हिम्मत करेगा तभी यह मार्ग पूर्ण रूप से चला गया हुआ सिरे चढ़ेगा अर्थात् पूर्णता तक चला जा सकेगा और अन्त में नित्य शान्ति सुख अपने में ही प्राप्त होगा। जो परिश्रम पहले मार्ग चलने में दुःख रूप प्रतीत पड़ता है, एक दिन यही परिश्रम पुरस्कार (इनाम) रूप में हमें प्राप्त होगा। हम इस परिश्रम को करने के इतने आदी (अभ्यासी) हो जायेंगे कि प्रथम यही हमको आत्मा में बल देकर सुख रूप बन जायेगा। केवल पीछे कहे गये सब धर्म पालन करने में ही स्वास्थ्य, मन की प्रसन्नता, दूसरों की उलझन से छुटकारा आदि हमें प्रतीत होगा। यही सब धर्म के परिश्रम के स्वाभाविक बन जाने का पुरस्कार (इनाम) है।

ॐ इति इच्छा दमन वर्ग ॐ





ॐ

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग–१ व भाग–२ (व्याख्या सहित) के प्रवर्धित एवं संशोधित चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन एवं निःशुल्क वितरणार्थ निम्नलिखित सेवापरायण धर्मप्रेमियों का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ :–

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
1.	श्री धर्मवीर बेदी बुरला (उड़ीसा)	28	11000—00
2.	स्व० श्रीमती छन्नो देवी धर्मपत्नी श्री कली राम (राजपाल व भाईजन अपनी माता जी की पुण्य स्मृति में) निठारी, दिल्ली	45	11000—00
3.	श्री धर्मवीर बेदी (उड़ीसा)	338	7500—00
4.	डा० रामप्रकाश शर्मा अम्बाला कैंट	344	5101—00
5.	श्रीमती बिमला भनोट दिल्ली	301	5100—00
6.	श्री आर० सी० शर्मा जी, पंचकूला	312	5100—00
7.	मै० मंगत राम, राम करण चूड़ियों वाले अ० शहर	38	5100—00
8.	स्व० श्री चौधरी राम एवं स्व० श्रीमती कृष्णा देवी, जगाधरी	39	5100—00
9.	श्री 108 श्री शील जी महाराज अध्यक्षा श्री अनन्त प्रेम मन्दिर, अम्बाला शहर	67	5100—00
10.	डा० महेश मनोचा अम्बाला शहर	68	5100--00
11.	श्री प्रेम सिंह सुपुत्र श्री धारा सिंह गांव बरवाला दिल्ली	119	5100—00
12.	सेठ पन्ना लाल जी अम्बाला कैंट	124	5100—00
13.	श्री धर्मवीर बेदी, बुरला (उड़ीसा)	336	5000—00
14.	श्रीमती बिमला भनोट—दिल्ली	36	5000—00
15.	श्री नरेन्द्र कुमार शास्त्री सुपुत्र श्री जय नारायण कराला, दिल्ली	44	5000—00
16.	संगत, रायकोट राजगढ़ बर्मी गाँव ज़िला लुधियाणा (पंजाब)	105	4500—00
17.	श्री वी० पी० शर्मा व उर्वशी शर्मा हांगकांग	343	4000—00
18.	श्री मेहर राठौर जी कनेड़ा	5	3900—00
19.	श्री एस० डी० शर्मा कृष्णा नगर होशियारपुर (पंजाब)	47	3100—00
20.	श्रीमती रेशमी देवी धर्मपत्नी श्री रामेशवर प्रसाद (तम्बाकू वाले) अम्बाला शहर	48	3100—00

卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
21.	श्री धर्मवीर बेदी बुरला (उड़ीसा) अपनी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती राज कुमारी की स्मृति में	108	3100—00
22.	श्री बालागोपालन एवं उर्वशी शर्मा हांगकांग	295	2500—00
23.	श्री धर्मवीर बेदी, बुरला, उड़ीसा	317	2500—00
24.	सुश्री मीरा बाई जी महाराज अम्बाला शहर	56	2101—00
25.	श्रीमती सुहागवन्ती वशिष्ट धर्मपत्नी स्व० श्री सोमनाथ (अपने पति की स्मृति में) अम्बाला शहर	294	2100—00
26.	श्री अशोक शर्मा नंगल (पंजाब)	302	2100—00
27.	श्रीमती स्वर्ण कान्ता (स्व० मेजर श्री ओम प्रकाश रणदेव व स्व० त्रिभुवन प्रकाश रणदेव की स्मृति में) चण्डीगढ़	49	2100—00
28.	मास्टर श्री सोमनाथ खुराना अम्बाला शहर	57	2100—00
29.	श्री अशोक शर्मा व श्रीमती कुन्ती देवी नंगल टाऊनशिप (पंजाब)	102	2100—00
30.	पं० मोहन लाल अम्बाला शहर	71	2100—00
31.	श्री ऐच० सी० मदान इन्द्र नगर अम्बाला शहर	34	2100—00
32.	श्री धर्मवीर बेदी, बुरला, उड़ीसा	330	2000—00
33.	श्री जगराम सिंह त्यागी भगवान्पुर (उ०प्र०)	321	1900—00
34.	श्री देश बन्धु गुप्ता लुधियाणा	37	1500—00
35.	स्व० पं० कुशल दत्त शर्मा सुपुत्र पं० नन्द लाल शर्मा	345	1125—00
36.	श्री बलराम सिंह सुपुत्र श्री चन्दगी राम कराला (दिल्ली)	347	1125—00
37.	श्री सुरजन भगत सुपुत्र श्री बदलूराम कराला, दिल्ली	9	1125—00
38.	श्री जय प्रकाश सुपुत्र श्री सूरत सिंह मजरी, दिल्ली	13	1125—00
39.	श्री कर्मवीर सुपुत्र श्री सरदार सिंह कराला, दिल्ली	121	1111—00
40.	श्री गोर्धन सिंह सुपुत्र श्री प्यारे लाल कराला, दिल्ली	22	1110—00
41.	श्री बलवन्त सिंह माथुर सुपुत्र श्री सरदार सिंह कराला—दिल्ली	42	1105—00
42.	श्री आर० के० गुप्ता अम्बाला शहर	58	1101—00
43.	श्री योग राज गर्ग अम्बाला शहर	32	1101—00
44.	श्री राम प्रकाश दुआ, नारायणगढ़	299	1100—00

卐卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
45.	श्री दयानन्द सुपुत्र श्री सूरत सिंह मजरी, दिल्ली	346	1100—00
46.	श्री प्रमोद कक्कड़ कनेड़ा	6	1100—00
47.	श्रीमती पन्नादेवी धर्मपत्नी श्री राधा कृष्ण (श्री रामेश्वर दास के द्वारा) अम्बाला शहर	33	1100—00
48.	श्री वी० पी० अग्रवाल चण्डीगढ़	104	1100—00
49.	श्रीमती सुमन लता धर्मपत्नी श्री सुदर्शन कुमार गोयल पटियाला	109	1100—00
50.	पं० सुखबीर सिंह सुपुत्र पं० जय प्रकाश गाँव बरवाला, दिल्ली	110	1100—00
51.	पं० अशोक पहलवान सुपुत्र स्व० पं० गोबिन्द राम बरवाला, दिल्ली	111	1100—00
52.	श्री लाल चन्द भगत गांव निठारी, दिल्ली	115	1100—00
53.	प्रो० के० एल० गोगिया अम्बाला शहर	120	1100—00
54.	श्री राकेश गुप्ता अम्बाला शहर	70	1100—00
55.	श्री चन्द्र मोहन शर्मा पिन्जोर	59	1100—00
56.	सूर्यांशु पौत्र श्री हरि राम मजरी, दिल्ली	40	1100—00
57.	श्री इन्द्र देव शर्मा व श्रीमती भीना काशनी शर्मा कुरुक्षेत्र	61	1100—00
58.	श्री ज्ञान चन्द गर्ग अम्बाला शहर	75	1100—00
59.	डा० गौरव सुपुत्र मास्टर राम कुमार कराला दिल्ली	128	1100—00
60.	श्री प्रदीप व श्री संदीप सुपुत्र श्री मेहर चन्द कराला (दिल्ली)	41	1100—00
61.	श्रीमती ममता सहगल चण्डीगढ़	21	1000—00
62.	श्री गोर्धन सुपुत्र चौ० प्यारे लाल कराला दिल्ली	129	801—00
63.	गुप्त दान प्रो० सहगल जी के द्वारा दिया गया	23	700—00
64.	श्री डी० आर० महता कृते संत सेवा ट्रस्ट, मुम्बई	328	558—00
65.	श्रीमती राज नागपाल	54	551—00
66.	श्री सुरजीत नागपाल	55	551—00
67.	श्री जय प्रकाश सुपुत्र श्री सूरत सिंह मजरी दिल्ली	51	505—00
68.	श्री बलराम सिंह कराला, दिल्ली	310	505—00
69.	गुप्त दान कराला, दिल्ली	8	505—00
70.	श्री चरण सिंह सुपुत्र चौ० दरियाव सिंह कराला, दिल्ली	16	505—00

卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
71.	डा० गौरव माथुर सुपुत्र श्री राम कुमार कराला, दिल्ली	17	505—00
72.	श्री बस्ती राम सुपुत्र चौ० गुगन सिंह कराला, दिल्ली	112	505—00
73.	श्री बलराम सिंह सुपुत्र श्री चन्दगी राम कराला, दिल्ली	113	505—00
74.	कुमारी वँशिका सुपौत्री डा० बस्ती राम क़राला दिल्ली	127	502—00
75.	गुप्त दान मल्होत्रा साहिब, ऊना (हि०प्र०)	14	501—00
76.	श्री सीता राम सुपुत्र चौ० लाल चन्द भगत निठारी, दिल्ली	15	501—00
77.	गुप्त दान	340	501—00
78.	श्री गिरधारी लाल वर्मा सरहिन्द (पंजाब)	313	501—00
79.	श्री सच्चिदानन्द हसीजा, दिल्ली	316	501—00
80.	श्री सुरेश वर्मा, महेन्द्रगढ़	319	501—00
81.	डा० वी० के० त्रिवेदी वैज्ञानिक, नई दिल्ली	20	501—00
82.	श्री ओम प्रकाश कालिया कुरुक्षेत्र	31	501—00
83.	श्री श्रीराम बतरा मुलतान नगर दिल्ली	46	501—00
84.	श्री विवेक कुमार तिवारी चण्डीगढ़	50	501—00
85.	श्री दर्शन लाल अरोड़ा अम्बाला शहर	52	501—00
86.	प्रो० मोहन लाल अम्बाला शहर	53	501—00
87.	लाला शिव प्रशाद गुप्ता सरहिन्द (पंजाब)	60	501—00
88.	श्री बलदेव छाबड़ा अम्बाला शहर	65	501—00
89.	श्री सी० ऐल० पुरी अम्बाला कैंट	123	501—00
90.	मै० विज़ मैडीकल हाल अम्बाला कैंट	125	501—00
91.	बहिन सुश्री साधना जी प्रेम मन्दिर अम्बाला शहर	130	501—00
92.	श्री सुरिन्द्र सचदेवा अम्बाला शहर	73	501—00
93.	स्व० श्री ओम प्रकाश प्रभाकर डिडवाना (राज०)	101	501—00
94.	श्री नरेश रामपाल नयोड़ा (उ०प्र०)	103	501—00
95.	श्री जगदीश जैलदार कराला, दिल्ली	132	501—00
96.	श्री सूरज भान राणा गाँव मुंगेशपुर, दिल्ली	133	501—00
97.	रिटायर्ड प्रिन्सिपल श्री रामफल कराला, दिल्ली	134	501—00
98.	श्री दयानन्द सुपुत्र श्री चौ० सूरत सिंह गुड़गाँवा	43	500—00
99.	गुप्त दान टांगरी साहिब अम्बाला शहर	126	500—00
100.	श्री ओम प्रकाश सुपुत्र श्री सरदार सिंह पूठकलां, दिल्ली	118	500—00
101.	गुप्त दान पच्छिम विहार, दिल्ली	10	500—00

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
102.	श्री बलराम सिंह कराला, दिल्ली	296	500—00
103.	श्री ओम प्रकाश कालिया, कुरुक्षेत्र	300	500—00
104.	श्री ऐच० सी० मदान इन्द्रनगर अ० शहर	311	500—00
105.	श्री हरप्रशाद, फरीदाबाद	329	500—00
106.	श्री अशवनी कुमार पंचकूला	308	400—00
107.	श्री सुरजीत नागपाल अ० शहर	309	400—00
108.	श्री मदन लाल शास्त्री अम्बाला शहर	303	300—00
109.	गुप्त दान डा० सुलतान सिंह अम्बाला शहर	69	301—00
110.	श्री जोगिन्द्र वर्मा अम्बाला शहर	66	251—00
111.	श्री पी० के० पुरी अम्बाला शहर	62	251—00
112.	गुप्त दान डा० सतपाल शर्मा अम्बाला शहर	35	251—00
113.	श्री के० के० अग्रवाल, इलाहाबाद (उ०प्र०)	339	251—00
114.	श्री रमेश चन्द्र सचदेवा, यमुनानगर	106	250—00
115.	श्री ज्ञान सिंह, यमुनानगर	107	250—00
116.	श्री कुलभूषण हरदोखानपुर (होशियारपुर), पंजाब	24	250—00
117.	श्री अतर सिंह कराला, दिल्ली	326	250—00
118.	प्रो० पी० एस० पठानिया अम्बाला शहर	74	205—00
119.	श्री चन्द्र सिंह निठारी, दिल्ली	18	202—00
120.	श्री बनवारी लाल गधौली चिट्टा मन्दिर (यमुनानगर)	27	201—00
121.	श्रीमती सुधा बंसल अम्बाला शहर	29	201—00
122.	श्री संजय सुपुत्र श्री मोहन लाल यमुनानगर	72	201—00
123.	श्री दुली चन्द भगत कराला, दिल्ली	135	201—00
124.	गुप्त दान कराला, दिल्ली	117	200—00
125.	स्वामी श्री गोबिन्दानन्द जी महाराज गाँव, अम्बोटा (ऊना, हि० प्र०)	293	200—00
126.	श्री एन० अपासवानी गिरिपुरम, तिरूपती (तामिलनाडू)	307	200—00
127.	श्री गिरधारी लाल सुपुत्र श्री डाल चन्द भगवानपुर (उ०प्र०)	333	151—00
128.	श्री नारायण दत्त शर्मा मंगेशपुर, दिल्ली	298	151—00
129.	श्री सुखवीर सिंह सुपुत्र श्री भूपन सिंह कराला, दिल्ली	122	102—00
130.	श्री रणजीत सिंह सुपुत्र श्री जोत राम मजरी—दिल्ली	349	102—00
131.	श्री जगराम त्यागी भगवानपुर (उ०प्र०)	331	101—00

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
132.	कुमारी सुवी सुपुत्री श्री बलराज एटाजुरासी (हरि०)	136	101—00
133.	श्री कृष्ण सुपुत्र श्री सुलतान सिंह कराला—दिल्ली	11	101—00
134.	श्री सुखबीर सिंह सुपुत्र श्री सूबे सिंह	12	101—00
135.	श्री कृष्ण कुमार वालिया अम्बाला शहर	30	101—00
136.	श्री धर्मवीर अम्बाला शहर	63	101—00
137.	श्री बलवन्त वर्मा अम्बाला शहर	64	101—00
138.	श्री जलदीप गांव निठारी, दिल्ली	116	101—00
139.	श्री सुरेश कुमार सुपुत्र श्री लखमी चन्द, कराला	19	101—00
140.	श्री रनवीर भगत शेखपुरा जिला सोनीपत	341	101—00
141.	श्री दरिया सिंह सुपुत्र श्री कंवर लाल कराला (दिल्ली)	348	101—00
142.	श्री मनोज कुमार सुपुत्र श्री किशन चन्द कराला (दिल्ली)	350	101—00
143.	श्री अनूप सिंह सुपुत्र श्री चूनी लाल मजरी—दिल्ली	1	101—00
144.	श्री श्रीभगवान् रामा विहार, दिल्ली	2	101—00
145.	श्री महेन्द्र सिंह शिखावत रामा विहार, दिल्ली	3	101—00
146.	श्री ज्ञान चन्द हल्वाई सुपुत्र पं० साधु राम कराला (दिल्ली)	4	101—00
147.	श्री रविदत्त सुपुत्र पं० रिसाल सिहं मुबारिकपुर, दिल्ली	7	100—00
148.	श्री आर० सी० मल्होत्रा कृष्ण नगर, दिल्ली	26	100—00
149.	श्री शिषपाल सुपुत्र श्री राम सिंह मजरी, दिल्ली	131	100—00
150.	श्री जगराम सिंह त्यागी गांव भगवानपुर (उ०प्र०)	314	100—00
151.	श्री राम चन्द्र शर्मा कलकत्ता	305	100—00
152.	श्री एम० पी० रंगवानी गांव उलहासनगर (महाराष्ट्र)	306	100—00
153.	श्री जोगेश बक्शी, मुम्बई (महाराष्ट्र)	323	100—00
154.	श्री शंकर लाल माथुर बीकानेर	342	100—00
155.	श्री जे० सी० शर्मा अम्बाला शहर	297	70—00
156.	श्री आर० एस० तिवारी, कोलकाता	335	70—00
157.	श्री एस० एल० सभरवाल, दिल्ली	320	52—00
158.	श्री नारायण दास गौड़ गांव मनूरी (उ०प्र०)	304	51—00
159.	श्री अरूण कुमार जयपुरिया गाँव सुनाबेदा (उड़ीसा)	324	51—00
160.	श्री सुरेश कुमार कौशिक गाँव डुन्डूखेड़ा (लक्ष्मी नगर) (उ०प्र०)	25	51—00

卐卐

क्र०	शुभ नाम	रसीद नं०	राशि (रू०)
161.	श्रीमति कान्ता शर्मा जी, भिलाई (छत्तीसगढ़)	137	1100—00
162.	श्री रवि कुमार मंगला, अम्बाला शहर	139	501—00
163.	श्री सुधीर कुमार गर्ग, सपुत्र श्री ज्ञान चन्द गर्ग अम्बाला शहर	140	501—00
164.	श्री बैजनाथ, दुर्गा नगर, अम्बाला कैंट	141	500—00
165.	श्री अनिल कुमार व श्री रवि कुमार, दिल्ली—६	138	500—00
166.	श्री बृज मोहन भाटिया रोहिणी, दिल्ली—६	315	50—00
167.	श्री वाई० डी० कुरूदगी वागीशनगर, (कर्नाटक)	337	50—00
168.	श्री एस० एम० पाटिल ओसमानाबाद (महाराष्ट्र)	322	45—00
169.	श्री एस० एन० मूरजानी नई दिल्ली	327	30—00
170.	श्री जगदीश प्रशाद गुप्ता कृष्णा नगर, दिल्ली	114	30—00
171.	श्री एन० सी० मोहन, पालमपुर (आंध्र प्रदेश)	325	25—00
172.	श्री एस० जी० सुखलातकर, मुम्बई	332	25—00
173.	डा० तरसेम चन्द गर्ग रिवाड़ी (हरि०)	334	25—00
(a)	पिछला बकाया (अंग्रेजी की धर्म पुस्तक छपने के बाद)		15827—00
(b)	ब्याज मार्च 2001 से सितम्बर, 2002 तक (पी० एन० बी० बैंक मॉडल टाऊन, अम्बाला शहर)		2996—00
	कुल योग :		222440—00
(c)	धर्म प्रेमियों को निःशुल्क धर्म ग्रन्थ डाक द्वारा प्रेषित करने का कुल खर्चा, (18 नवम्बर, 2000 से 20 जनवरी, 2003 तक)		—21117—00
	शेष :		201323—00

卐卐卐

छपाई का खर्चा

(आध्यात्मिक जीवन पद्यावली भाग–1 व भाग–2)

क्र.	विवरण	राशि (रु.)
1.	टाईटल डिज़ाईन (भाग–1 व भाग–2)	2000.00
2.	लेज़र टाईपसैटिंग (भाग–1 व भाग–2)	800.00
3.	डस्ट कवर के पौजे़टिव, दो–सैट (भाग–1 व भाग–2)	900.00
4.	105 पेजों के नये नैगेटिव (भाग–1 व भाग–2)	850.00
5.	4 रिम आर्ट पेपर, डस्ट कवर तथा फोटो के लिये (भाग–1 व भाग–2)	10,600.00
6.	135 (77+58) रिम, 18.6 किलो भार मैपलिथो पेपर @ 742 रु प्रति रिम (भाग–1 व भाग–2)	100170.00
7.	दिल्ली में 135 रिम पेपर का प्रैस तक ट्रांसपोर्टेशन	650.00
8.	गल्तियों की भाग–1 व भाग–2 के नैगेटिवों में पेस्टिंग	800.00
9.	2300 भाग–1 व 2100 भाग–2 धर्म ग्रन्थों की छपाई	11690.00
10.	पूज्य स्वामी जी के चित्र व डस्ट कवर की छपाई (भाग–1 व भाग–2)	6000.00
11.	टाईटल (डस्ट कवर) व फोटो की लैमीनेशन (भाग–1 व भाग–2)	3300.00
12.	2300 भाग–1 व 2100 भाग–2 धर्म ग्रन्थों की कलाथ बाईडिंग अस्तर का पेपर लगाकर (@ 11.50 रु. प्रति ग्रन्थ)	50,600.00
13.	दो पेज भाग–1 व एक पेज भाग–2 की अलग से छपाई व पेपर	600.00
	कुल खर्चा :	188960.00
—	दान दाताओं से प्राप्त कुल धन राशि (धर्म प्रेमियों को निःशुल्क धर्म ग्रन्थ डाक द्वारा प्रेषित करने का खर्चा निकाल कर)	201323.00
	शेष : 201323 - 188960 =	12363.00

नोट : श्री एस० आर० बतरा प्रो० बतरा टैम्पू ट्रांसपोर्ट सर्विस नारायना, दिल्ली–28 ने दिल्ली से अम्बाला शहर तक भाग–1 व भाग–2 धर्म ग्रन्थों [redacted] के ट्रांसपोर्टेशन की निःशुल्क सेवा की।



शुभ गुण किसी का जो, दृष्टि में समाये,
निज में हर्षा कर उसको मन में बसाये।
ईर्षा जाये, द्वेष छूटे, टूटे अभिमान;
अल्पता का भाव छूटे, ब्रह्म में प्रयाण॥ । ७० ।

किसी का अपराध भी न मन में बसाये,
तासे क्रोध क्षोभ मिथ्या कर्म कराये।
करुणा का संग राखे पर शोधन का भाव;
शम सुख सहित देखे विद्या का प्रभाव॥ । २७२ ।

मन को पवित्र पूरा कर ले, इतना तर्क जगाये,
फिर देखे जग राखन खातिर को तेरी चाह रखाये।
ऐसा हुये पै कौन समाधि विघ्न करन को आये;
'मैं' तेरी जो रही न जग में, सहज समाधि सुहाये॥
। १२३ ।

आगे-आगे भागते का पाछा गया खोय,
आशा का आगा न मिला पाछे को भी रोय।
आगा पाछा दोनों खोके पड़ा मंझधार;
धर्म की नाव बिना, हो कैसे बेड़ा पार ? । १६८ ।

चलते का है रास्ता, करते को ही काम।
हिम्मत से ही सिरे चढ़े, परिश्रम बने इनाम॥
। १९८ ।

–आध्यात्मिक जीवन पद्यावली